राजभाषा के संदर्भ में
हिन्दी-आंदोलन का इतिहास

राजभाषा के संदर्भ में हिन्दी-आंदोलन का इतिहास

डा० उदय नारायण दुबे

प्रकाशन संस्थान

प्रकाशक :
प्रकाशन संस्थान,
216, श्रीरामनगर, शाहदरा,
दिल्ली-110032

प्रथम संस्करण · 1979

मूल्य : 45.00
आवरण : करुणा निधान

मुद्रक :
शब्दशिल्पी द्वारा प्रगति प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 में मुद्रित.

हिंदी की उत्पत्ति और विकासकालीन परिस्थितियो का मूल्यांकन करते हुए उसके स्वरूप और महत्व पर प्रकाश डाला है, तो 'भारत की भाषाए और भाषा सबधी समस्याए' म भारतीय भाषाओ की भाषावैज्ञानिक विवेचना के साथ हिंदी की कुछ वास्तविक और कुछ कल्पित समस्याओ एव उनके समाधान की रूप-रेखा दी है। लेकिन 'परिशिष्ट' मे जब वे देवनागरी के समक्ष रोमन लिपि की एकतरफा वकालत करते दिखाई पडते है, तो उनकी तटस्थता सदिग्ध-सी हो उठती है।

डा० देवेन्द्रनाथ शर्मा की 'राष्ट्रभाषा हिंदी समस्याए और समाधान' मे राजभाषा के स्थान पर राष्ट्रभाषा की समस्या और उसके समाधान के विविध पहलुओ पर विचार किया गया है। किंतु इस महत्वपूर्ण पुस्तक मे हिंदी और देवनागिरी के विरोध मे प्रस्तुत किए गए तर्कों के खडन एव अग्रेजी व रोमन क हिमायतियो को दिए गए मुहतोड उत्तर मे अच्छी सतर्कता बरती गयी है।

हा, 'भाषा' और 'राष्ट्रभाषा की समस्या मे क्रमश डा० लोहिया और डा० रामविलास शर्मा ने वर्तमान भाषा-समस्या को मूल स पकडने की कोशिश की है और उसके प्रति भारतीय जनता को सचेष्ट किया है। किंतु इनकी भी सीमा, समस्या और समाधान ही है। विशेष रूप से डा० लोहिया की स्थापना और भावी कार्यक्रमो मे राजनीति की गध मिलती है।

आचार्य चन्द्रवली पाडे की 'कचहरी की भाषा और लिपि' तथा 'बिहार मे हिंदुस्तानी' जैसी बुलेटनो मे जहा हिंदी की स्थिति, हिंदी-उर्दू के अतर्द्वन्द्व आदि पर प्रकाश डाला गया है, वहीं 'राष्ट्रभाषा से सम्बधित उनके विचार साम्प्रदायिकता के पुट से पुष्ट नजर आते हैं।

'राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी' मे राष्ट्रभाषा और राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी से सबधित गाधी जी की व्यापक और सवथा निष्पक्ष भावनाओ की झलक मिलती है तो डा० रामधारी सिंह 'दिनकर' कृत 'राष्ट्रभाषा-आदोलन और गाधी जी' मे राजभाषा आदोलन के सदर्भ मे गाधी जी के योगदान की चर्चा मात्र है।

'हिंदी, उर्दू हिंदुस्तानी' मे प० पद्मसिंह शर्मा ने इन तीनो की उत्पत्ति, पारस्परिक सम्बन्ध, विकास आदि की यथार्थ पृष्ठभूमि पर समालोचना प्रस्तुत की है, तो डा० सितिकठ मिश्र का शोधप्रबन्ध 'खडी बोली का आदोलन' साहित्यिक क्षेत्र म खडी बोली आदोलन की विवेचना के उद्देश्य से अनुप्राणित है।

'दक्षिण भारत के हिंदी-प्रचार आदोलन का समीक्षात्मक इतिहास' मे श्री पी० के० केशवन नायर जहा मात्र दक्षिण भारत मे हिंदी-प्रचार की गति प्रगति आदि का लेखा जोखा लगाने मे व्यस्त हैं वहीं 'भारतीय नेताओं की हिंदी सेवा' मे प्रबध लेखिका डा० ज्ञानवती दरबार ने अर्धशताधिक सामाजिक व धार्मिक, साहित्यिक एव राजनीतिक नेताओ की हिंदी सेवा पर प्रकाश डाला है।

हा, इस सदर्भ मे जो सबस उल्लेखनीय ग्रथ है, वह है डा० रामविलास शर्मा

या 'भाषा और समाज' जिसमे विद्वान् लेखक ने मुख्यत भारतीय आर्य भाषाओ की उत्पत्ति, विकास एव महत्व आदि पर मौलिक ढग मे विचार किया है और राजभाषा हिंदी की समस्या के तल तक पहुच कर उसमे निहित जटिलता और अतर्विरोध की व्याख्या भी की है। किंतु राजभाषा हिंदी के सर्वांगीण विकास और विकल्प मे प्रस्तुत हुई राजभाषाओ की स्थिति तथा राजभाषा हिंदी के सदर्भ म किये गये विविध आदोलनो के क्रमबद्ध इतिहास की जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासाओ का समाधान इसके द्वारा भी नही हो पाता।

विचार करने या परस्पर विचार-विनिमय के माध्यमो मे भाषा का सर्वोपरि स्थान है और साहित्यिक भाषा, राष्ट्रभाषा, राजभाषा आदि भाषा के विविध रूपों के द्योतक हैं। कोई भी जनभाषा अर्थात् लोकभाषा साहित्य के माध्यम के रूप मे प्रयुक्त होने पर साहित्यिक भाषा का रूप धारण करती है। इस प्रकार किसी भी साहित्यिक भाषा की बुनियाद कोई-न-कोई लोकभाषा ही होनी है, साहित्यिक भाषा नहीं। ग्रियर्सन से लेकर आजतक की ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की परपरा इसे स्वीकार करती है, किंतु भारतीय आर्यभाषाओ की उत्पत्ति के सदर्भ मे सभी भाषाशास्त्री पूर्ववर्ती साहित्यिक भाषा से परवर्ती साहित्यिक भाषा का विकास मानने की भूल कर बैठते हैं। वे सस्कृत मे प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रश एव अपभ्रश से नव्य भारतीय आर्य भाषाओ की उत्पत्ति मानते चले आ रहे हैं। प्रस्तुत शोध प्रबध मे मध्यदेशीय भाषाओ की राजभाषा परपरा की पृष्ठभूमि में इस मान्यता का सतर्क खडन किया गया है साथ ही भारतीय आर्य भाषाओं की उत्पत्ति पूर्ववर्ती साहित्यिक भाषाओ से नहीं बल्कि उनके समानान्तर गतिशील लोकभाषाओ से सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है।

किसी भी देश अथवा राष्ट्र मे बहुसख्यक जनता द्वारा व्यवहृत अखिल देशीय सम्पर्क भाषा को राष्ट्रभाषा और शासक अथवा शासन प्रबन्ध की भाषा को राजभाषा की सज्ञा नि सकोच दी जा सकती है। यह कथन प्राय सभी भाषा पडितो की मान्यताओ म सपुष्ट है। साथ ही यह भी सत्य है कि किसी भी स्वाधीन देश अथवा राष्ट्र मे अखिलदेशीय सपर्क भाषा (राष्ट्रभाषा) ही राजभाषा के पद पर आसीन रहती है और उस स्थिति मे एक ही भाषा राष्ट्रभाषा और राजभाषा दोनो के दायित्व का निर्वाह करती है। प्राचीन भारत मे सस्कृत, पालि, शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रश को एक ही साथ अखिलदेशीय सपर्क भाषा और राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित होने का यही रहस्य है (विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य दूसरा अध्याय)। फिर भी राष्ट्रभाषा और राजभाषा के अतर को भुलाया नही जा सकता। यह अतर तब और स्पष्ट होता है, जब इस देश पर दीर्घकाल तक मुसलमानो एव अग्रेजो का शासन चलता है। मुस्लिम शासन म साथ सदियो स चली आती हुई मध्यदेशीय भाषाओ की राजभाषा परपरा खडित हो जाती है

और फारसी जैसी विदेशी भाषा राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित की जाती है। इस प्रकार अपभ्रंश के बाद हिंदी को अपने न्यायोचित अधिकार से वंचित रह जाना पडता है। अंग्रेजो के शासन काल मे अंग्रेजी राजभाषा बनायी जाती है और खोई सत्ता हिंदी को पुन उपलब्ध नही होती। किंतु मुस्लिम एवं ब्रिटिश शासन के मध्य भी मध्यदेशीय भाषाओ की राष्ट्रभाषा परपरा अनवरत गति से विकासमान दिखाई पडती है।

इस प्रकार पराधीन भारत मे शताब्दियो तक अखिल देशीय सपर्क भाषा के क्षेत्र म हिंदी का न तो किसी भाषा के साथ विरोध रहा है और न इस रूप मे हिंदी को लेकर कोई उल्लेखनीय सघर्ष अथवा आदोलन ही चला है। हा, अखिलदेशीय सपर्क भाषा के साथ हिंदी को राजभाषा का पद भी मिलना चाहिए था, जैसा कि उसकी पूर्वजाओ को मिला था। किंतु विदेशी शासको द्वारा पहले फारसी और बाद म अंग्रेजी को राजभाषा बनाया गया और हिंदी का न्यायोचित अधिकार छीना गया। इसलिए राजभाषा के सदर्भ म समय समय पर हिंदी-आदोलन होते रहे, जिनका होना स्वाभाविक था। परतु इस प्रकार के आदोलन को 'राष्ट्रभाषा-आदोलन' या 'राष्ट्रभाषा हिंदी का आदोलन' की सज्ञा दी गई है, जिसके साथ वैज्ञानिकता का नाता जोडने मे सकोच होता है। प्रस्तुत शोध प्रबध के स्वाधीनता सघर्ष और निज भाषा का आदोलन' नामक अध्याय की पृष्ठभूमि मे इन तथ्यो की विस्तृत समीक्षा की गई है और राजभाषा तथा राष्ट्रभाषा के सदर्भ मे वैज्ञानिक दृष्टि से इन्हे देखा और परखा गया है। कहना न होगा, कि इस प्रकार की नूतन दृष्टि एव समीक्षा ही इस शोध प्रबध की आत्मा है, और इसके नामकरण का आधार भी।

राजभाषा से सामान्यत दो अर्थों की प्रतीति होती है, पहला राजा या शासक की भाषा और दूसरा शासन अथवा राजकाज की भाषा। ऊपर से देखने पर दोनो मे कोई अतर दिखाई नही पडता, किंतु यदि गहराई से विचार किया जाय तो पहले की अपेक्षा दूसरा सही अर्थ व्यजित करेगा। 'डेमोक्रेसी' के हिंदी रूपातर के रूप मे प्रयुक्त 'प्रजातत्र' की अपेक्षा जनतत्र' से जिस अर्थवत्ता का बोध होता है, कुछ वैसी ही गत्यात्मकता राजभाषा के दूसरे अर्थ मे सन्निहित है। यदि स्वतत्रता पूर्व भारत का इतिहास देखा जाय, तो ज्ञात होगा कि चिरकाल स भारत मे राजतत्र चलता रहा है और उससे अनुमोदित यहा की सामाजिक व्यवस्था ऐसी रही है, जिसमे स्पष्टत दो वर्ग होते रहे हैं—एक राज परिवार या शासक वर्ग, दूसरा उसकी प्रजा या शासित वर्ग। किंतु स्वाधीनता के बाद जनतात्रिक प्रणाली के साथ प्रथम वर्ग का अस्तित्व समाप्त हुआ और द्वितीय वर्ग ने स्वाधीनता की सास ली। देश की बागडोर देश की जनता के हाथ मे आई। इसलिए प्रजातत्र नही, जनतत्र

सही और सच्चा साबित हुआ, राज्य नहीं प्रदेश कहना उचित समझा जाने लगा, क्योंकि इनसे राजतंत्र की ही बू आती रही। बदलते हुए इस राजनीतिक मानदंड के साथ राजभाषा का द्वितीय अर्थ अधिक समयोपयोगी सिद्ध हुआ। अतः इस शोध प्रबंध में स्वतंत्रता के पहले जहां कहीं भी राजभाषा का प्रयोग हुआ है वहां उसके प्रथम यानी रूढ़िगत अर्थ से मतलब है और जहां स्वतंत्रता के बाद की स्थितियों के बीच इसकी चर्चा की गई है, वहां इसके प्रगतिशील अर्थ का योग है।

प्रस्तुत शोधप्रबंध के अध्याय एक में राष्ट्रभाषा और राजभाषा की सैद्धांतिक समीक्षा के साथ उनके पारस्परिक संबंध, अंतर आदि की व्याख्या उल्लेखनीय है, तो अध्याय दो में संस्कृत से लेकर अपभ्रंश तक की अखंड राष्ट्रभाषा-राजभाषा परंपरा की विस्तृत विवेचना। किंतु अंतर यह है कि राजभाषा की सैद्धांतिक समीक्षा में जहां राजभाषा संबंधी दोनों अर्थों की समानरूप से अन्विति है, वहीं अखंड राजभाषा-परंपरा राजभाषा के रूढ़िगत अर्थ से अनुप्राणित है। हिंदी की व्यापकता के साथ अध्याय तीन में राजभाषा फारसी के जिस आधिपत्य की चर्चा चली है, वह भी राजभाषा के इसी रूढ़िगत अर्थ का प्रतिपादन करता है, साथ ही अगले अध्याय 'उन्नीसवीं शताब्दी कंपनी की भाषा नीति और हिंदी' में विवेचित सामग्री और निचली अदालतों में हिंदी-उर्दू-विवाद आदि के द्वारा भी इसी परम्परागत अर्थ की ओर संकेत है। अध्याय पांच में ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसोफिकल सोसाइटी, अखिल भारतीय कांग्रेस, भारतेन्दु मंडल, सरस्वती, नागरी प्रचारिणी सभा, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, दक्षिण भारत राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा आदि विविध सामाजिक और धार्मिक तथा राजनीतिक एवं साहित्यिक संस्थाओं के योगदान के साथ-साथ जिस हिंदी-आंदोलन की व्यापक विवेचना हुई है, उसका प्रमुख प्रतिद्वंद्वी (राजभाषा अंग्रेजी का) पक्ष राजभाषा के रूढ़िगत अर्थ का जीता जागता नमूना है, जबकि इस आंदोलन का उद्देश्य प्रगतिशील अर्थ में राजभाषा हिंदी की स्थापना करना रहा है। अंतिम अध्याय के बीच चाहे संविधान सभा के मध्य राजभाषा का प्रश्न रहा हो, चाहे भारतीय संविधान में राजभाषा संबंधी औसत से अधिक लंबे-चौड़े अनुच्छेदों एवं धाराओं के अंकन का अवसर अथवा संशोधन विधेयक की कहानी कहने का मौका, हर जगह इसी प्रगतिशील अर्थ की झांकी दिखाई पड़ती है। यद्यपि यह भी सत्य है कि स्वार्थपरता के परदे से हमेशा इसे छिपाने की कोशिश होती रही है, जिसकी सशक्त प्रतिक्रिया सन् 1967 में हिंदी के व्यापक आंदोलन के रूप में प्रकट हुई। और यह भी सत्य है कि इस आंदोलन की क्रमबद्ध जीवंत कहानी की अंतिम मंजिल ही प्रस्तुत शोध-प्रबंध के अवसान की सूचक है।

आभार काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष एवं प्रोफेसर

भाषा और राजभाषा

भाषा की व्यापकता और उसका महत्व

आचार्य दण्डी का कथन है कि "यह संपूर्ण त्रयलोक्य सघन अंधकार में निमग्न हो जाता, यदि सृष्टि के आरंभ से शब्द ज्योति (भाषा) का प्रकाशन न हुआ होता।"[1] वस्तुतः मानव-जीवन के लिए भाषा का असाधारण महत्व है। "वह हमारे मन का परिधान या लिबास है। उसके माध्यम से हम अपने विचारों, आदर्शों, सत्य-मिथ्या के भावों तथा अपनी भावनाओं एवं अनुभूतियों को सरलतापूर्वक व्यक्त कर एक दूसरे के मन में ग्रहण करते हैं।"[2]

भाषा ही एक मात्र वह साधन है जो पशुओं से मनुष्य को अलग करती है, प्राणियों का शिरोमणि बनाती है और मानवता की दीक्षा देती है। किंतु मनुष्य के साथ अभिन्न संबंध होने के कारण हम इसे सांस लेने के समान सहज रूप में स्वीकार कर लेते हैं और सामान्यतः इसकी महत्ता की ओर हमारा ध्यान नहीं जा पाता। पर, वास्तविकता यह है कि ज्ञान, विज्ञान, कला, साहित्य, दर्शन-शास्त्र आदि की शाखाओं-प्रशाखाओं के रूप में मनुष्य आज तक जो कुछ भी प्राप्त कर सका है उन समस्त उपलब्धियों का एक मात्र आधार भाषा ही है। इसी के सहारे दया, करुणा, प्रेम, सहानुभूति, सहिष्णुता आदि मनुष्य की उदात्त भावनाएं विकसित हुई हैं। इतना ही नहीं, संसार की सभी विद्याएं, कलाएं तथा शिल्प शब्द शक्ति से संबद्ध हैं। समस्त वस्तुओं का विभाजन तथा विवेचन भी उसी से आश्रित है।[3] तभी तो पाश्चात्य विद्वान मैक्समूलर ने भाषा की महत्ता इन शब्दों में व्यक्त की है—"यदि यह प्रकृति की उपज हो तो अवश्य ही यह प्रकृति की अंतिम और सर्वश्रेष्ठ रचना है और यह रचना प्रकृति ने केवल मनुष्य के लिए सुरक्षित कर रखी थी। यदि यह मानवीय कला की कृति हो तो लगा

मालूम होता है कि यह कला मानव को दिव्य सिरजन हार के प्राय बराबरी का कर देगी। यदि यह परमात्मा की देन हो तो यह भगवान् की सबसे बड़ी देन है।"[4]

आज से हजारों वर्ष पूर्व हमारे वैदिक महर्षियों ने भी भाषा की महत्ता को सहस्रमुखी कोटि का बतलाया है। उन्हें वाक् शक्ति में ब्रह्म जैसी व्यापकता दिखाई पड़ती है।[5] वाक्-सूक्त के अंतर्गत वाक् ने भी अपने को समस्त तत्वों का धारक कहा है

'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यै रतविश्वदेवैं ।
अहं मित्रावरुणोभाविमर्म्यमिन्द्राग्नी अहमश्विनौमा ॥ [6]

'अथर्ववेद' के अनुसार संपूर्ण ब्रह्माण्ड वाक् तत्व से परिव्याप्त है। वही विश्व रूप है सर्व रूप है और ब्रह्म रूप है।[7] 'शतपथब्राह्मण' वाक् तत्व को समस्त ज्ञानों का विराट् रूप बतलाता है तो 'ऐतरेय' उसे साक्षात् सरस्वती की संज्ञा देता है।[8]

आचार्य भर्तृहरि ने वाक् तत्व की विस्तृत व्याख्या अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वाक्यपदीय' में की है। यद्यपि आज उनकी भाषा विषयक संपूर्ण मान्यताएं शुद्धता की कसौटी पर नहीं कसी जा सकती, फिर भी आज के भाषाशास्त्रियों को उस महान् भाषा वैज्ञानिक की मान्यताओं का मुखापेक्षी होना ही पड़ता है। वाक्यपदीयकार का मत है कि संसार का सारा लौकिक व्यवहार वाक्-शक्ति द्वारा ही चल रहा है। वाक्-शक्ति ही प्राणियों को कार्य में लगाती है। यदि वाक्-शक्ति न होती तो समस्त संसार काष्ठ और भित्ति तुल्य दिखायी पड़ता।[9] मानव विवेक का एकमात्र आधार भाषा ही है। लौकिक कर्तव्य-बोध का ज्ञान भाषाश्रित है। संसार में कोई ऐसा प्रत्यय नहीं, जो भाषा की अनुपस्थिति में संभव हो। समस्त ज्ञान भाषा से अनुविद्ध और उसी से प्रकाशित है।[10] छान्दोग्योपनिषद् में महर्षि सनतकुमार का कथन है कि यदि सृष्टि में वाक् शक्ति का प्रादुर्भाव न हुआ होता, तो धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, उचित-अनुचित, सहृदय-असहृदय, चितज्ञ-अचितज्ञ की पहचान, निराकरण, विवेचन तथा व्यवस्था न हो पाती। जो ब्रह्म रूप वाणी की उपासना करता है, शक्ति और सिद्धि उसी की अनुगामिनी होती है।"[11]

यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि मनुष्य का संपूर्ण व्यक्तित्व जितना भाषा द्वारा निर्मित होता है, उतना किसी दूसरे तत्व द्वारा नहीं। किसी भी व्यक्ति की आत्म शक्ति, दृढ़ता, निर्बलता, विश्वास, धैर्य, क्षमा आदि का ज्ञान उसकी वाणी द्वारा ही विशेष रूप से हो पाता है। जाग्रतावस्था में होने वाले मनुष्य के संपूर्ण कार्य तो भाषा के द्वारा संपन्न होते ही हैं, साथ ही स्वप्नावस्था में भी जो कुछ कार्य व्यापार चलता रहता है, उसमें वाक् शक्ति ही

महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इस प्रसग मे आचार्य भर्तृहरि की निम्नलिखित उक्ति द्रष्टव्य है

"सैंदा ससारिणा सज्ञा वहिरतश्च वर्तते ।
तन्मात्रा मततिशान्त चैतन्य सर्वजन्तुषु ॥' वाक्य० 1-126।

(शब्द शक्ति ही समस्त प्राणियो मे चैतन्य रूप से वर्तमान है और इसकी सत्ता बाह्य एव आभ्यातर दोनों जगह है।)

इस प्रकार भाषा यदि बाह्य जगत् म लोक व्यवहार का साधन है, तो अतर्जगत म वह सुखादि के ज्ञान स्वरूप प्रतिष्ठित है। यह स्वत सोचने व विचार करन का भी साधन है और विचार-विनिमय का भी। भाषा के द्वारा ही समस्त भावो एव विचारा का विश्लेषण एव उनकी अभिव्यक्ति की जाती है, समाख्येय और असमाख्येय सभी अर्थों का निरूपण किया जाता है। इसी की सहायता से मनुष्य अपने सभी पुरुषार्थों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) का उपार्जन करता है। इमी के सूत्र मे ही वह अपने समस्त सबधो के स्थापन एव सरक्षण तथा मानवीय गुणा के ग्रहण म समर्थ होता है। ससार को एक सूत्र मे बाधने की, परस्पर सहयोग की तथा विश्वबधुत्व की भावना जगाने की क्षमता एकमात्र भाषा मे ही है।[12] यह मनुष्य की समस्त उपलब्धियो उसके विकास तथा उसकी सभ्यता एव संस्कृति की आधारशिला है, साथ ही समस्त उपलब्धियो मे सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि भी है। सृष्टि म यह अनुपमेय है और इसका विकल्प अलभ्य है।

भाषा और उसके लक्षण

भाषा को आत्मा और बुद्धि से समन्वित मन तथा इन्द्रियो का व्यापार कहा गया है। सामान्य वस्तुओ की तुलना म उसका स्वर कही अधिक सूक्ष्म है। इसलिए भाषा की परिभाषा देते समय अति व्याप्ति अथवा अव्याप्ति दोष से पूर्ण मुक्त होना कठिन व असभव दोना के मिलन बिंदु का परिचायक है। एक दोष स मुक्ति पान के लिए किया गया प्रयास दूसर दोष की सीमा मे प्रवेश कर जाता है। यदि विद्वाना के द्वारा दी गई भाषा सबधी परिभाषाओं की समीक्षा की जाय, तो उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता मे कोई कोर-कसर नही रहेगी। इतना ही नहीं, कुछ विद्वानो ने तो भाषा की एक व्यापक और एक भाषा वैज्ञानिक दो-दो परिभाषाए एक ही साथ दी है।[13] इस व्यापक परिभाषा के अन्तर्गत वे विचार सपर्क की समस्त प्रणालियो (नेत्रग्राह्य, श्रोत्रग्राह्य, स्पर्शग्राह्य या साकेतिक, वाचिक, लिखित एव यात्रिक) का भाषा मे ही समावेश कर जाते है। कुछ विद्वानो के अनुसार पशु-पक्षियो की ध्वनिया भी भाषा-सीमा मे आती हैं, तो कुछ लोग पर्वत, झरना, फूल-पत्तिया, न जाने किस किस की भाषा सुना

करते है। भाषा वैज्ञानिक परिभाषा के अतर्गत मानव के उच्चारण-अवयवों से उच्चरित ध्वनियो को स्थान दिया गया है, यद्यपि इनकी भी सर्वांग शुद्ध स्थिति नहीं है।

पाश्चात्य विद्वानों में वाद्रिय,[14] स्वीट,[15] ब्लाक तथा ट्रेगर,[16] एव स्तुर्तेवा,[17] प्रभृति विद्वानो के द्वारा दी गयी परिभाषाओ का विशेष महत्व है, तो भारतीय विद्वानों में महर्षि पाणिनि, डा० श्यामसुन्दर दास, आचार्य किशोरदास वाजपेयी, श्री सुकुमार सेन, डा० मगलदेव शास्त्री आदि की परिभाषाएं द्रष्टव्य हैं

"व्यक्तवाचा सम्युच्चारणे"[18] अर्थात् सम्यक् प्रकार से उच्चरित व्यक्त वाणी ही भाषा है।

"मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिये व्यक्त ध्वनि-सकेतो का जो व्यवहार होता है उसे भाषा कहते हैं।"[19]

"विभिन्न अर्थों में साकेतिक शब्द समूह ही भाषा है जिसके द्वारा हम अपने मनोभाव दूसरो के प्रति सरलता से प्रकट करते हैं।"[20]

"अर्थवान कण्ठोद्‌गीर्ण ध्वनि-समष्टि ही भाषा है।"[21]

—सुकुमार सेन।

'भाषा मनुष्यों की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चारण किये गये वर्णात्मक या व्यक्त शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।'[22]

मान्य विद्वानो की उपर्युक्त परिभाषाओं का भलीभांति अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि इनमे किसी एक को भी पूर्ण वैज्ञानिक कहना नामुमकिन है। फिर भी थोड़े शब्दों में महर्षि पाणिनि ने जो कुछ कहा है, वह पर्याप्त वैज्ञानिक एव स्तुत्य है। या तो किसी भी परिभाषा में भाषा के समूचे लक्षण को पाना सभव नहीं, फिर भी यदि सभी परिभाषाओं के सार अंश को लिया जाय तो भाषा के निम्नलिखित लक्षण ठहरते है

(1) भाषा विचार-सपर्क का साधन है।

(2) यह निश्चित मनोवैज्ञानिक प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य के उच्चारण-अवयवों से नि सृत सार्थक ध्वनि समष्टि है।

(3) ये ध्वनि-समष्टियां या दृच्छिक एव अध्ययन-विश्लेषणीय होती है।

(4) इन ध्वनि-समष्टियों की अपनी एक व्यवस्था होती है।

1. भाषा विचार-सम्पर्क का साधन इस कथन का तात्पर्य यह है कि भाषा के द्वारा एक समाज के लोग आपसमे विचार-विनिमय अर्थात् विचारो एव भावो का आदान-प्रदान करते है। किंतु भाषा विचार विनिमय के साथ स्वत

विचार करने का भी साधन है।[23] डा० बाबूराम सक्सेना ने इसका स्पष्टीकरण इन शब्दों में किया है

"भाषा विचार करने का भी साधन है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि यदि कोई भी विचार करने बैठे तो भाषा की मदद के बिना नहीं कर सकते। जिसको संदेह हो वह प्रयत्न करके देख ले।"[24] इसीलिए भाषा को विचार जैसी मानसिक वस्तु का व्यक्त स्वरूप और भावरूपी आत्मा का शरीर कहा गया है।

2 **भाषा निश्चित मनोवैज्ञानिक प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य के उच्चारण अवयवों से उच्चरित सार्थक ध्वनि समष्टि है**· इस कथन के द्वारा भाषा की तीन महत्वपूर्ण विशेषताएं प्रकाशित होती हैं प्रथम, यह कि भाषा सार्थक ध्वनि समष्टि है द्वितीय, यह कि यह ध्वनि समष्टि मनुष्य के उच्चारणोपयोगी-अवयवों से नि सृत होती है। और तृतीय यह कि यह निश्चित मनोवैज्ञानिक प्रयत्न के फलस्वरूप नि सृत होती है।

'ध्वनि-समष्टि' का तात्पर्य यह है कि इंगित लिपि आदि विचार-संपर्क के उन साधनों को, जो ध्वनि शून्य हैं अर्थात् जिनमें ध्वनि संकेतों का व्यवहार नहीं होता, भाषा-सीमा में प्रविष्ट नहीं किया जा सकता। 'ध्वनि-समष्टि' के साथ लगा हुआ 'सार्थक' विशेषण यह सूचना देता है कि भाषा के अंतर्गत केवल सार्थक ध्वनियां ही आ सकती हैं, निरर्थक नहीं।

ध्वनियों का मनुष्य के उच्चारण-अवयवों से नि सृत होना, भाषा की वह विशेषता है जो उसे एक ओर विचार-संपर्क के साधन स्वरूप अन्य प्रकार की सार्थक ध्वनियों (जैसे चुटकी बजाना, ताली बजाना, मेज थपथपाना आदि) से पृथक् करती है और दूसरी ओर पशु-पक्षियों के मुख से निकली हुई स्वर लहरियों को भाषा की परिधि से बाहर रखती है।

भाषा में प्रयुक्त ध्वनियां निश्चित मनोवैज्ञानिक प्रयत्न के फलस्वरूप नि सृत होती हैं, इस कथन का आशय यह है कि भाषा का सिर्फ शरीर-विज्ञान अथवा भौतिक शास्त्र से ही संबंध नहीं है, बल्कि मनोविज्ञान का भी इससे गहरा संबंध है। ध्वनियों का वक्ता के उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से नि सृत होना, वायु के माध्यम से श्रोता के श्रवण तक पहुंचना और श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाना आदि क्रियाएं जहां भाषा के भौतिक आधार का प्रतिपादन करती हैं, वहीं वक्ता के मस्तिष्क में विचारों का उदय होना, तदनुरूप शब्द बिंब का बनना तथा श्रोता के श्रवणेन्द्रिय द्वारा गृहीत ध्वनियों के अनुरूप उसके मस्तिष्क में ध्वनिक बिंब का निर्माण पुन उसका विचारों में बदलना आदि क्रियाएं भाषा के मानसिक पक्ष का उद्घाटन करती हैं। तात्पर्य यह कि भाषा का आंतरिक संबंध मानव-मन से है। एक ही शब्द विभिन्न मन

स्थितियो मे भिन्न-भिन्न अर्थों का द्योतक होता है। अत भाषा के पूर्ण वैशिष्ट्य को रेकार्डों म बन्द ध्वनियो मे नही देखा जा सकता।

3 **भाषा मे प्रयुक्त ध्वनि समष्टियां यादृच्छिक एवं अध्ययन विश्लेषणीय होती हैं** यहा पर अध्ययन विश्लेषणीय का अर्थ उन ध्वनि समष्टियो से है जिनका अध्ययन द्वारा विश्लेषण किया जा सके और जिनकी सहायता स नय शब्दो का निर्माण हो सके। मनुष्य के उच्चारण-अवयव द्वारा ऐसी बहुत-सी ध्वनिया निकलती है जिनकी सार्थकता बडी उच्च कोटि की होती है, जैसे हसी, रोदन, चुम्बन आदि से उत्पन्न ध्वनियां या सहानुभूति अथवा करुणा सूचक च् च् च् आदि। इन ध्वनियो की सार्थकता असदिग्ध है, किन्तु इनका अध्ययन एव विश्लेषण तथा इनके आधार पर नये शब्दो की सृष्टि सभव नही अत इन्हे भाषा के अन्तर्गत नही लिया जा सकता।

'यादृच्छिकता' भाषा का वह गुण है जो यह सूचित करता है कि भाषा मे प्रयुक्त सार्थक ध्वनि समष्टियो (शब्दो) का भावो या विचारो से कोई सहजात सबध नही होता। यह सबध 'यादृच्छिक' अर्थात् 'माना हुआ' होता है। पशु-विशेष को हम 'गाय' कहते हैं, किंतु यदि तर्क की कसौटी पर कसा जाय तो ज्ञात होगा कि गाय शब्द के द्वारा जिस पशु विशेप का बोध होता है उसका जो हम अर्थ लेते हैं उसमे और ग्+आ+य्+अ' ध्वनियो मे कोई शाश्वत अथवा नैसर्गिक सबध नही है। यदि कोई नियत-सबध होता, तो प्रत्येक भाषा मे इस जानवर-विशेष को 'गाय ही कहा जाता, हिन्दी मे 'गाय' सस्कृत मे 'गौ तमिल मे 'पशु' और अग्रेजी मे 'काऊ' कहने की कोई आवश्यकता न होती। वस्तुत शब्द और अर्थ का यह सबध परपरानुमोदित और रूढ होता है, देश काल सापेक्ष होता है। जब हम यह कहते हैं कि शब्द और अर्थ का नित्य और अटूट सबध है, तब इस कथन से मात्र प्रयोजन यह है कि 'प्रत्येक शब्द का कुछ-न-कुछ अर्थ है, चाहे यहा चाहे अन्यत्र, चाहे आजकल, चाहे किसी और समय मे।'[25]

4 **भाषा मे एक व्यवस्था (System) होती है** इस पर प्राय भाषा की सभी परिभाषाओं म काफी जोर दिया गया है। इस कथन का आशय यह है कि प्रत्येक भाषा मे प्रयुक्त ध्वनिया व्यवस्थित एव क्रमबद्ध होती हैं। इन ध्वनियो की क्रमबद्धता के आधार पर ही भाषा-विशेष का गठन, उसकी स्वाभाविकता, रूप रचना, वाक्य-रचना, शब्दार्थ, निर्णय आदि निर्भर रहत हैं। व्यवस्था की इसी आधारशिला पर ससार की भाषाओ का वर्गीकरण एव विवेचन किया जाता है। ध्वनियों की व्यवस्था पर इतना बल देने का यही रहस्य है।

साराश यह है कि भाषा, निश्चित मनोवैज्ञानिक प्रयत्न के फलस्वरूप

मनुष्य के उच्चारण-अवयवो से निःसृत, अध्ययन विश्लेषणीय, यादृच्छिक, व्यक्त ध्वनि-संकेतों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा एक समाज के लोग परस्पर विचार-संपर्क एवं चिंतन-मनन करते है।

भाषा के विविध रूप

"भाषा मनुष्य की सतत वर्द्धमान परंपरागत संपत्ति है। यह संपत्ति अन्य संपत्ति की भांति एकाधिकार की वस्तु नहीं होती, वरन् उस पर सार्वजनिक अधिकार रहता है। भाषा के अमित भंडार पर सब भाषा-भाषियों का समान अधिकार होता है। उसमें से लोग अपनी रुचि, शक्ति और ग्राहकता के अनुकूल सामग्री ग्रहण कर लेते है और उस पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगाकर उसको शैली का रूप प्रदान करते हैं।"[26] तात्पर्य यह है कि भाषा में सदा दो प्रकार की प्रवृत्तियां कार्य करती है पहली सामाजिक और दूसरी वैयक्तिक। व्यक्ति स्वच्छंद मनोवृत्ति का होता है, वह प्रत्येक क्षेत्र में अधिक से अधिक स्वाधीनता चाहता है और समाज उसकी उस स्वाधीनता पर नियंत्रण रखने की चेष्टा करता रहता है। इस प्रकार भाषा ही क्या, मनुष्य के हर-एक क्रिया-कलाप में स्वच्छंदता और नियंत्रण ये दो बातें ऐसी है जिनके घात-प्रतिघात से समूचे समाज का विकास होता है।

"जब हम भाषा पर विचार करते है तो वहां भी इन दोनों प्रवृत्तियों के दर्शन होते है, जिन्हें प्रो० देवेंद्रनाथ शर्मा के शब्दों में केंद्रापगामी और केंद्राभिगामी कह सकते है।[27] व्यक्ति की प्रवृत्ति केन्द्रापगामी होती है और समाज की केंद्राभिगामी। एक में पृथकता की भावना काम करती है और दूसरी में एकता की। भाषा-विकास के लिये इन दोनों का समान महत्व है। फिर भी अपेक्षित यह है कि वैयक्तिक विविधता सामाजिक एकता को पुष्ट करती चले।[28] नहीं तो, भाषा का वास्तविक उद्देश्य (विचार-संपर्क) ही बाधित हो जायेगा और उसकी सर्वोपरि विशेषता (बोधगम्यता) लुप्त हो जायेगी।

मनुष्य की स्वच्छंद मनोवृत्ति का ही यह फल है कि एक व्यक्ति की भाषा से दूसरे व्यक्ति की भाषा का अंतर अपने आप स्पष्ट हो जाता है। भाषा का यह अंतर जहां उसकी विविधता का द्योतक है, वहीं उसकी बोधगम्यता एकता का दामन पकड़े रहती है। यद्यपि एक समाज में रहने वाले सभी व्यक्ति एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं, किंतु उनके बोलने का ढंग, उनकी उच्चारण प्रक्रिया, शब्दभण्डार, वाक्य विन्यास आदि जिसे साहित्यिक शब्दावली में शैली कहते हैं, के आधार पर भाषा में पर्याप्त अंतर आ जाता है। इतना ही नहीं, डा० बाबूराम सक्सेना के शब्दों में :

"वस्तु स्थिति तो यह है कि कोई भी ध्वनि किसी भी व्यक्ति द्वारा केवल एक बार ही उच्चरित हो सकती है, एक ही ध्वनि के एक ही व्यक्ति द्वारा किये गये दो उच्चारण एक से नहीं हो सकते।"[29]

डा० सक्सेना का यह कथन भाषा की वस्तु स्थिति एवं सूक्ष्मतात्विक विवेचन का परिचायक है। यदि अपने ही द्वारा किये गये एक ही ध्वनि के विभिन्न उच्चारणों को ध्यानपूर्वक सुना जाय तो उनकी सूक्ष्मतम विभिन्नता का बोध होगा। परन्तु वैयक्तिक दृष्टि से जहां भाषा में भेद की इतनी सूक्ष्म से सूक्ष्म संभावनाएं वर्तमान हैं, वहीं सामाजिक दृष्टि से एकता का मार्ग भी प्रशस्त है। कहना न होगा कि एकता के सूत्र में पिरोयी हुई इसी वैयक्तिक विविधता के चलते ही समाज में एक ही भाषा के विविध रूप दिखायी पड़ते हैं।

विभाषा (Dialect)

किसी उपप्रांत अथवा एक सीमित क्षेत्र के अंतर्गत रहने वाले निवासियों के बीच जो भाषा विचार-संपर्क का कार्य करती है तथा जिसमें सामान्य साहित्य व लोक गीतों का सृजन होता है, उसे विभाषा अथवा बोली या उपभाषा कहते हैं। उदाहरणार्थ भोजपुरी, मगही, मैथिली, ब्रजी, अवधी आदि हिन्दी की बोलियां हैं।[30] कुछ विद्वानों ने बोली और विभाषा को भाषा के दो भिन्न रूपों में स्वीकार किया है। उनके अनुसार साहित्य से कोरी घरेलू बोलचाल की भाषा को बोली तथा किसी प्रांत, उपप्रांत या अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत प्रदेश की बोलचाल एवं साहित्यिक भाषा को विभाषा कहते हैं। डा० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है

[illegible] ी से है जो तनिक [illegible] ी है।' विभाषा [illegible] बोलचाल तथा साहित्यिक रचना की भाषा 'विभाषा' कहलाती है।"[31]

"स्थानीय भाषा के लिये 'बोली' प्रांतीय भाषा के लिये 'विभाषा' और राष्ट्रीय तथा टकसाली भाषा के लिये 'भाषा' का प्रयोग ठीक होगा।"[32]

डा० श्यामसुन्दर दास जैसे विद्वानों की बोली और विभाषा संबंधी ये मान्यताएं ग्राह्य नहीं हैं। यद्यपि यह असंदिग्ध है कि एक व्यक्ति की भाषा दूसरे व्यक्ति की भाषा से भिन्न होती है, फिर भी बोली और विभाषा में इस प्रकार की सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। यदि बोली को घरेलू बोलचाल तक सीमित रखा जायेगा तो भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि को बोलियां नहीं कहा

जा सकता। क्योंकि इनका उपप्रांत के रूप में अपना एक विशेष क्षेत्र है, जहाँ ये बोली और समझी जाती है, साथ ही इन बोलियों के पास अपना सामान्य साहित्य और लोकगीत भी हैं। इस दृष्टि से तो ये विभाषा ही सिद्ध होगी, फिर बोली का कौन-सा उदाहरण दिया जायेगा? स्पष्ट है कि बोली और विभाषा को जुदा समझना अव्यावहारिकता का परिचायक होगा।

इतना ही नहीं, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी का तो कथन है कि "बोलियों की छान-बीन पर जिन्होंने पोथियाँ लिखी हैं। उनमें से कुछ ने यह बताया है कि किसी भी बोली के तीन साँचे मिलते हैं—भाषा, विभाषा और बोली। हम आपसे पूछते हैं कि भाषा और बोली में भेद क्या हुआ? भाषा संस्कृत-शब्द है बोली उसका अर्थ है, उल्था है, भाषा का दूसरा नाम है। यह तो ऐसा ही हुआ कि बादल तीन ढंग के होते हैं—एक मेघ, दूसरा जलधर और तीसरा बादल।[33]

स्पष्ट है कि आचार्य सीताराम चतुर्वेदी बोली और विभाषा में ही नहीं, भाषा और बोली में भी कोई अंतर नहीं समझते। वस्तुतः भाषा और बोली एक ही तत्व के दो नाम हैं जो भाषाशास्त्रियों द्वारा भाषा वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय विवेचन के लिये आवश्यक माने गये हैं। शिक्षा के प्रसार, नगरों के विकास, यातायात की सुविधा, साहित्यिक समृद्धि, वैज्ञानिक प्रगति, रेडियो व सिनेमा के प्रभाव, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक चेतना आदि ऐसे कारण हैं, जिनके सहयोग से कोई भी बोली प्रमुखता प्राप्त कर भाषा कहलाने लगती है। इसलिये बोली और भाषा में यदि कोई अंतर है तो सिर्फ मात्रा का है, प्रकार अथवा गुण का नहीं।[34] भाषा और बोली में वैसा ही संबंध है, जैसा पुष्प और कली में या यौवन और कैशोर्य में।

भाषा और बोली की सबसे बड़ी कसौटी बोधगम्यता होती है। स्थानीय विभेद के रहते हुए भी एक भाषा की बोलियों में परस्पर बोधगम्यता बनी रहती है। उदाहरणार्थ

खड़ी बोली—आता हूँ, जाता हूँ।

ब्रजी—आवत हों, जात हों।

भोजपुरी—आवत हईं, जात हईं।

यहाँ पर स्थान भेद के कारण दो क्रियाओं का भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयोग किया गया है। फिर भी एक ही भाषा क्षेत्र के अंतर्गत रहने के कारण इनकी बोधगम्यता बनी हुई है। किंतु यदि इन्हीं के बदले वारिरेन् और पोगिरेन् अथवा 'आई कम' और 'आई गो' का प्रयोग किया जाय तो तमिल अथवा अंग्रेजी के जाने बिना इनका अर्थ करना संभव नहीं। तात्पर्य यह है कि भाषा की विभिन्न विभाषाओं में परस्पर बोधगम्यता रहती है और विभिन्न भाषाओं में बोधगम्यता का अभाव रहता है। विभाषा या बोली घरेलू अथवा ग्रामीण बोलचाल की

राजभाषा (Official Language)

राजभाषा का सामान्य अर्थ है राजकाज की भाषा, अर्थात् वह भाषा जिसके द्वारा राजकीय कार्य किया जा सके। दूसरे शब्दों में किसी देश अथवा राष्ट्र में प्रशासनिक व्यवस्था के लिये जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है उसे राजभाषा कहते हैं। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार 'राजभाषा उसे कहते हैं जो केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारों द्वारा पत्रव्यवहार, राजकार्य और सरकारी लिखा-पढ़ी के काम में लायी जाय।'[39] भारत जैसे जनतंत्रात्मक दुहरे शासन-पद्धति वाले राष्ट्रों में राजभाषा की स्थिति दो प्रकार की है प्रथम केन्द्रीय राजभाषा, जिसे भारतीय संविधान में संघ की राजभाषा (Official Language of the Union) कहा गया और द्वितीय राज्यों की राजभाषा (Official Language of the States) सामान्यत केन्द्रीय राजभाषा को सिर्फ राजभाषा और राज्यों की राजभाषा कहा जाता है।

केंद्रीय भाषा

केंद्रीय सरकार द्वारा प्रशासनिक कार्यों के संपादनार्थ जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है उसे केंद्रीय राजभाषा या मात्र राजभाषा कहते हैं। प्रशासनिक दृष्टि से इस भाषा का महत्व पूरे राष्ट्र में एक समान रहता है। स्वतंत्र राष्ट्रों में अधिसंख्यक जनता द्वारा व्यवहृत होने वाली भाषा को राजभाषा का यह गौरवमय पद प्रदान किया जाता है। स्वतंत्र भारत के संविधान में हिंदी को भारत की राजभाषा का जो सम्मानित पद प्राप्त हुआ है उसका यही रहस्य है। किंतु दुर्भाग्य की बात तो यह है कि अभी तक हिंदी भारतीय संविधान के पृष्ठों पर ही राजभाषा घोषित है, व्यावहारिक रूप से अंग्रेजी का सिक्का पूर्ववत
है
ाप-
ज-
ान
ौर
उपयोग है।'[10]

राज्य भाषा

राज्य सरकार द्वारा राज्य-विशेष के अंतर्गत प्रशासनिक कार्यों के लिये जिस भाषा का व्यवहार किया जाता है उसे राज्य भाषा कहते हैं। यह भाषा पूरे राज्य में बहुसंख्यक जनता द्वारा बोली और समझी जाने वाली भाषा होती है तथा प्रशास-

निक दृष्टि से इसका पूरे राज्य में एक सा महत्व होता है। सोवियत संघ की उक्रेनी, उजबेक, जर्जियन आदि इसी प्रकार की राज्य भाषाएं हैं। स्वतंत्र भारत में बंगाल की बंगला, आसाम की असमिया, उड़ीसा की उड़िया, आंध्र की तेलुगु, मद्रास की तमिल, केरल की मलयालम, मैसूर की कन्नड़, महाराष्ट्र की मराठी, गुजरात की गुजराती, पंजाब की पंजाबी, कश्मीर की कश्मीरी, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि की हिंदी ऐसी ही राजभाषाएं हैं। जनतंत्र का यह तकाजा है कि किसी राज्य की शासन-व्यवस्था का कामकाज उस राज्य की बहुमत जनता द्वारा व्यवहृत होने वाली भाषा में होना चाहिए। किंतु यह दुःख एवं खेद की बात है कि भाषावार राज्यों के निर्माण एवं स्वाधीनता प्राप्ति के 25 वर्षों के गुजर जाने के बावजूद इन राज्यों मे राज्यभाषा के रूप में प्रादेशिक भाषाओं को जो महत्व मिलना चाहिए वह नहीं मिल पाया है। अंग्रेजों की राजनीतिक गुलामी से तो मुक्ति मिली, किंतु अंग्रेजी की मानसिक गुलामी से हम पूर्व की अपेक्षा और अधिक जकड़े जा रहे हैं। आज भी भारतीय नागरिक अंग्रेजी की मोह निद्रा में हैं, कहीं-कहीं जागरुकता की निशानी, उसकी क्षीण रेखा, दिखाई पड़ रही है, फिर भी नींद का टूटना मुश्किल नजर आ रहा है। प्रादेशिक भाषाएं कहने मात्र के लिये राज्य भाषाएं हैं पर इनके स्थान पर सब-का-सब प्रशासनिक कार्य अंग्रेजी में ही किया जा रहा है।

राजाभाषा और राष्ट्रभाषा

किसी स्वाधीन देश अथवा राष्ट्र में बहुसंख्यक जनता द्वारा व्यवहृत होने वाली भाषा को राजभाषा का पद दिया जाता है और इस रूप में वह भाषा सरकारी कामकाज की भाषा होती है तथा संपूर्ण राष्ट्र में समान आदर की अधि-[illegible] -जनता [illegible] ी है। [illegible] ता की [illegible] ाषा के सिंहासन पर बिठाया जाता है, उदाहरणार्थ सोवियत संघ में राजभाषा और राष्ट्रभाषा दोनों का उत्तरदायित्व रूसी पर है। स्वतंत्र भारत में हिंदी राष्ट्रभाषा की उत्तराधिकारिणी तो है ही, साथ ही साथ भारतीय संविधान के द्वारा उसे राजभाषा का भी पद प्रदान किया गया है। राजभाषा और राष्ट्रभाषा की इसी एकरूपता के कारण प्रायः अधिकांश विद्वानों ने दोनों को एक माना है, राष्ट्रभाषा में ही राजभाषा को भी समाविष्ट कर लिया है। किंतु राजभाषा को राष्ट्रभाषा के अंतर्गत स्वीकार करना या दोनों को एक मानना अनुपयुक्त है। यदि राजभाषा और राष्ट्रभाषा का स्वरूप विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि इन दोनों

में राजभाषा और राष्ट्रभाषा में जब भी दूरी रही है, तब देश की स्थिति काफी बिगडी हुई नजर आई है। उदाहरणार्थ प्राचीन भारत की तुलना में मुस्लिम शासन तंत्र व अंग्रेजी शासन काल को देखा जा सकता है। स्वाधीन भारत में आज प्रत्येक क्षेत्र में असफलता का जो दृश्य दिखाई पड़ता है उसका एक कारण राजभाषा व राष्ट्रभाषा का असामंजस्य भी है। राष्ट्रभाषा तो हिंदी है, किंतु व्यावहारिक रूप में आज भी राजभाषा का स्थान अंग्रेजी के कब्जे में है, हिंदी तो नाम मात्र के लिए राजभाषा कही जाती है। भारत के इस स्वतंत्र परिवेश में हर-एक दृष्टि से राजभाषा-संबंधी सभी कार्य हिंदी को सौंपना आवश्यक है, अन्यथा, मस्तिष्क और हृदय के साथ कर्म का गठबंधन नहीं हो सकेगा, इच्छा, क्रिया और ज्ञान बिखरे ही रह जायेंगे, जैसा 'कामायनी' में प्रसाद जी ने लिखा है

> 'ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
> इच्छा क्यों पूरी हो मन की
> एक दूसरे से न मिल सके,
> यह विडबना है जीवन की।"[42]

ज्ञान और क्रिया के सामंजस्य का अभाव भारतीय जीवन की भी विडंबना न बन जाय, यह देखने की बात है।

संदर्भ

1 "इदमन्धतमः कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरा संसारं न दीप्यते॥' —काव्यादर्श 1-4।
2 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' (भाषा का प्रश्न) सुमित्रानंदन पंत, पृ० 199।
3 "सा सर्व विद्याशिल्पाना कलानां चोपबन्धनी।
तद्वशादपि निष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते॥" —वाक्यपदीयम् 1-125।
4 'भाषा विज्ञान पर भाषण' मैक्समूलर, पृ० 3।
अनुवादक डा० हेमचन्द्र जोशी।
5 "सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावत् ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक्"
—ऋग्वेद—10-114-8।
6 ऋग्वेद 10 125-1।
7 "एतद्वै विश्वरूप, सर्वरूप, गोरूपम्" अथर्ववेद 9-7-25।
8 "वागेवर्यश्च मामानिच। मन एव यजूंषि सा यत्रेय वागासीत्सवमेव तत्रा-क्रियत सर्व प्राज्ञा यताथ' —शतपथ० 4 6-7-5।

"वाक् तु सरस्वती" —ऐतरेय० 3-1 ।

9 "अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिन ।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञो य दृश्यते काष्ठ कुड्यवत् ॥" —वाक्य० 1-127 ।

10 "इति कर्तव्यता लोके सर्वा शब्द व्यपाश्रया ।
× × ×
न सो स्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमाद्दृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन भासत ॥" —वाक्य० 1-121 एव 122 ।

11 यद्वैवाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यत् न सत्य नानृत न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपा'' छान्दो० 7-2-1 एव 7-2-2 ।

12 "शब्देष्वे वाश्रिता शक्ति विश्वस्यास्य निबधनम् ।
यन्नेत्र प्रतिभात्माय भेद रूप प्रतीयते ॥" —वाक्य० 1-118 ।

13 (क) 'एक प्राणी अपने किसी अवयव द्वारा दूसरे प्राणी पर जो कुछ व्यक्त कर देता है—वही विस्तृत अर्थ मे भाषा है।"
"जिस ध्वनि-चिह्न द्वारा मनुष्य परस्पर विचार विनिमय करता है उसकी समष्टि को भाषा कहते हैं।"
'सामान्य भाषा विज्ञान" डा० बाबूराम सक्सेना, पृ० 1 और 6।

(ख) "भाषा शब्द का प्रयोग कई अर्थो मे होता है। सामान्य रूप से भाषा उन सभी माध्यमो का बोध कराती है जिनसे भावाभिव्यजन का काम लिया जाता है। इस दृष्टि से पशु-पक्षियो की बोली भी भाषा है, इगित भी भाषा है, सडक की लाल-हरी बत्ती भी भाषा है और मनुष्य जो बोलता है वह भी भाषा है।"
'जिसकी सहायता से मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय या सहयोग करते है, उसयादृच्छिक, रूढ, ध्वनि-सकेत की प्रणाली को भाषा कहते है।'
"भाषा विज्ञान की भूमिका" प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 9 व 11 ।

14 "भाषा एक प्रकार का चिह्न है। चिह्न से तात्पर्य उन प्रतीको से है जिनके द्वारा मनुष्य अपना विचार दूसरो पर प्रकट करता है। ये प्रतीक भी कई प्रकार के होते हैं। जैसे—नेत्रग्राह्य, श्रोत्रग्राह्य एव स्पर्श ग्राह्य। वस्तुत भाषा की दृष्टि से श्रोत्रग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ है।"
"भाषाशास्त्र की रूपरेखा" डा० उदयनारायण तिवारी, पृ० 2 से साभार उद्धृत ।

15 "ध्वन्यात्मक शब्दो द्वारा विचारो का प्रकटीकरण ही भाषा है।"
"भाषा विज्ञान" डा० भोलानाथ तिवारी, पृ० 2 साभार उद्धृत ।

16 A language is a system of arbitrary vocal symbols by means

of which a social group co operate' 'On वही, पृ० 2 से साभार उद्धृत । Cutline of linguistics Analysis'

17. A language is a system of arbitrary vocal symbols bymeans of which members of a social group co-operate and interact'
वही, से साभार उद्धृत ।
18 'अष्टाध्यायी' महर्षि पाणिनी, 1-3-48 ।
महाभाष्यकार आचार्य पतंजलि ने अष्टाध्यायी के इस सूत्र की निम्नलिखित व्याख्या की है—
"व्यक्तवाचास्तत्र प्रकर्षगति विज्ञास्यते । साधीयोये व्यक्तवाच इति । के च साधीय ? यथा वाच्यवारदयो वर्णा व्यज्यन्ते ।
' व्यक्तावाचि वर्णा येषा त इमे व्यक्तवाच इति ।" महाभाष्यम् 1-3-48 ।
19 'भाषाविज्ञान' डा० श्यामसुंदर दास, पृ० 20 ।
'भाषा-रहस्य' डा० श्यामसुंदर दास और श्री पद्मनारायण आचार्य, पृ० 44 ।
20 'भारतीय भाषा विज्ञान' आचार्य किशोरीदास वाजपेयी पृ० 6 ।
21 'भाषाशास्त्र की रूपरेखा' डा० उदयनारायण तिवारी पृ० 2 से साभार उद्धृत ।
22 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र' डा० मंगलदेव शास्त्री पृ० 17 ।
23 "यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो भाषा मनुष्य के केवल विचार-विनिमय का ही साधन नही है, विचार का भी साधन है ।"—डा० बाबूराम सक्सेना 'सामान्य भाषा विज्ञान, पृ० 9 ।
24 वही, पृ० 9 ।
25 'सामान्य भाषा-विज्ञान' डा० बाबूराम सक्सेना, पृ० 12 ।
26 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' (भाषा और संस्कृति) डा० गुलाबराय, पृ० 130 ।
27 द्रष्टव्य प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा कृत 'भाषा विज्ञान की भूमिका, पृ० 60, और 'राष्ट्रभाषा हिन्दी समस्याएं और समाधान, पृ० 148 ।
28 ' विविधता मनुष्य जीवन का स्वाभाविक अंग है । किंतु उसमे समाज धारणा का यह परम सिद्धांत है कि विविधता हमेशा एकता को परिपुष्ट करने मे ही अपने को कृतकार्य समझे । एकता को शतधा विदीर्ण करने वाली विविधता समाजोपयोगी नही है ।"—काका साहब कालेलकर 'राष्ट्रभारती' (हिन्दी का मिशन) पृ० *188* ।
29 'सामान्य भाषा विज्ञान,' पृ० 220 ।
30 नोट—हिन्दी साहित्य के मध्यकाल मे ब्रजी तथा अवधी बोलियां साहित्यिक भाषा के सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित हो एकपरिनिष्ठित भाषा के

रूप में व्यवहृत होने लगी थी, किंतु खड़ी बोली के स्थानापन्न के कारण अब वे बोली मात्र रह गई हैं।

31 'भाषा रहस्य' (पहला भाग), पृ० 47।

32 वही, पृ० 51।

33 'भाषालोचन', आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, पृ० 134।

34 "ध्वनिग्राम और ध्वनियों में जो अंतर है वही अंतर भाषा और बोली में है।"—डा० बाबूराम सक्सेना। 'सामान्य भाषा विज्ञान,' पृ० 135।

35 "कई विभाषाओं में व्यवहृत होने वाली एक शिष्ट परिगृहीत विभाषा ही भाषा (राष्ट्रीय भाषा या टकसाली भाषा) कहलाती है।"—डा० श्यामसुंदर दास 'भाषा-रहस्य', पृ० 47।

36 'भाषा विज्ञान के सिद्धांत', पृ० 51 से साभार उद्धृत।

37 राष्ट्रभाषा पर विचार करते हुए कुछ मान्य विद्वानों ने अपने मूल्यवान विचार दिए हैं, जो निम्नांकित हैं—

(क) "उसी भाषा का गौरव सबसे अधिक हो सकता है और वही राष्ट्रभाषा कहला सकती है जिसको सब जनता समझती हो और जिसका अस्तित्व सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हो।"
—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएं', पृ० 54।

(ख) "राष्ट्रभाषा केवल रईसों और अमीरों की भाषा नहीं हो सकती। उसे किसानों और मजदूरों की भाषा बनाना पड़ेगा।"— मुंशी प्रेमचंद। 'राष्ट्रभाषा की समस्या' डा० रामविलास शर्मा, पृ० 305 से साभार उद्धृत।

(ग) "समग्र राष्ट्र के लिए जो भाषा संपर्क करने का कार्य कर सके उसे राष्ट्र-भाषा कहने में कोई हानि या आपत्ति नहीं है।"
—प्रो० देवेन्द्र नाथ शर्मा 'राष्ट्रभाषा हिंदी समस्याएं और समाधान', पृ० 45।

(घ) "जो भाषा थोड़ी बहुत सारे राष्ट्र में बोली और समझी जाती है वह अपने इस गुण से राष्ट्रभाषा होती है।"—डा० हरदेव बाहरी 'हिंदी उद्भव, विकास और रूप', पृ० 212।

(ङ) "राष्ट्रभाषा का उद्देश्य राष्ट्रीय व्यवहार की सुविधा है।" राष्ट्रभाषा अहिंसक है, सहिष्णु है। सबका मेल मिलाप कराने वाली है। वह नम्रता के साथ सबकी सेवा करेगी, सबके पोषण के तत्व लेगी और सबकी बोली बन जाएगी।"—काका साहब कालेलकर। 'राष्ट्रभारती' (हिंदी का मिशन) क्रमश पृ० 18 व 28।

38 'राष्ट्रभाषा पर विचार', पृ० 32।
39 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएं', पृ० 54।
40 'राष्ट्रभाषा हिन्दी : समस्याएं और समाधान', पृ० 46।
41 "भारतीय संविधान में हिंदी के लिए कहीं भी राष्ट्रभाषा शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। इसे या तो संघ भाषा (Language of the Union) या संघ की राजभाषा (Official Language of the Union) कहा गया है।" 'राष्ट्रभाषा हिंदी : समस्याएं और समाधान', पृ० 45।
42 'कामायनी' (रहस्य सर्ग), पृ० 280।

यदि भारतीय वाङ्मय के पृष्ठो को उलटा जाय तो दिखायी देगा कि ब्रह्मर्षि देश की भाषा और सस्कृति सदैव परिष्कृत एव अभिजात मानी गई है। अनुपमेय भाषा-शक्ति एव विकासोन्मुखी प्रतिभा से समन्वित आर्यों की सस्कृति ब्रह्मर्षि देश की सीमा मे आबद्ध न रह सकी। डा० राजबली पाण्डेय के शब्दो मे 'इस ब्रह्मर्षि देश मे भाषा और सस्कृति की दृष्टि से पडोस के अन्य प्रदेश भी मिलने लगे। पश्चिम मे ब्रह्मावर्त (सरस्वती तथा दृषद्वती के बीच) तथा पूर्व मे पूरे अन्तर्वेद (गगा-यमुना के बीच) के मिल जाने से 'मध्यदेश' का बनना प्रारभ हो गया।'[7] इस प्रकार आर्यों की सास्कृतिक एकता की आधारशिला पर प्रतिष्ठित तीसरी भौगोलिक इकाई का निर्माण हुआ, जिसे 'मध्यदेश' जैसी लोक प्रसिद्ध सज्ञा दी गयी। पूर्ण विकसित मध्यदेश की वास्तविक सीमाए मनुस्मृति मे इस प्रकार दी गई हैं

'हिमवद् विन्ध्ययोमध्ये यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशा प्रकीर्तित ॥'—मनु० 2-21

(हिमालय तथा विन्ध्य के मध्य पश्चिम मे विनशन (सरस्वती के मरुभूमि मे अदृश्य हो जाने का बीकानेर का प्रदेश) से लेकर पूर्व मे प्रयाग तक का सम्पूर्ण भू-भाग मध्यदेश कहा जाता है।)

मनुस्मृति द्वारा निर्दिष्ट मध्यदेश की इस सीमा का महत्त्व आज भी बना हुआ है। प्राय. सभी परवर्ती ग्रथकारो के द्वारा इसकी प्रामाणिकता असदिग्ध घोषित की गयी है। मध्यदेश के सन्दर्भ मे विचार करते समय विद्वानो के द्वारा मनुस्मृति मे कथित मध्यदेश की सीमा सम्बन्धी इस मान्यता की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष चर्चा न की जाय, असभव है। वस्तुस्थिति तो यह है कि भारतीय वाङ्मय मे जहा भी मध्यदेश की चर्चा हुई है, वहा इस मान्यता को सर्वोपरि स्थान दिया गया है।[8] किसी वस्तु विशेष के सम्बन्ध मे प्रतिपादित मान्यता की महत्ता इससे अधिक और क्या हो सकती है ?

मध्यदेश के निर्माणकाल तक आर्यों की सस्कृति सदानीरा[9] नदी तक पहुच चुकी थी। भौगोलिक विकास की दो मजिलें (ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश) पार कर चुकने एव तीसरी (मध्यदेश) मे प्रतिष्ठित होने के बावजूद विकासोन्मुखी यह सस्कृति मध्यदेश तक ही सीमित न हो सकी। यह एक ही छलाग म सदानीरा के उस पार पहुच गयी और क्रमश उसने मिथिला, अग और मगध मे अपने आगमन का सदेश देती हुई महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त की। अत सस्कृति के इस भौगोलिक विकास के साथ मध्यदेश की सीमा मे भी विकास हुआ, जिसके सकेत बौद्ध साहित्य मे देखे जा सकते हैं। महावग्ग के अनुसार पूर्व मे कजगल[10] के आगे महासाल के वन (अर्थात् बिहार की पूर्वी सीमा) पूर्व-दक्षिण मे सललवती[11] नदी, दक्षिण मे सेत कण्णिक[12], पश्चिम मे थूण[13] तथा उत्तर मे उसीरध्वज[14] पर्वत तक के विस्तृत भू-भाग को मज्झिमदेश (मध्यदेश) माना

देश ब्रह्मावर्त का विकसित रूप है और मध्यदेश ब्रह्मर्षि देश का, ठीक उसी प्रकार हिन्दी प्रदेश मध्यदेश का विकसित स्वरूप है और इसे इसी रूप मे मानना समीचीन है।

मध्यदेश का महत्त्व

[illegible]

इस प्रदेश मे प्रज्ज्वलित हुई उसके प्रवाहमान एव अखड प्रकाश से आजतक भारत भूमि का प्रत्येक प्रान्त, उसका हर एक कण प्रकाशित होता चला आ रहा है, इतना ही नही इसने विश्व मे भी प्रतिष्ठा प्राप्त की है। यों तो यह प्रदेश प्रत्येक दृष्टि से महानता का मूर्तरूप रहा है किन्तु इसकी महत्ता के प्रमुख आधार दो हैं *प्रथम, इसकी अखडित सास्कृतिक परम्परा और द्वितीय, महती भाषा परम्परा।*

आर्यों एव अनार्यों के सम्मिलन से आविर्भूत मध्यदेशीय सस्कृति का सर्वप्रथम प्रसार सम्पूर्ण आर्यावर्त में हुआ। धीरे-धीरे इस सस्कृति ने विन्ध्यमेखला का अतिक्रमण कर अपना प्रचार-प्रसार दक्षिणापथ मे प्रारम्भ किया और कालान्तर मे यही सस्कृति अपने पूर्ण विकसित स्वरूप (जिसमे आर्येत्तर अनेक जातियो की सस्कृति का समावेश हो गया था) के साथ सम्पूर्ण भारत की एकता को द्योतित करने वाली सिद्ध हुई। इस प्रकार बीज रूप मे उत्पन्न इस मध्यदेशीय सस्कृति का सम्पूर्ण भारत में एकछत्र साम्राज्य स्थापित हो गया और इसकी जन्म भूमि मध्यदेश की महानता के सदेश से समस्त उत्तरा एव दक्षिणापथ मुखरित हो उठा। भारतीय इतिहास मे यह पहला अवसर था, जब मध्यदेशीय सस्कृति चिरकाल से भिन्न-भिन्न दिशाओ म गतिशील भारतीय जीवन को एकता के सूत्र मे बाँधने म पूर्ण समर्थ हुई। सम्पूर्ण भारतवर्ष हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक एव पूर्वी समुद्र तट से लेकर पश्चिमी समुद्र तट तक सास्कृतिक एकता की भौगोलिक इकाई के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रकार इस मध्यदेशीय सस्कृति ने अपनी ही नही, बल्कि अपनी जन्मभूमि मध्यदेश की महानता एव उसकी प्रतिष्ठा को सम्पूर्ण भारतवर्ष मे प्रतिष्ठित किया। इस सदर्भ मे डा० चटर्जी का यह कथन द्रष्टव्य है

'मध्यदेश वास्तव म भारत का हृदय एव जीवन सचालन का केन्द्र स्थान था। यहा के निवासियो के हाथ मे एक तरह मे, अखिल भारतीय ब्राह्मणीय सस्कृति का प्राथमिक सूत्रपात था, तथा हिंदू जगत के पवित्रतम देश के रूप मे मध्यदेश

की महत्ता सर्वत्र सर्वमान्य थी।'[20]

अपेक्षाकृत काफी परिवर्तित वर्तमान भारतीय जीवन की सामाजिक गतिविधियों का यदि सूक्ष्म रूप से निरीक्षण किया जाय, तो भारतीय संस्कृति की चिरकाल से चली आती हुई यह अखंड परम्परा दिखायी पड़ेगी जो आज भी भारतीय नागरिकों को एकता के रंग में डुबोये हुए है। सारांश यह कि भारतीय संस्कृति, जो मध्यदेशीय संस्कृति का विकसित रूप है, जन्मकाल से लेकर आज तक मध्यदेश की गरिमा एवं उसकी महत्ता का महत्त्वपूर्ण आधार रही है। भारतीय वाङ्मय में मध्यप्रदेश की प्रशस्ति का जो गान समय-समय पर होता रहा है उसका बहुत कुछ भाग उसकी इस सांस्कृतिक परम्परा से अनुप्राणित है।

मध्यदेशीय भाषा परम्परा

मध्यदेश की ख्याति का आधार किसी माने में संस्कृति से कम महत्त्वपूर्ण उसकी सशक्त भाषा-परंपरा नहीं है। भारतीय वाङ्मय में मध्यदेश के महत्त्व एवं वैभव का समय-समय पर जो उल्लेख हुआ है,[21] उसके प्रकाश में इस कथन की प्रामाणिकता देखी जा सकती है :

'एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वं मानवा ।।'

इस कथन के रूप में मनु के द्वारा की गई इस प्रदेश की प्रशस्ति का बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, साथ ही इसमें तत्कालीन सत्य को उद्घाटित करने की पूर्ण क्षमता विद्यमान है। आर्यावर्त के केन्द्र में स्थित होने के कारण इस प्रदेश की भाषा को सदैव प्रमुख स्थान दिया जाता रहा है। प० विनयमोहन शर्मा के शब्दों में 'राम और कृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण मध्यदेश अखिल भारत का धार्मिक केन्द्र है। अतएव प्रत्येक प्रान्त की जनता का उससे संपर्क चला आ रहा है। स्वभावत वहां जो भी लोकभाषा प्रचलित रही, वह समस्त राष्ट्र के व्यवहार की भाषा बन गई। धार्मिक कारण के अतिरिक्त आर्थिक और राजकीय कारण से भी मध्यदेश की भाषा को सर्वव्यापकता प्राप्त हुई।'[22]

वैदिक युग से लेकर आज तक भाषा-प्रसार की दृष्टि से मध्यदेश का प्रमुख विकासोन्मुख रहा है। मध्यदेश की परिनिष्ठित भाषाएं—क्रमानुसार संस्कृत, पालि, शौरसेनी प्राकृत, नागर अपभ्रंश, ब्रज एवं खड़ी बोली अपने-अपने समय में अखिल भारतीय जन-संपर्क की भाषा के गौरवमय पद को सुशोभित करती रही हैं। संस्कृत भारतीय आर्य भाषाओं के विकास की प्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी है। मध्यदेश की यह भाषा देववाणी नाम से भारत ही नहीं, विश्व के एकाधिक देशों में सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित रही है। 'हिमालय से मलय तक,

सारे भारतवर्ष के धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयो की भाषा कुछ सौ वर्ष पहले तक एक ही रही है। यह भाषा सस्कृत थी। भारतवर्ष का जो कुछ रक्षणीय है वह इस भाषा के भडार मे सचित किया गया है। ' इसके लक्षाधिक ग्रथो के पठन-पाठन और चिंतन मे भारतवर्ष के हजारो पुश्त तक के करोडो सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात लगे रहे हैं और आज भी लगे हुए है। मैं नही जानता कि ससार के किसी देश मे, इतने काल तक, इतनी दूर तक व्याप्त, इतने उत्तम मस्तिष्को मे विचरण करने वाली कोई भाषा है या नही, शायद नही।'[23] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपर्युक्त कथन सस्कृत भाषा की महानता का यथार्थ चित्र उपस्थित करता है। वस्तुत सस्कृत भारत की अमरवाणी है जो भारतीय सस्कृति का पावन सदेश युग युग से देती चली आ रही है।

पालि भी सस्कृति की भाति अपने जमाने की अखिल भारतीय विचार-सपर्क की भाषा रही है और साथ ही इसने प्रशासनिक पद को भी सुशोभित किया है। बौद्ध धर्म और साहित्य का माध्यम होने के कारण इसने प्राय समस्त एशिया के उन देशो मे, जहा-जहा भी बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ, महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त की। आग चलकर शौरसेनी प्राकृत ने अपने दोनो रूपो (महाराष्ट्री एव शौरसेनी) मे समस्त भारत की साहित्यिक एव जन सपर्क की भाषा की भूमिका का निर्वाह किया। शौरसनी प्राकृत के विषय में नाट्यशास्त्र की यह उक्ति द्रष्टव्य है

'सर्वास्वेव हि शुद्धासु जातिषु द्विजसत्तमा।
शौरसेनी समाश्रित्य भाषा काव्येषु योजयेत्॥'[24]

शौरसेनी प्राकृत के बाद अखिल भारतीय रगमच पर जिस भाषा ने पदार्पण किया वह पश्चिमी या नागर अथवा शौरसेनी अपभ्रश थी। साहित्य के क्षेत्र मे अपने जमाने मे इस भाषा का एकछत्र राज्य रहा है। जैन, बौद्ध, हिंदू आदि सबने अपने धर्म, साहित्य एव सस्कृति आदि के माध्यम के रूप मे इसे स्वीकार किया। यह भाषा अपने समय मे राजभाषा पद पर अधिष्ठित थी।

ग्यारहवी शताब्दी के आसपास मध्यदेश की जनभाषा के रूप म जिन भाषाओं का विकास हुआ उनमे व्रज एव खडी बोली का विशेष महत्त्व है। मुसलमानी आक्रमण काल मे ये दोनो भाषाए अपनी किशोरावस्था मे थी। अपेक्षाकृत अनुकूल परिस्थितियो के योग से व्रजभाषा ने उत्तर भारत की सास्कृतिक एव प्रशासनिक भाषा के रूप मे सामती दरबारो म मान्यता प्राप्त की।'[25] आगे चलकर मध्य युग के भक्ति आदोलन के प्रमुख माध्यम के रूप में इसने अपनी पवित्रता एव मधुरता का परिचय दिया तथा मध्यदेश की प्राचीन परिनिष्ठित भाषाओं की परपरा का पालन करती हुई समस्त भारत मे जन-सम्पर्क की भाषा का बडी सफलता के साथ प्रतिनिधित्व किया। मुस्लिम शासन के प्रारभ से अत तक व्रजभाषा राजभाषा क्षेत्र को छोडकर अन्य क्षेत्रो मे महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित रही

और खड़ी बोली कभी उत्तर और कभी दक्षिण में घूमती रही। मुस्लिम शासन के अंत में खड़ी बोली के राष्ट्रव्यापी स्वरूप की झांकी दिखाई देने लगी। स्वाधीनता संघर्ष में इसने अपूर्व राष्ट्रीयता का परिचय दिया और दीर्घकालीन स्वातन्त्र्य संग्राम में राष्ट्रीय सेनानियों की अमूल्य सेवा की। अततोगत्वा सन् 1947 में भारत की स्वतन्त्रता के साथ अखिल भारतीय जन सम्पर्क की भाषा की पूर्व भूमिका के साकार रूप में खड़ी बोली ने स्वत राष्ट्रभाषा का अपूर्व पद प्राप्त किया और सन् 1950 में इसे भारतीय संविधान के द्वारा भारत जैसे राष्ट्र की राजभाषा का पद प्रदान किया गया। तब से लेकर यह आज तक सांविधानिक रूप से राजभाषा और व्यावहारिक रूप में राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित है।

वस्तुत मध्यदेश की परिनिष्ठित भाषाओं की अपनी एक महनीय परम्परा है, जिसके आदर्श का पालन संस्कृत से लेकर खड़ी बोली तक की सभी भाषाओं ने अपनी परिस्थितियों के मध्य यथासामर्थ्य किया है और समस्त भारत में मध्यदेश की महत्ता को एक-सा कायम रखने में अपनी मूलभूत असीम शक्ति एव गरिमा का परिचय दिया है।

भारतीय आर्य भाषाए और मध्यदेश

प्राचीन आर्यों की भाषाओं का क्या स्वरूप था ? इसकी जानकारी हासिल करना मुश्किल है। कारण यह कि आर्यों की उन भाषाओं में निबद्ध साहित्य का कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। आर्य जाति का जो सबसे प्राचीन साहित्य उपलब्ध है वह है ऋग्वेद। ऋग्वेद में आर्यों की जिस संस्कृति का दर्शन होता है उसे उनकी संस्कृति का प्रथम सोपान नहीं कहा जा सकता। ऐसा मालूम होता है कि यह संस्कृति हजारों हजार वर्ष पूर्व से चली आती हुई आर्यों की संस्कृति का अतिविकसित परिनिष्ठित स्वरूप है। अत ऋग्वेद की भाषा को आर्यों की आदिम भाषा का साहित्यिक रूप मानना उपयुक्त नहीं होगा। किंतु वैदिक युग के पूर्व की भाषा के साक्ष्य के अभाव में भारतीय आर्य भाषाओं के इतिहास को वैदिक युग से ही प्रारंभ करना पड़ता है। वैदिक युग से आज तक की भारतीय आर्य भाषाओं का जो स्वरूप दिखाई पड़ता है वह उनका बोलचाल अर्थात् लोकभाषा का रूप न होकर साहित्यिक रूप है। अत विद्वत् समाज के मध्य इस बात पर विवाद चलता आ रहा है कि छादस्, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी, बगला, मराठी आदि भाषाए लोक भाषाएं रही हैं अथवा नहीं। अत यह आवश्यक है कि भारतीय आर्य भाषाओं के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करने से पूर्व इन्हीं भाषाओं की पृष्ठभूमि में साहित्यिक भाषा की आधारशिला और उसके विकास के सैद्धांतिक पक्ष की संक्षिप्त चर्चा कर ली जाय।

क्षेत्र मे आज की खडी बोली है। आज खडी बोली हिंदी प्रदेश की परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा है और भोजपुरी, मगही आदि बोलचाल की लोक भाषाए है। ठीक इसी प्रकार से छादस्, सस्कृत, प्राकृत एव अपभ्र श के समय मे भी लोक भाषाए रही होगी। इन साहित्यिक भाषाओ के जमाने मे लोक भाषाए भी थी, यह विद्वानो द्वारा मान्य है।[31] भोजपुरी लगभग उन्नीसवी शताब्दी तक मात्र बोलचाल की भाषा रही है। आज यह साहित्यिक भाषा की ओर बढ रही है। इसमे लोकगीतो एव साहित्य की परपरा चल पडी है। मान लिया जाय कि यह पच्चीसवी शताब्दी तक पहुचते-पहुचते पूर्ण साहित्यिक भाषा हो जाती है और इसका एक परिनिष्ठित व्याकरण भी बन जाता है। यह भी स्वाभाविक है कि भोजपुरी का जो व्याकरण निर्मित होगा, वह कुछ न कुछ आज की परिनिष्ठित खडी बोली के व्याकरण से प्रभावित अवश्य रहेगा। व्याकरण सबधी समानता एव उन्नीसवी शताब्दी तक भोजपुरी मे साहित्य के अभाव को पाकर यदि उस समय (पच्चीसवी शताब्दी) के विद्वान् यह कहना प्रारभ करें कि भोजपुरी की उत्पत्ति खडी बोली से हुई है, तो यह कथन कितना तथ्यहीन होगा। ठीक यही बात छादस् से सस्कृत, सस्कृत स प्राकृत की उत्पत्ति मानने वाले सिद्धात पर भी लागू होती है और 'प्रादेशिक अपभ्र श की राह से होती हुई प्राकृतें, परिवर्तित होकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाए बन गई थी।'[33] डॉ० चटर्जी के इस कथन पर भी वस्तुत सर्वप्रथम लोकभाषा से वैदिक भाषा की उत्पत्ति हुई। जब लोकभाषा और वैदिक भाषा मे दूरी काफी बढ गई, तब पुन लोकभाषा से साहित्यिक सस्कृत का जन्म हुआ। आगे चलकर पाणिनि के द्वारा व्याकरण के नियमो मे जकडे जाने पर सस्कृत की गति मद हो गई और लोकभाषा पुन आगे बढी, जिससे अनेक प्राकृतो का जन्म हुआ। इसी क्रम से लोक भाषाओ की आधार-शिला पर अपभ्र श एव नव्य भारतीय आर्य भाषाओ ने जन्म लिया।

साहित्यिक भाषाओ की उत्पत्ति सबधी इस सैद्धातिक विवेचना के प्रकाश मे भारतीय आर्य भाषाओ के ऐतिहासिक विकास पर यदि दृष्टिपात किया जाय, तो ज्ञात होगा कि समय की दृष्टि मे इन आर्य भाषाओ का स्पष्ट विभाजन करना बहुत मुश्किल है। कारण यह कि एक साहित्यिक भाषा के विकास के मध्य, समय के किस बिंदु पर दूसरी साहित्यिक भाषा प्रकाशित होने लगी थी, नहीं कहा जा सकता। जैसे अनवरत गति म प्रवाहित सागर की चचल लहरो के मध्य किसी भी लहर की ठीक-ठीक विकास-रेखा अथवा आयु-सीमा अकित नही की जा सकती, वैसे ही भारतीय आर्य भाषाओ की क्रमबद्ध परपरा मे कब एक साहित्यिक भाषा उत्पन्न होती है और कब तक जीवित रहती है तथा उसी के जीवन काल के मध्य कब दूसरी (उत्तरवर्ती) साहित्यिक भाषा उत्पन्न हो जाती है, इसका सही-सही लेखा जोखा भी नहीं लगाया जा सकता। इन कठिनाइयो के बावजूद भारतीय

आर्य भाषाओ को समय की दृष्टि से निम्नांकित तीन वर्गों मे विभक्त किया गया है, यह वर्गीकरण काफी स्थूल होते हुए भी सौ-दो सौ वर्षों के हेर फेर के साथ सभी विद्वानो को मान्य है

1 प्राचीन भारतीय आर्यभाषा (प्रा० भा० आ० भा०)—1500 ई० पू० से 500 ई० पू० तक।
2 मध्य भारतीय आर्यभाषा (म० भा० आ० भा०)—600 ई० पू० से 1000 ई० तक।
3 नव्य भारतीय आर्यभाषा (न०भा० आ०भा०)—1000 ई० से आज तक।

प्रा० भा० आ० भा० समूह की प्रमुख भाषाए दो हैं—प्रथम वैदिक और द्वितीय सस्कृत।

वैदिक

आर्यों की सबसे प्राचीन भाषा का जो नमूना मिलता है, वह है ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा। यो तो भारतीय आर्यों की धार्मिक परपरा के अनुसार ऋग्वेद लाखो वर्ष पुराना ग्रथ माना जाता रहा है, किंतु भाषा वैज्ञानिको की दृष्टि से ऋग्वेद का प्रारभिक रचना काल ईसवी पूर्व दूसरी सहस्राब्दी से पहले मानना वांछित नही। धार्मिक परपरा के इस कथन मे सत्य का अश चाहे जितना भी हो, परतु इतना तो निर्विवाद है कि विश्व साहित्य के प्राचीनतम ग्रथो मे ऋग्वेद का प्रमुख स्थान है। भाषा वैज्ञानिको की मान्यता के अनुसार ईसवी पूर्व 1500 के आसपास बोली जाने वाली भाषा के आधार पर ऋग्वेद की रचना प्रारभ हो गई थी। 'ऋग्वेद के मत्रो को देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसकी रचना न एक समय मे हुई है और न एक स्थान मे। वह कई शताब्दियो और कई स्थानो की रचना है।'[33] डा० श्याम सुन्दर दास के शब्दो मे 'इसकी ऋचाओ की रचना भिन्न-भिन्न समयो और भिन्न भिन्न स्थानो मे हुई है। किसी मे कांधार मे बसने वाले आर्य समूह के राजा दिवोदास का उल्लेख है और किसी मे सिंधु नदी के किनारे बसे हुए आर्यो के राजा सुदास का।...साथ ही कुछ मत्र कधार मे रचे गये हैं, कुछ सिंधु के किनारे और कुछ यमुना तटो पर।'[34] ऋग्वेद की कुछ ऋचाए ऐसी हैं जिनकी भाषा अपेक्षाकृत काफी सरल और सुबोध है तथा कुछ ऐसी हैं जिनकी भाषा बहुत प्रौढ एव प्राजल हैं।

ऋग्वेद की भाषा किस प्रदेश-विशेष की भाषा थी? इस सदर्भ मे डा० शिवप्रसाद सिंह की निम्नलिखित पक्तिया देखी जा सकती हैं

'ऋग्वैदिक भाषा उस आर्य प्रदेश की भाषा है जिसकी सीमा सुदूर पश्चिमोत्तर की कुभा और स्वात नदियो से लेकर पूरव मे गगा तक फैली थी। ऋग्वैदिक मत्रो

का बहुत बड़ा हिस्सा सप्तसिधु या पचनद के प्रदेश मे निर्मित हुआ।···किंतु ऋग्वेद के अतिम मडलो के मत्र नि सदेह गगा-यमुना के काठे मे बसे हुए आर्यों द्वारा निर्मित हुए हैं, जिन्होंने वैदिक धर्म की स्थापना की इसके साहित्य को क्रमबद्ध किया और उत्सव पर्वों के अनुसार मत्रो को विभक्त किया।'[35]

इस प्रकार ऋग्वैदिक भाषा की विकास-रेखा 1500 ई० पू० से 1000 ई० पू० तक यानी 500 वर्षों की एक लबी अवधि के मध्य विस्तृत है।[36]

ऋग्वेदोत्तर साहित्य से वैदिक भाषा की दूसरी स्थिति का परिचय मिलने लगता है। 'इसका काल—देश भाषा शास्त्री साक्ष्य के आधार पर 1000 और 800 ई०पू० का उत्तर-पश्चिमी मध्यदेश निश्चित किया जा सकता है।'[37] इस समय तक आर्य सत्ता और भाषा पूर्व मे गगा यमुना के दोआबे तक व्याप्त हो गई थी। इसके बाद आर्यों का प्रसार दक्षिण और पूर्व दोनो दिशाओ मे होने लगा था। पूर्व और दक्षिण मे रहते हुए भी शिष्ट और ब्राह्मण समाज अपने धर्म, अपनी सस्कृति और अपनी भाषा के लिए पश्चिम से प्रेरणा प्राप्त करता था किंतु वह अनार्य प्रभावो से भी अपने को नही बचा पा रहा था। अत समय की गति के साथ वैदिक भाषा परिवर्तित होती चली जा रही थी। इस प्रकार के विकासोन्मुखी साहित्यिक भाषा के दर्शन ऋग्वेद सहिता के अतिरिक्त अन्य वैदिक सहिताओ (यजु सहिता, साम-सहिता, अथर्व-सहिता), ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रथो आदि मे होते हैं।

वेदो की तुलना म ब्राह्मण ग्रथो की सबस महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि ब्राह्मण ग्रथो की रचना मुख्यत गद्य म हुई है। इसलिए उनके द्वारा वाक्य रचना की तद्युगीन प्रणाली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन बडी आसानी से किया जा सकता है। इस प्रकार की सुविधा ऋग्वेद आदि ग्रथो मे उपलब्ध नही है। कारण यह कि ब्राह्मण ग्रथो के पूर्ववर्ती प्राय सभी वैदिक साहित्य की रचना मुख्यत छन्दोबद्ध रूप मे हुई है। अत छन्द के अनुरोध से शब्दो के क्रम म परिवर्तन का होना स्वाभाविक हो गया है। पूरी की पूरी ऋग्वेद सहिता छन्दो म आबद्ध है। इसलिए ऋग्वेद को छान्दस् की भी सज्ञा दी गई है और उसकी भाषा को छान्दस् कहा गया है। छान्दस् शब्द अब इतनी महत्ता प्राप्त कर चुका है कि सपूर्ण वैदिक भाषा के पर्याय रूप मे व्यवहृत होने लगा है।

निष्कर्ष यह कि मोटे तौर पर वैदिक भाषा का विकास 1500 ई० पू० से 800 ई० पू० के मध्य हुआ है। मोटे तौर पर कहने का तात्पर्य यह है कि वैदिक भाषा की उत्पत्ति एव विकास जिस लोकभाषा के सहारे हुआ होगा, वह ई० पू० 1500 के बहुत पहले से समाज मे बोलचाल के रूप मे रही होगी और दूसरी तरफ ई० पू० 800 के बाद भी सस्कृत की उत्पत्ति एव विकास के साथ साथ कई शताब्दियो तक वैदिक भाषा की गतिविधियो का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

यह भाषा लोकभाषा पर आधारित एवं विकासोन्मुखी साहित्यिक भाषा रही है, जिसके उत्तरोत्तर विकसित स्वरूप की झांकी ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों आदि तक देखी जा सकती है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम समय और देश की विभेदता से अनुप्राणित ऋग्वेद की भाषा छान्दस् के विकसित विविध स्वरूपों के दर्शन होते हैं और तत्पश्चात् ऋग्वेदोत्तर साहित्य के रूप में वैदिक भाषा की प्रभावशालिनी एवं अनवरत गति से प्रवाहित धारा की रमणीयता दिखाई पड़ती है।

संस्कृत

ऋग्वेद से लेकर उपनिषद् अथवा सूत्रग्रंथों आदि वेदांगों में प्रयुक्त वैदिक भाषा के पश्चात् साहित्यिक मंच पर जिस भाषा ने पदार्पण किया, वह थी संस्कृत। भारतीय आर्य भाषा के ऐतिहासिक विकास के मध्य समय के एक निश्चित बिंदु में संस्कृत के उद्भव एवं उसके विकास की रूपरेखा नहीं खींची जा सकती। किंतु इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि महर्षि पाणिनि के समय (ई० पू० 500 के लगभग) तक संस्कृत भाषा पूर्ण रूप से प्रकाश में आ चुकी थी, जिसके जनपदीय वैविध्य को दूर करने एवं उसे एक सर्वमान्य परिनिष्ठित भाषा का स्वरूप प्रदान करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर पाणिनि ने अष्टाध्यायी जैसे व्याकरण ग्रंथ का निर्माण किया। अतः संस्कृत की उत्पत्ति ई० पू० पांचवीं शताब्दी से पहले मानना ही उपयुक्त होगा। प्रायः अधिकांश विद्वानों ने भी इसकी उत्पत्ति का संभावित समय ई० पू० आठवीं शताब्दी स्वीकार किया है। डा० बाबूराम सक्सेना के शब्दों में 'वैदिक साहित्यिक भाषा जब लोकभाषा से अधिक भिन्न हो गई, तब ईसा के पूर्व सातवीं आठवीं सदी में वैदिकोत्तर संस्कृत भाषा साहित्य में लाई गई, जिसको पाणिनि के समय कठोर नियमों से जकड़ा गया।'[3]

संस्कृत भाषा के प्रकाशित होने के पूर्व वैदिक साहित्य में प्रयुक्त भाषा के अतिरिक्त मान्य लोक भाषाएं तीन रही हैं उदीच्य, मध्यदेशीय एवं प्राच्य। डा० चटर्जी ने उदीच्य भाषा को, जो पश्चिमोत्तरी (सप्तसिन्धु) प्रदेश की भाषा थी, संस्कृत का आधारभूत भाषा माना है। उनका स्पष्ट कथन है कि 'उसके तथा उसकी भाषा में सौभाग्य से इसी समय एक महान् वैयाकरण का पश्चिमोत्तर प्रदेश में उदय हुआ, जहां के जन साधारण की बोलियां भी अब तक 'छान्दस' तथा 'ब्राह्मण' रूप के ध्वनि विज्ञान तथा व्याकरण की दृष्टि से भी इतनी निकट थीं कि उनसे भिन्न प्रतीत न होकर केवल उनका एक लौकिक या प्रचलित रूप बनी हुई थीं। इस लौकिक रूप पर भी स्थानीय जनभाषाओं की शब्दावली तथा मुहावरों का प्रभाव पड़ चुका था। पाणिनि का जन्म गांधार में शालातुर (आधुनिक अटक नगर के समीप लाहोर या लाहौर) गांव में हुआ था, तथा उसकी शिक्षा तक्षशिला में हुई थी। ये दोनों ही स्थान उदीच्य प्रदेश में हैं।—अपने व्याकरण से उसने

बोलियों पर आधारित था और मध्यदेश, पूर्व तथा दक्षिण के भी अखिल ब्राह्मण जगत् ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।'[39]

डा० चटर्जी की इस मान्यता का अनुमोदन डा० उदय नारायण तिवारी, डा० हरिवंश कोछड़ प्रभृति विद्वानों ने भी किया है और उदीच्य को संस्कृत की जन्मदात्री भाषा माना है।[40] डा० तिवारी ने तो स्पष्ट लिखा है कि "पाणिनि तक्षशिला के समीप शालातुर के निवासी थे, औदिच्य होने के कारण वह शिष्ट समाज में, आदर्श रूप में स्वीकृत उदीच्य से पूर्ण परिचित थे। इन बातों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पाणिनि के व्याकरण की आदर्श भाषा 'उदीच्य' भाषा थी।'[41]

किंतु हमें ज्ञात है कि ई० पू० 800 तक आर्य सत्ता एवं उसकी भाषा पूर्व में गंगा-यमुना के दोआबे तक व्याप्त हो गई थी। आर्य संस्कृति का विकास धीरे-धीरे पूर्व दक्षिण की ओर होता चला जा रहा था। इतना ही नहीं बल्कि आज का पश्चिमी उत्तर प्रदेश आर्य संस्कृति का प्रमुख केन्द्र बन चुका था। इस बात की प्रामाणिकता स्वतः डा० तिवारी के निम्नलिखित कथन द्वारा भी सिद्ध होती है 'यजुर्वेद संहिता तथा प्राचीन ब्राह्मण ग्रंथों के प्रणयन के समय मध्यदेश (गंगा-यमुना का अन्तर्वर्ती प्रदेश) आर्य संस्कृति का केन्द्र बन चुका था।'[42]

अतः शालातुर के निवासी पाणिनि के जन्म स्थान के आधार पर पांचवीं शताब्दी के आसपास साहित्यिक मंच पर आसीन होने वाली संस्कृत भाषा को सुदूर पश्चिमोत्तर सप्तसिंधु प्रदेश की भाषा मानना उपयुक्त नहीं जान पड़ता है। संस्कृत भाषा किस प्रदेश विशेष की भाषा थी, इस संबंध में डा० शिव प्रसाद सिंह का यह कथन द्रष्टव्य है : 'लौकिक संस्कृत का अभ्युदय लगभग उसी प्रदेश में हुआ जिसमें कालान्तर में हिंदुस्तानी का जन्म हुआ, अर्थात् पंजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश।'[43] डा० देवेन्द्र कुमार जैन के निम्नलिखित कथन से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है

'इस प्रकार भाषा का एक रूप छान्दस तथा आर्ष था। यह भारतीय आर्य भाषा का प्राचीनतम तथा साहित्यिक रूप है। दूसरा रूप मध्यदेश का था। यह व्यवहार का माध्यम था। यह अपेक्षाकृत नया रूप था, जिसमें मध्यदेश और पूर्वी प्रादेशिक भाषाओं का यथेष्ट प्रभाव था। यह भाषा शिक्षण, धार्मिक कर्मकांड और दार्शनिक चिंतन के लिए प्रयुक्त होती थी।'[44]

इन विद्वानों की यह मान्यता आर्यों की भाषा एवं संस्कृति के 'क्रमिक' क्षेत्रीय

विकास के अनुरूप है। अत सस्कृत भाषा की जन्मभूमि पश्चिमी उत्तर प्रदेश एव पजाब का पूर्वी प्रदेश अर्थात मध्यदेश मानना ही उपयुक्त है, सप्तसिंधु प्रदेश नही।

सस्कृत भाषा का प्रसार, उसकी व्यापकता एव महत्व

समय की दृष्टि से भारतीय आर्य भाषाओ का जो वर्गीकरण किया गया है, उसके अनुसार सस्कृत का समय ई० पू० पाचवी सदी ठहरता है। किन्तु सस्कृत भाषा और उसके साहित्य की अखडित परपरा तीन शताब्दी बाद महर्षि पतजलि के समय से प्रारभ होती है। यह वह समय था, जब ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के ... ग के नियमो से परि- ... पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित ... ाने लगा था। यद्यपि साहित्यिक व्यक्तित्व को सीमा विशेष म नही बाधा जा सकता, किंतु यदि हम भारत के प्राचीन इतिहास के साथ सस्कृत के इतिहास का धारावाहिक अध्ययन करें ...

प्रभा साम्राज्य विशेष इतिहास क नभोमडल म चमका तब-तब सस्कृत साहित्य के समुद्र मे ज्वार आया, कवियो और पडितो ने अभूतपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया।"[46] यो तो आर्य जाति एव उसकी सस्कृति विकास के साथ जन्म से ही सस्कृत भाषा का प्रचार एव प्रसार हो रहा था, किन्तु इसकी वास्तविक उन्नति मौर्यकाल के अन्त स प्रारभ होती है।[47] गुप्तवशीय राजाओ के शासनकाल से लेकर लगभग ईसा की दसवी सदी तक सस्कृत की उन्नति होती रही।

मौर्यवशी राजाओ के शासनकाल म सस्कृत की अपेक्षा लोकभाषाओ को विशेष प्रश्रय मिला था। किन्तु शासन की बागडोर गुप्तवशी राजाओ के हाथ मे आने पर सस्कृत को पुन राजभाषा के पद पर एकाधिकार प्राप्त हुआ। इस भाषा न भारतीय शिक्षा एव संस्कृति का एक मात्र माध्यम बन राजभाषा एव अखिल भारतीय सपर्क भाषा के उत्तरदायित्व का एक साथ निर्वाह करना आरम किया। इस समय जितना उपयोगी धार्मिक एव ललित साहित्य सस्कृत म लिखा गया, सभवत उतना कई शताब्दियो के मध्य विश्व की किसी भाषा म नही। यह वह समय था, जिसमें कविकुल गुरु कालिदास ... लेखनो का ... वी समन्वय

स पूर्व एव उत्तर स दक्षिण तक सर्वत्र छा गयी। दक्षिण मे द्रविड प्रदेश पर भी

आगे चलकर उन्हे भी संस्कृत की आतरिक शक्ति के समक्ष झुकना पडा। आज भी जैनो एव बौद्धो की ऐसी अनेक कृतिया उपलब्ध है, जिनमे संस्कृत को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् कान्यकुब्ज और वलभी (गुजरात) दो ऐसे साहित्यिक केन्द्र प्रकाशित हुए, जहा पर संस्कृत की विशेष प्रतिष्ठा हुई। वलभी का साम्राज्य सूर्य कुछ ही दिनो म अस्त हो गया, किंतु कान्यकुब्ज का केन्द्र बाण (7वी सदी) से लेकर नैषधकार श्री हर्ष (12वी सदी) तक शिक्षा और साहित्य

लगा था। प्रशासनिक कार्यो म संस्कृत की अपेक्षा लोकभाषा को विशेष महत्व दिया जाने लगा था। संस्कृत अखिल भारतीय सपर्क भाषा, मुख्यत राजभाषा के

12वी सदी तक चलता रहा। कभी देश के उत्तर और कभी दक्षिण भाग मे छोटे-बडे एकाधिक केन्द्र प्रकाशित होते रहे, जहा पर संस्कृत की प्रतिष्ठा बनी रही।

रतीय

T, हा,

ह है।

वस्तुत संस्कृत

पूर्ण कडी है, जिसे डा

सास्कृतिक एकता की

समस्त भारत को देते हुए भारत के कण-कण से अपना अनुराग प्रकट किया और तदतर विश्व के रगमच पर पहुचकर अपनी प्रतिभा एव असीम आतरिक शक्ति का परिचय दिया, जिसके आलोक म विश्व अपने वास्तविक स्वरूप को देखने मे समर्थ हुआ।'[19] डा॰ विटरनित्ज ने लिखा है कि 'यदि हम अपनी संस्कृति के प्रारंभिक दिनो की अवस्था को जानने की इच्छा रखते हो, यदि हम सबसे पुरानी भारतीय संस्कृति को समझना चाहते हो तो हमे भारत की शरण लेनी पडेगी,

जहा एक भारोपीय जाति का प्राचीनतम साहित्य सुरक्षित है।'[30] डा० विंटरनित्ज जैसे विद्वान् का यह कथन इस भाषा के वास्तविक महत्त्व का परिचायक है।

यद्यपि संस्कृत का महान साहित्य संपूर्ण भारत के सम्मिलित प्रयास का फल है, किंतु उसका निजी केंद्र मध्यदेश ही रहा है। अत संस्कृत-साहित्य के द्वारा सामान्यत पूर्ण भारत और विशेषत मध्यदेश के विगत ढाई-तीन हजार वर्षों के मानसिक, बौद्धिक एव सांस्कृतिक विकास का परिचय प्राप्त होता है। डा० भोलाशकर व्यास के शब्दो मे 'संस्कृत साहित्य वह दृढ आधारशिला है जिस पर भारतीय संस्कृति तथा साहित्य की अट्टालिका खडी है। यह वह अक्षयदाय है जिसका उपयोग सभी प्रातीय भाषाओ और साहित्यो ने किया है। संस्कृत साहित्य की सभ्यता मूलत. ब्रह्मावर्त की सभ्यता है जिसने अपना क्षेत्र प्रसार कर हिमालय से सेतु तक और रत्नाकर से महोदधि तक के समस्त भारतवर्ष को एक सूत्र मे पिरोकर राष्ट्रीय एकता स्थापित की।'[31]

साहित्य शब्द के व्यापक अर्थ मे धर्म, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान सबधी जितने भी विषय हो सकते हैं तथा महाकाव्य, खडकाव्य, गीतिकाव्य, नाटक, कथा-आख्यायिका आदि जितनी भी काव्य विधाए हो सकती हैं, उन सबका समावेश हम संस्कृत साहित्य मे पाते हैं। संस्कृत मे केवल राजनीति, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित आदि के अमूल्य ग्रथों का ही प्रणयन नही हुआ है, बल्कि इसमे सगीत, नृत्य, अभिनय, कामशास्त्र आदि नाना विषयो से सबधित विभिन्न वैज्ञानिक शैलियो म लिखे हुए तमाम ग्रथो के भी दर्शन होते हैं। डा० चंद्रिका प्रसाद शुक्ल के शब्दो मे 'संस्कृत का प्रसार आर्य जाति का प्रसार है, उसकी सास्कृतिक प्रगति है। जहा-जहा आर्यजाति की संस्कृति फैली है, वहा वहा संस्कृत भाषा का विस्तार हुआ है। चार सहस्र वर्षों तक निरतर इस जाति ने अपनी विलक्षण बुद्धि का जादू इस भाषा म उतारा है। इस लबी अवधि के बीच आर्यों मे एक से एक उत्कृष्ट मेधावी हुए, एक से एक प्रकाड मनीषी जन्मे, सबने अपनी प्रज्ञा की उर्वरता से संस्कृत को सजाया। अनीश्वरवादी जैनो, बौद्धो और लोकायतो ने भी इसे अपनी सरस्वती से सरस किया।'[32]

विषय व्यापकता के साथ संस्कृत की रचना शैली मे भी अपूर्व मौलिकता दिखाई पडती है। संस्कृत की सूत्र शैली के समक्ष तो विश्व के मनीषियो को भी माथा टेकना पडा है। भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे तो इस भाषा का एकाधिकार रहा ही है अपितु विश्व के धर्म एव दर्शन के विकास का समुचित परिचय भी इसके ज्ञानालोक मे ही सभव है। इस कथन की सार्थकता डा० मेकडानेल के इन शब्दो मे देखी जा सकती है

'भारोपीय वश की केवल भारत निवासिनी ही शाखा ऐसी है, जिसने

वैदिक धर्म नामक एक बड़े जातीय धर्म और बौद्ध धर्म नामक एक बड़े सारभौम धर्म की रचना की। अन्य सभी शाखाओं ने इस क्षेत्र में मौलिकता न दिखाकर बहुत पहले से एक विदेशी धर्म को अपनाया। इसके अतिरिक्त भारतीयों ने स्वतन्त्रता से अनेक दर्शन सम्प्रदायों को विकसित किया, जिसमें उनकी ऊंची चिंतन शक्ति का प्रमाण मिलता है।'[53]

संस्कृतोत्तर परिनिष्ठित साहित्यिक भाषाओं (पालि, शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश) ने मध्यदेशीय भाषा के महती परंपरा का पालन करती हुई अपने-अपने समय में राजभाषा एवं अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा के गौरवमय पद को सुशोभित किया है। किंतु उसी जगह भारतीय आर्य भाषाओं एवं उनके साहित्य तथा प्राचीन भारत का इतिहास हमें यह भी जानकारी देता है कि संस्कृत मुसलमानी राज्य स्थापित होने के पूर्व अर्थात् अपभ्रंश काल तक एक परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त राजभाषा और राष्ट्रभाषा (अखिल भारतीय संपर्क भाषा) के गुरुतर उत्तरदायित्व को सभालती रही है। यह दूसरी बात है कि पालि, शौरसेनी प्राकृत एवं अपभ्रंश के होश सभालने पर इसका भार कुछ हल्का हो गया। डा० चन्द्रिका प्रसाद शुक्ल के शब्दों में 'बारहवीं शताब्दी तक प्रायः सभी भारतीय राज्यों में शासन कार्य संस्कृत में ही होता था। संपूर्ण भारत में संस्कृत राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी।'[54] डा० शुक्ल का यह वचन मिथ्या गौरवगान मात्र नहीं, बल्कि सत्यांश समन्वित है।

प्रो० ई० जे० राप्सन के कथन को दुहराते हुए सारांशतः कहा जा सकता है कि 'संस्कृत भी वैसी ही बोलचाल की भाषा थी, जैसी साहित्यिक अंग्रेजी है, जिसे हम बोलते हैं। संस्कृत उत्तर-पश्चिमी भारत की बोलचाल की भाषा थी, जिसके विकास का पता संपूर्ण साहित्य दे रहा है। • 'धीरे-धीरे यह सारे भारतवर्ष में फैल गई। प्रारंभ में एक जिले की, फिर एक वर्ण तथा धर्म की और अंत में यह सारे भारतवर्ष में धर्म, राजनीति एवं संस्कृति की एक भाषा बन गई। समय पाकर तो यह राष्ट्रीय भाषा बन गई और केवल तभी पदच्युत हुई, जब मुसलमानों ने हिंदू राष्ट्रीयता का विध्वंस किया।'[55]

मध्य भारतीय आर्यभाषा समूह के अंतर्गत वे प्राकृत अर्थात् लोकभाषाएं आती हैं, जिनके साहित्यिक स्वरूप का विकास 600 ई० पू० से 1000 ई० के मध्य हुआ है। इसलिए इन 1600 वर्षों के मध्य भारतीय आर्य-भाषाकाल को कुछ विद्वानों ने प्राकृतकाल भी कहा है और इन भाषाओं का वर्गीकरण करते हुए इन्हें प्रथम प्राकृत, द्वितीय प्राकृत एवं तृतीय प्राकृत की संज्ञा दी है।[56] और डा० उदय नारायण तिवारी ने इन्हें तीन पर्वों—प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय में बांटा है।[57]

यहा पर यह बात महत्त्वपूर्ण नही है कि मध्य भारतीय आर्यभाषा को पर्वों मे बाटना उपयुक्त है अथवा प्राकृतो मे, बल्कि महत्त्व इस बात का है कि डा० चटर्जी[49], श्री टी० डब्ल्यू० रायडेविस[50] प्रभृति विद्वानो ने मध्य भारतीय आर्य भाषाओ के विकास मे तीन सोपानो की आवश्यकता महसूस की है। अत विकास-क्रम की दृष्टि से मध्य भारतीय आर्य भाषाओ को निम्नलिखित तीन वर्गों मे वर्गीकृत करना अवांछित नही—

(क) प्रथम स्तर (600 ई० पू० से 200 ई० तक)—पालि एव अशोक के अभिलेख।
(ख) द्वितीय स्तर (200 ई० पू० से 600 ई० तक)—साहित्यिक प्राकृतें।
(ग) तृतीय स्तर (600 ई० से 1000 ई० तक)—अपभ्रंश भाषाए।

पालि

भारतीय आर्य-भाषाओ के विकास के प्रथम चरण की भाषाओ का लिखित रूप हमे बुद्ध वचन के रूप मे पालि साहित्य मे एव अशोक के अभिलेखों मे दिखाई पडता है।

'पालि' शब्द से इस बात का कुछ भी सकेत नही मिलता कि यह किस प्रदेश-विशेष की भाषा रही है। अत विद्वानों के बीच पालि की जन्मभूमि को लेकर काफी विवाद चलता रहा है। इस सबध मे पूर्वीय एव पाश्चात्य विद्वानो ने विभिन्न मतो का प्रतिपादन किया है, जिनपर एक दृष्टि डालना अपेक्षित है।

बौद्ध धर्मानुयायियों के अनुसार 'पालि' मागधी ही है तथा यही वह मूल भाषा है जिसमे भगवान् तथागत ने जनकल्याणकारी विश्वधर्म का उपदेश दिया था। परतु 'प्राकृत-भाषा' के वैयाकरणो ने जिस साहित्यिक मागधी भाषा का निरूपण किया है, वह प्रथमत 'पालि' से बहुत बाद की भाषा है और द्वितीय यह कि उसमे और पालि मे कुछ ऐसी मौलिक भिन्नताए हैं[60], जिनके आधार पर पालि को मागधी भाषा मानना उपयुक्त नही। इतना ही नही, मौर्यकाल के प्राचीन अभिलेखों से जिस मागधी भाषा का परिचय मिलता है अथवा अशोक के सारनाथ, रामपुरवा आदि पूर्वी अभिलेखो मे जिस भाषा का व्यवहार किया गया है, उसमे और पालि मे भी वही मौलिक भिन्नताए दृष्टिगोचर होती हैं जो परवर्ती साहित्यिक मागधी एव पालि म विद्यमान हैं। अत. किसी भी रूप मे पालि को मागधी नही माना जा सकता।

एक ओर वेस्टर गार्ड तथा ई० कुहन ने पालि को उज्जैन प्रदेश की बोली माना है, डा० ओल्डेनबर्ग एव डा० ई० मुलर ने पालि को कलिंग देश की भाषा स्वीकार किया है तथा पालि एव पंजाबी मे अत्यधिक साम्य की सभावना कर आर० ओ० फ्रंक एव स्टेन कोनो ने इन दोनो को विध्यप्रदेश की बोली मानने के

वैदिक धर्म नामक एक बड़े जातीय धर्म और बौद्ध धर्म नामक एक बड़े सार्वभौम धर्म की रचना की। अन्य सभी शाखाओं ने इस क्षेत्र में मौलिकता न दिखाकर बहुत पहले से एक विदेशी धर्म को अपनाया। इसके अतिरिक्त भारतीयों ने स्वतत्रता से अनेक दर्शन सम्प्रदायों को विकसित किया, जिससे उनकी ऊंची चितन शक्ति का प्रमाण मिलता है।'[53]

सस्कृतोत्तर परिनिष्ठित साहित्यिक भाषाओं (पालि, शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रश) ने मध्यदेशीय भाषा के महती परपरा का पालन करती हुई अपने-अपने समय में राजभाषा एवं अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा के गौरवमय पद को सुशोभित किया है। किंतु उसी जगह भारतीय आर्य भाषाओं एवं उनके साहित्य तथा प्राचीन भारत का इतिहास हमें यह भी जानकारी देता है कि सस्कृत मुसलमानी राज्य स्थापित होने के पूर्व अर्थात् अपभ्रश काल तक एक परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त राजभाषा और राष्ट्रभाषा (अखिल भारतीय सपर्क भाषा) के गुरुत्तर उत्तरदायित्व को सभालती रही है। यह दूसरी बात है कि पालि, शौरसेनी प्राकृत एवं अपभ्रश के होश सभालने पर इसका भार कुछ हल्का हो गया। डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल के शब्दों में 'बारहवी शताब्दी तक प्राय सभी भारतीय राज्यों में शासन कार्य सस्कृत में ही होता था। सपूर्ण भारत म सस्कृत राष्ट्रभाषा के रूप म प्रतिष्ठित थी।[54] डा० शुक्ल का यह कथन मिथ्या गौरवगान मात्र नहीं, बल्कि सत्यांश समन्वित है।

प्रो० ई० जे० राप्सन के कथन को दुहराते हुए सारांशत कहा जा सकता है कि 'सस्कृत भी वैसी ही बोलचाल की भाषा थी, जैसी साहित्यिक अंग्रेजी है, जिसे हम बोलते हैं। सस्कृत उत्तर पश्चिमी भारत की बोलचाल की भाषा थी, जिसके विकास का पता सपूर्ण साहित्य दे रहा है। • धीरे-धीरे यह सारे भारतवर्ष म फैल गई। प्रारभ मे एक जिले की, फिर एक वर्ण तथा धर्म की और अत में यह सारे भारतवर्ष मे धर्म, राजनीति एवं सस्कृति की एक भाषा बन गई। समय पाकर तो यह राष्ट्रीय भाषा बन गई और केवल तभी पदच्युत हुई, जब मुसलमानों ने हिंदू राष्ट्रीयता का विध्वस किया।[55]

मध्य भारतीय आर्यभाषा समूह के अतर्गत वे प्राकृत अर्थात् लोकभाषाएं आती हैं, जिनके साहित्यिक स्वरूप का विकास 600 ई० पू० से 1000 ई० के मध्य हुआ है। इसलिए इन 1600 वर्षों के मध्य भारतीय आर्य-भाषाकाल को कुछ विद्वानों ने प्राकृतकाल भी कहा है और इन भाषाओं का वर्गीकरण करते हुए इन्हें प्रथम प्राकृत, द्वितीय प्राकृत एवं तृतीय प्राकृत की सज्ञा दी है।[56] और डा० उदय नारायण तिवारी ने इन्हें तीन पर्वों—प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय मे बाटा है।[57]

यहां पर यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है कि मध्य भारतीय आर्यभाषा को पर्वों में बांटना उपयुक्त है अथवा प्राकृतों में, बल्कि महत्त्व इस बात का है कि डा० चटर्जी[57], श्री टी० डब्ल्यू० रायडेविस[58] प्रभृति विद्वानों ने मध्य भारतीय आर्य भाषाओं के विकास में तीन सोपानों की आवश्यकता महसूस की है। अतः विकास-क्रम की दृष्टि से मध्य भारतीय आर्य भाषाओं को निम्नलिखित तीन वर्गों में वर्गीकृत करना अवांछित नहीं—

(क) प्रथम स्तर (600 ई० पू० से 200 ई० तक)—पालि एवं अशोक के अभिलेख।

(ख) द्वितीय स्तर (200 ई० पू० से 600 ई० तक)—साहित्यिक प्राकृतें।

(ग) तृतीय स्तर (600 ई० से 1000 ई० तक)—अपभ्रंश भाषाएं।

पालि

[illegible] का लिखित

[illegible] में दिखाई

५०।। है।

'पालि' शब्द से इस बात का कुछ भी संकेत नहीं मिलता कि यह किस प्रदेश-विशेष की भाषा रही है। अतः विद्वानों के बीच पालि की जन्मभूमि को लेकर काफी विवाद चलता रहा है। इस संबंध में पूर्वीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने विभिन्न मतों का प्रतिपादन किया है, जिनपर एक दृष्टि डालना अपेक्षित है।

बौद्ध धर्मानुयायियों के अनुसार 'पालि' मागधी ही है तथा यही वह मूल भाषा है जिसमें भगवान् तथागत ने जनकल्याणकारी विश्वधर्म का उपदेश दिया था। परन्तु 'प्राकृत-भाषा' के वैयाकरणों ने जिस साहित्यिक मागधी भाषा का निरूपण किया है, वह प्रथमतः 'पालि' से बहुत बाद की भाषा है और द्वितीय यह कि उसमें और पालि में कुछ ऐसी मौलिक भिन्नताएं हैं[60], जिनके आधार पर पालि को मागधी भाषा मानना उपयुक्त नहीं। इतना ही नहीं, मौर्यकाल के प्राचीन अभिलेखों से जिस मागधी भाषा का परिचय मिलता है अथवा अशोक के सारनाथ, रामपुरवा आदि पूर्वी अभिलेखों में जिस भाषा का व्यवहार किया गया है, उसमें और पालि में भी वही मौलिक भिन्नताएं दृष्टिगोचर होती हैं जो परवर्ती साहित्यिक मागधी एवं पालि में विद्यमान हैं। अतः किसी भी रूप में पालि को मागधी नहीं माना जा सकता।

एक ओर वेस्टर गार्ड तथा ई० कुह्न ने पालि को उज्जैन प्रदेश की बोली माना है, डा० ओल्डेनबर्ग एवं डा० ई० मुलर ने पालि को कलिंग देश की भाषा स्वीकार किया है तथा पालि एवं पैशाची में अत्यधिक साम्य की संभावना कर आर० ओ० फ्रैंक एवं स्टेन कोनो ने इन दोनों को विंध्यप्रदेश की बोली मानने के

पक्ष का समर्थन किया है तो दूसरी ओर मैक्सवालेसर ने पालि शब्द का उद्गम पाटलिपुत्र से बतलाते हुए इसे मगध की भाषा माना है। ग्रियर्सन ने भी पालि भाषा पर कुछ मागधी और पैशाची के प्रभाव को देखकर इसे मगध की भाषा स्वीकार किया है। इनके अनुसार पालि मागधी का वह साहित्यिक रूप है जो तक्षशिला में शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयुक्त होता था। प्रो० रीज डेविड्स ने पालि को कौशल प्रदेश की बोली स्वीकार किया है। उनके मतानुसार यह बुद्ध की मातृभाषा थी। चूंकि बुद्ध ने अपने को कौशल प्रदेश का क्षत्रिय (कौसल खत्रिय) कहा है, अतः यह निश्चित ही कौशल की भाषा रही होगी। विंडिश, गायगर, चाइल्डस, विंटरनित्ज जैसे विद्वानों ने भी इसे किसी न किसी रूप में मगध की ही भाषा स्वीकार किया है।

परंतु आज यह तथ्य प्रकाशित हो चुका है कि पालि न तो विंध्यप्रदेश एवं कलिंग की भाषा है और न कौशल एवं मगध की बल्कि यह संस्कृत के समानांतर विकसित होने वाली उज्जैन से मथुरा तक के भू-भाग की लोक भाषा पर आधारित एक मध्यदेशीय साहित्यिक भाषा है। सर्वश्री ल्यूडर्स, सिल्वा लेवी, डा० कीथ, प्रो० टर्नर एवं डा० सुनीति कुमार चटर्जी जैसे प्रसिद्ध भाषाशास्त्रियों ने पुष्कल प्रमाणों के आधार पर इस भाषा को मध्यदेश की प्राचीन लोकभाषा सिद्ध किया है। डा० चटर्जी के अनुसार पालि का मूलाधार मागधी न होकर मध्यदेशीय प्राकृत है, उसका शौरसेनी से प्रचुर साम्य है तथा वह शौरसेनी का वह रूप है जिसमें पश्चिमोत्तर प्राकृत तथा अन्य आर्य विभाषाओं के कई आर्ष प्रयोग घुल-मिल गए हैं।[61] डा० चटर्जी ने लिखा है कि पालि भाषा को गलती से मगध या दक्षिण बिहार की प्राचीन भाषा मान लिया जाता है वैसे यह उज्जैन से मथुरा तक के मध्यदेश के भूभाग की भाषा पर आधारित साहित्यिक भाषा है। वस्तुतः इसे पश्चिमी हिंदी का एक प्राचीन रूप कहना ही उचित होगा।[62]

सारांश यह कि पालि मध्यदेश के उस भू भाग-विशेष की लोक भाषा रही है, जहां पर कालांतर में ब्रजभाषा ने जन्म लिया। अतः पालि की जन्मभूमि मध्यदेश, शूरसेन प्रदेश है।

पालि भाषा की उत्पत्ति, विकास एवं महत्त्व

जिस समय संस्कृत भाषा साहित्य, दर्शन और अन्य ज्ञान-विज्ञान के विषयों के अध्ययन अध्यापन का माध्यम बन रही थी, वैयाकरणों के द्वारा कठोर नियम-शृंखला में आबद्ध हो जाने के कारण उसका जन सामान्य से संबंध विच्छेद होने लगा था और उसमें एक जीवंत भाषा के लिए आवश्यक स्वाभाविक विकास की गति का अभाव दिखाई पड़ने लगा था, उसी समय आर्यावर्त में एकाधिक लोक यानी प्राकृत भाषाएं सिर उठाने लगी थीं। इनमें साहित्यिक मंच पर जिस भाषा

ने सर्वप्रथम पदार्पण किया, वह थी संस्कृत भाषा के ठीक समानांतर विकसित होने वाली शूरसेन प्रदेश की एक बोली, जिसे कालांतर में पालि नाम से पुकारा गया। इस प्रकार संस्कृत और पालि दोनों समानांतर विकसित होने वाली मध्यदेशीय भाषाएं हैं। जिस प्रकार नव्यभाषाओं में ब्रज एवं खड़ी बोली दोनों की उत्पत्ति एवं विकास साथ-साथ हुआ है, ठीक उसी प्रकार इन दोनों भाषाओं की उत्पत्ति एवं विकास को भी समझना चाहिए। अपनी अनुकूल परिस्थितियों के फलस्वरूप जैसे ब्रजभाषा ने खड़ी बोली की अपेक्षा पहले साहित्यिक बाना पहन लिया, वैसे ही संस्कृत को पालि की तुलना में साहित्यिक भाषा का गौरवमय पद सुशोभित करने का अवसर पहले मिला। किंतु मुसलमानी शासन की समाप्ति के कुछ वर्षों बाद जिस प्रकार खड़ी बोली के आंदोलन ने खड़ी बोली को हर एक तरह से समृद्ध कर उसे एक सशक्त साहित्यिक भाषा का पद प्रदान किया, ठीक वैसे ही संस्कृत को शिष्ट समुदाय की भाषा के रूप में स्वीकृत होने पर भगवान बुद्ध एवं महावीर स्वामी जैसे महापुरुषों के द्वारा किए गए जनभाषा-आंदोलन ने पालि को विशेष रूप में प्रकाशित किया। अब पालि महात्मा बुद्ध जैसे प्रबल समर्थक को पाकर संपूर्ण भारतवर्ष में फैल गई और तथागत के धर्मोपदेश का एकमात्र माध्यम बन साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित होने लगी।

एक साहित्यिक भाषा के रूप में पालि का मुख्य विकास मध्यभारतीय आर्य भाषाओं के संक्रान्तिकाल यानी 200 ई० पूर्व से 200 ई० के मध्य हुआ। लोक-भाषा की आधारशिला पर प्रतिष्ठित यह भाषा एक तरह से संस्कृत भाषा की प्रतिस्पर्धिनी बन जातक के रूप में भारत की लोक कथाओं के संकलित तथा बौद्ध दर्शन एवं साहित्य के लिपिबद्ध होने के पश्चात् एक शक्तिशाली भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। आगे चलकर इसने अखिल देशीय सम्पर्क भाषा के साथ-साथ राज-काज के कार्यों में भी हाथ बटाया। एक ओर सम्पूर्ण भारत एवं भारत के बाहर विदेशों में इस भाषा का प्रचार-प्रसार बौद्ध भिक्षुओं द्वारा हुआ तो दूसरी ओर इसके विकास में जैन आचार्यों ने भी काफी योग दिया। ई० पू० एवं पश्चात् की एकाधिक शताब्दियों के मध्य मथुरा जैन-धर्म का प्रधान केन्द्र था। अतः जैन धर्मावलम्बियों को इस भाषा से परिचित होना स्वाभाविक था। जैन आचार्यों के साथ मध्यदेश की यह भाषा कलिंग तक पहुंची। खारवेल ने इसी भाषा में हाथी गुफा शिलालेख अंकित कराया।[63]

मौर्य राजाओं के शासनकाल में कुछ समय के लिए अवश्य ही इस भाषा का सम्मान घटता हुआ दिखाई पड़ता है। क्योंकि अशोक की राजभाषा एक पूर्वी बोली थी और डा० चटर्जी के शब्दों में 'मौर्यों के राजत्व काल में समस्त आर्यावर्त में यही भाषा सर्वत्र समझी जाती और प्रयुक्त होती थी[64] तथा पालि राजकीय और शासन-सम्बन्धी कार्यों के बाहर अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत थी।'[65] किन्तु

प्राच्य भाषा का यह आधिपत्य बहुत दिनों तक कायम न रहा और अशोक के काल में ही पालि ने प्राच्य भाषा को दबाकर मध्यदेशीय प्रमुत्व की परम्परा को पुनः शृंखलित किया। आगे चलकर इसने संस्कृत के भार को हलका करती हुई शासन के कार्यों में तो हाथ बटाया ही, अपितु अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा के साथ, लंका, चीन, ब्रह्मा, स्याम आदि देशों में पहुंच कर अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के अपूर्व पद [illegible] ने एक परिनिष्ठित भाषा के रूप में [illegible] रखा, साथ ही राष्ट्रभाषा से ऊपर [illegible] की मधुर झांकी दिखाई। वस्तुतः प्राचीन भारतीय आर्यभाषा एवं नव्य भारतीय आर्य भाषा के बीच की स्थितियों को समझने के लिए पालि एक महत्वपूर्ण कड़ी है, संस्कृत से हिन्दी तक पहुंचने के लिए प्रथम सोपान है।

प्राकृत

मध्य भारतीय आर्य भाषा के विकास के दूसरे सोपान में जिन जन अथवा लोक भाषाओं ने उठकर साहित्यिक रूप ग्रहण किया, उन्हें प्राकृत की संज्ञा दी गई। इस काल में अनेक प्राकृतों का उल्लेख मिलता है। भरत के नाट्यशास्त्र में सात प्रकार के प्राकृतों की चर्चा हुई है—शौरसेनी, मागधी, अर्ध-मागधी, दाक्षिणात्य, वाह्लीकी, आवन्ती तथा प्राच्या। प्रथम प्राकृत वैयाकरण वररुचि ने प्राकृत के चार भेद किये हैं। उन्होंने अपने 'प्राकृत-प्रकाश' के नौ परिच्छेदों में महाराष्ट्री का व्याकरण लिखा है, दसवें में पैशाची, ग्यारहवें में मागधी और बारहवें में शौरसेनी के स्वरूप की व्याख्या की है। वैयाकरण चण्ड ने 'प्राकृत-लक्षण' में महाराष्ट्री के अतिरिक्त शौरसेनी, पैशाची के साथ अपभ्रंश का भी गौणरूप में वर्णन किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी महाराष्ट्री को सामान्य प्राकृत के रूप में उसका विस्तृत विवेचन किया है, साथ ही शौरसेनी, मागधी, अर्ध-मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश की विशेषताएं भी अंकित की हैं। 'साहित्य दर्पण' में बारह प्रकार के प्राकृतों की गणना की गई है, तो 'प्राकृतलंकेश्वर' में सोलह और 'प्राकृत चन्द्रिका' में सत्ताइस की। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से सिर्फ पांच का विशेष महत्व है। शेष साहित्य से कोरी होने के कारण काल कवलित हो चुकी है। पैशाची, मागधी, अर्ध-मागधी, शौरसेनी एवं महाराष्ट्री ही मध्य भारतीय आर्य-भाषा काल की ऐसी प्राकृतें हैं जिन्हें स्वतंत्र रूप से साहित्यिक रचना का माध्यम तो बनाया ही गया, साथ ही संस्कृत-काव्यों में भी समुचित स्थान प्रदान किया गया है।

पैशाची पिशाचों की भाषा थी। पिशाच भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश के उन अनार्यों को कहा जाता था, जिनकी संस्कृति आर्यों से भिन्न थी। पैशाची प्राकृत

के महत्त्व का एकमात्र आधार गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' रही है, परन्तु अब यह कृति काल कवलित हो चुकी है, इसका संस्कृत रूपान्तर ही उपलब्ध है। पैशाची के मूल स्थान को लेकर भी काफी विवाद है। कुछ विद्वान् इसे मध्य भारत की भाषा मानते हैं, किन्तु बहुमत इसे पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा स्वीकार करता है।

मागधी प्राकृत मूलत. मगध की जनभाषा थी। धीरे-धीरे यह साहित्यिक भाषा बनी। संस्कृत नाटकों में निम्न पात्रों के कथोपकथन के लिए इसका प्रयोग हुआ है। इसमें कुछ लेख भी प्राप्त हुए हैं।

अर्धमागधी अवध और काशी जनपदों की जनभाषा पर आधारित एक साहित्यिक भाषा रही है और इसकी जन्मभूमि शूरसेन एवं मगध के बीच का प्रदेश रहा है। इस भाषा का झुकाव मागधी की अपेक्षा शौरसेनी की ओर अधिक दिखलाई पड़ता है। जैन आचार्यों की यह साहित्यिक भाषा तो थी ही, साथ ही संस्कृत नाटकों में भी इसका व्यवहार हुआ है।

शौरसेनी प्राकृत मूलत शूरसेन प्रदेश (मथुरा के आसपास) की भाषा थी। संस्कृत और पालि के पश्चात् इसीने परिनिष्ठित भाषा परम्परा के उत्तरदायित्व का भार वहन किया। मुख्यत यह गद्य की भाषा रही है और संस्कृत नाटकों में ब्राह्मण एवं नायक से इतर पात्रों के कथोपकथन में इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है। मध्यदेशीय भाषा होने के कारण प्राकृतों के मध्य इसका विशेष आदर था, यह संस्कृत के समीप तो थी ही, साथ ही अखिल देशीय सम्पर्क भाषा एवं राजभाषा की गरिमा से भी मंडित थी। दिगम्बर मतावलम्बी जैनों का सिद्धान्त-साहित्य भी इसी भाषा में निर्मित है।

मागधी और शौरसेनी प्राकृतों के नामकरण के पीछे जनपदीय आधार को पाते हुए विद्वानों ने महाराष्ट्रीय प्राकृत को 'महाराष्ट्राश्रित' तथा श्रेष्ठ प्राकृत बतलाया है।[66] दण्डी से भी पहले वररुचि ने इस मान्यता का संकेत करते हुए महाराष्ट्री से इतर प्राकृतों के विषय में 'शेष महाराष्ट्रीवत्' का विधान किया है।[67] इन्हीं के प्रकाश में डा० भंडारकर ने भी महाराष्ट्री को महाराष्ट्र प्रदेश से सम्बन्धित माना है। उनके अनुसार सेतुबंध, गाथा सप्तशती, गौडवध काव्य आदि, पर आश्रित महाराष्ट्री शौरसेनी से भिन्न है। श्री पिशेल और जूल ब्लाक ने भी महाराष्ट्री प्राकृत को मराठी भाषा की सुदूर पूर्वजा माना है।

किन्तु भाषाओं की सूक्ष्म गवेषणा तथा नवीन शोध के आधार पर उपर्युक्त मान्यता निराधार प्रमाणित हो चुकी है। सन् 1933 में डा० मनमोहन घोष ने अपने निबन्ध 'महाराष्ट्री : शौरसेनी का परवर्ती रूप'[68] में पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि महाराष्ट्री प्राकृत का सम्बन्ध महाराष्ट्र से जोड़ना अस्वाभाविक है। डा० घोष के अनुसार महाराष्ट्री अपनी आद्यावस्था में शौरसेनी का ही एक परवरूप थी, जिसे दक्षिण में ले जाया गया और वहां उसमें

प्राच्य भाषा का यह आधिपत्य बहुत दिनों तक कायम न रहा और अशोक के काल में ही पालि ने प्राच्य भाषा को दबाकर मध्यदेशीय प्रमुत्व की परम्परा को पुनः शृंखलित किया। आगे चलकर इसने संस्कृत के भार को हलका करती हुई शासन के कार्यों में तो हाथ बटाया ही, अपितु अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा के साथ, लंका, चीन, ब्रह्मा, स्याम आदि देशों में पहुंच कर अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के अपूर्व पद को भी सुशोभित किया। इस प्रकार इस भाषा ने एक परिनिष्ठित भाषा के रूप में मध्यदेश की राजभाषा परम्परा को कायम रखा, साथ ही राष्ट्रभाषा से ऊपर उठकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी अपने प्रमुत्व की मधुर झांकी दिखाई। वस्तुतः प्राचीन भारतीय आर्यभाषा एवं नव्य भारतीय आर्य भाषा के बीच की स्थितियों को समझने के लिए पालि एक महत्वपूर्ण कड़ी है, संस्कृत से हिन्दी तक पहुंचने के लिए प्रथम सोपान है।

प्राकृत

मध्य भारतीय आर्य भाषा के विकास के दूसरे सोपान में जिन जन अथवा लोक भाषाओं ने उठकर साहित्यिक रूप ग्रहण किया, उन्हें प्राकृत की संज्ञा दी गई। इस काल में अनेक प्राकृतों का उल्लेख मिलता है। भरत के नाट्यशास्त्र में सात प्रकार के प्राकृतों की चर्चा हुई है—शौरसेनी, मागधी, अर्ध-मागधी, दाक्षिणात्य, बाह्लीकी, आवन्ती तथा प्राच्या। प्रथम प्राकृत वैयाकरण वररुचि ने प्राकृत के चार भेद किये हैं। उन्होंने अपने 'प्राकृत प्रकाश' के नौ परिच्छेदों में महाराष्ट्री का व्याकरण लिखा है, दसवें में पैशाची, ग्यारहवें में मागधी और बारहवें में शौरसेनी के स्वरूप की व्याख्या की है। वैयाकरण चण्ड ने 'प्राकृत-लक्षण' में महाराष्ट्री के अतिरिक्त शौरसेनी, पैशाची के साथ अपभ्रंश का भी गौणरूप में वर्णन किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी महाराष्ट्री को सामान्य प्राकृत के रूप में उसका विस्तृत विवेचन किया है, साथ ही शौरसेनी, मागधी, अर्ध-मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश की विशेषताएं भी अंकित की हैं। 'साहित्य दर्पण' में बारह प्रकार के प्राकृतों की गणना की गई है, तो 'प्राकृतलंकेश्वर' में सोलह और 'प्राकृत चन्द्रिका' में सत्ताइस की। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से सिर्फ पांच का विशेष महत्व है। शेष साहित्य से कोरी होने के कारण काल कवलित हो चुकी हैं। पैशाची, मागधी, अर्ध-मागधी, शौरसेनी एवं महाराष्ट्री ही मध्य भारतीय आर्य-भाषा काल की ऐसी प्राकृतें हैं जिन्हें स्वतंत्र रूप से साहित्यिक रचना का माध्यम तो बनाया ही गया, साथ ही संस्कृत काव्यों में भी समुचित स्थान प्रदान किया गया है।

पैशाची पिशाचों की भाषा थी। पिशाच भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश के उन अनार्यों को कहा जाता था, जिनकी संस्कृति आर्यों से भिन्न थी। पैशाची प्राकृत

के महत्त्व का एकमात्र आधार गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' रही है, परन्तु अब यह कृति काल कवलित हो चुकी है, इसका संस्कृत रूपान्तर ही उपलब्ध है। पैशाची के मूल स्थान को लेकर भी काफी विवाद है। कुछ विद्वान् इसे मध्य भारत की भाषा मानते हैं, किन्तु बहुमत इसे पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा स्वीकार करता है।

मागधी प्राकृत मूलतः मगध की जनभाषा थी। धीरे-धीरे यह साहित्यिक भाषा बनी। संस्कृत नाटकों में निम्न पात्रों के कथोपकथन के लिए इसका प्रयोग हुआ है। इसमें कुछ लेख भी प्राप्त हुए हैं।

अर्ध-मागधी वत्स और काशी जनपदों की जनभाषा पर आधारित एक साहित्यिक भाषा रही है और इसकी जन्मभूमि शूरसेन एवं मगध के बीच का प्रदेश रहा है। इस भाषा का झुकाव मागधी की अपेक्षा शौरसेनी की ओर अधिक दिखलाई पड़ता है। जैन आचार्यों की यह साहित्यिक भाषा तो थी ही, साथ ही संस्कृत नाटकों में भी इसका व्यवहार हुआ है।

शौरसेनी प्राकृत मूलतः शूरसेन प्रदेश (मथुरा के आसपास) की भाषा थी। संस्कृत और पालि के पश्चात् इसीने परिनिष्ठित भाषा परम्परा के उत्तरदायित्व का भार वहन किया। मुख्यतः यह गद्य की भाषा रही है और संस्कृत नाटकों में ब्राह्मण एवं नायक से इतर पात्रों के कथोपकथन में इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है। मध्यदेशीय भाषा होने के कारण प्राकृतों के मध्य इसका विशेष आदर था, यह संस्कृत के समीप तो थी ही, साथ ही अखिल देशीय सम्पर्क भाषा एवं राजभाषा की गरिमा से भी मंडित थी। दिगम्बर मतावलम्बी जैनों का सिद्धान्त-साहित्य भी इसी भाषा में निर्मित है।

मागधी और शौरसेनी प्राकृतों के नामकरण के पीछे जनपदीय आधार को पाते हुए विद्वानों ने महाराष्ट्रीय प्राकृत को 'महाराष्ट्राश्रित' तथा श्रेष्ठ प्राकृत बतलाया है।[66] दण्डी से भी पहले वररुचि ने इस मान्यता का संकेत करते हुए महाराष्ट्री से इतर प्राकृतों के विषय में 'शेषं महाराष्ट्रीवत्' का विधान किया है।[67] इन्हीं के प्रकाश में डा० भंडारकर ने भी महाराष्ट्री को महाराष्ट्र प्रदेश से सम्बन्धित माना है। उनके अनुसार सेतुबंध, गाथा सप्तशती, गौडवध काव्य आदि, पर आश्रित महाराष्ट्री शौरसेनी से भिन्न है। श्री पिशेल और जूल ब्लाक ने भी महाराष्ट्री प्राकृत को मराठी भाषा की सुदूर पूर्वजा माना है।

किन्तु भाषाओं की सूक्ष्म गवेषणा तथा नवीन शोध के आधार पर उपर्युक्त मान्यता निराधार प्रमाणित हो चुकी है। सन् 1933 में डा० मनमोहन घोष ने अपने निबन्ध 'महाराष्ट्री - शौरसेनी का परवर्ती रूप'[68] में पुष्कल प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि महाराष्ट्री प्राकृत का सम्बन्ध महाराष्ट्र से जोड़ना अस्वाभाविक है। डा० घोष के अनुसार महाराष्ट्री अपनी आद्यावस्था में शौरसेनी का ही एक पद्यरूप थी, जिसे दक्षिण में ले जाया गया और वहां उसमें

स्थानीय प्राकृत के शब्द तथा रूप आ जाने पर उसका वहा के साहित्य मे उपयोग किया गया। दक्कन या महाराष्ट्र से इस भाषा को काव्य के एक श्रेष्ठ माध्यम के रूप म उत्तरी भारत मे पुन लाया गया।[69] अन्त मे डा० घोष इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि दण्डी के उद्धरण के आधार पर इस प्राकृत को भले ही महाराष्ट्री कहा जाय, किन्तु इसका महाराष्ट्र मे उदित बोली-विशेष से कोई सम्बन्ध न था। यदि भौगोलिक क्षेत्र से उसका सम्बन्ध स्थापित करना ही हो तो उसे मध्यदेश से सम्बद्ध कह सकते हैं। वस्तुत यह शूरसेन प्रदेश की भाषा है।[70] डा० घोष से मिलती-जुलती धारणा कुछ और भी भाषाविदो की रही है। इस प्रसग मे जान बीम्स का यह कथन उद्धृत किया जा सकता है :

'सभवत यह मान लेना जल्दबाजी होगी कि मराठी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत की वशानुगत उत्तराधिकारिणी है।'[71]

इस प्रकार महाराष्ट्री प्राकृत महाराष्ट्र की जनभाषा पर आधारित न होकर शौरसेनी का विकसित स्वरूप सिद्ध होती है। यह प्राकृतो मे सबस उत्तम मानी गयी है। काव्य भाषा के रूप मे इसका व्यवहार प्राय सम्पूर्ण उत्तर भारत मे होता था। प्राकृत साहित्य का तीन चौथाई भाग इसी भाषा म लिखा हुआ मिलता है। सतुबध, गाथा सप्तशती, वज्जालग्ग, गउडवहो, कुमारपाल चरित आदि प्राकृत के सभी महत्वपूर्ण प्रबधकाव्य और गीतिकाव्य महाराष्ट्री प्राकृत मे ही लिखे हुए हैं। ब्रज भाषा के समान प्राय यह गीतो (Lyrics) की भाषा रही है[72] और इसका पूर्ववर्ती स्वरूप शौरसेनी गद्य की। सस्कृत नाटको के स्त्रीपात्र तथा विदूषक आदि वार्तालाप तो शौरसेनी मे करते है, परन्तु गीत महाराष्ट्री मे गाते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के कई जैन ग्रन्थो के गद्य भाग शौरसेनी मे हैं और पद्य महाराष्ट्री मे।

शौरसेनी प्राकृत का महत्व

शौरसेनी प्राकृत अपने जमाने की एक परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा रही है। मध्यदेशीय भाषा परम्परा की एक महत्वपूर्ण कडी होने के कारण इसका प्रचार एव प्रसार उत्तरापथ से लेकर दक्षिणापथ तक रहा है। अपनी दोनो शैलियो (गद्य एव पद्य अर्थात् शौरसेनी एव महाराष्ट्री) के रूप मे यह तत्कालीन भारतीय साहित्य मे छा गई थी। सम्पूर्ण उत्तर भारत की काव्य-भाषा तो यह थी ही, दक्षिण की भाषाओ पर भी इसका कम प्रभाव नही था।[73] विभिन्न प्राकृतो के मध्य यह सबसे अधिक सौष्ठव एव लालित्यपूर्ण समझी जाती थी। महाकवि राजशेखर ने तो इसे सस्कृत से भी कोमल घोषित किया है। उनकी दृष्टि म

संस्कृत तथा प्राकृत काव्य में वही भेद है जो पुरुष तथा रमणी में है।[74]

शौरसेनी का साहित्य तत्कालीन भारत का सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक चित्र आँखों के सामने खड़ा कर देता है। इस भाषा को धर्माश्रय, लोकाश्रय एवं राजाश्रय सब कुछ प्राप्त था। इस भाषा में जैन आचार्यों की धार्मिक सम्पदा तो मिलती ही है, मानव धर्म सम्बन्धी फुटकर रचनाएं भी कम नहीं हैं। एक ओर इसमें लोक-जीवन की सजीव अभिव्यक्ति के असीम सौन्दर्य का दर्शन होता है, तो दूसरी ओर अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा के पद को सुशोभित करने वाली गरिमा का। शौरसेनी प्राकृत के सन्दर्भ में विचार करते हुए श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने—

'सर्वास्वेव हि शुद्धासु जातिषु द्विज सत्तमा।
शौरसेनीं समाश्रित्य भाषा काव्येषु योजयेत्॥'[75]

के प्रकाश में इसे उस समय की चलित राष्ट्रभाषा स्वीकार किया है।[76] डा० श्याम-सुन्दर दास की भी महाराष्ट्री के प्रति इसी प्रकार की धारणा है।[77] यह भाषा राजभाषा के रूप में भी काफी समय तक व्यवहृत हुई है। मौर्यों का अन्त होने पर वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के साथ संस्कृत को काफी प्रतिष्ठा हुई। फिर भी कलिंग के जैन राजाओं ने इसे राजभाषा का महत्त्व दिया। वैदिक धर्मावलम्बी आन्ध्रवंशी राजाओं के शासन काल में भी यह राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित थी। सातवाहन, प्रवरसेन, यशोधर्मन् आदि परवर्ती राजाओं के शासनकाल में भी इसकी काफी प्रतिष्ठा रही। इस प्रकार संस्कृत और पालि के बाद शौरसेनी प्राकृत ने अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा के उत्तरदायित्व का निर्वाह करती हुई मध्य-देशीय राजभाषा की परम्परा का यथासामर्थ्य पालन किया।

अपभ्रंश

मध्य भारतीय आर्यभाषा की अन्तिम अवस्था को विद्वानों ने अपभ्रंश की संज्ञा दी है और इसे मध्य एवं नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के बीच की अटूट शृंखला को कायम रखने वाली अमूल्य कड़ी कहा है। अपभ्रंश की आधारभूत भाषा साहित्यिक प्राकृतों के समानान्तर विकसित होने वाली जन भाषाएं रही है। जब प्राकृत भाषाएं परिनिष्ठित साहित्यिक भाषाओं का रूप धारण करने लगीं और वैयाकरणों के आग्रह में बंध जाने के कारण उनका स्वाभाविक विकास रुक-सा गया, तब जन सामान्य की बोलचाल की भाषाएं उभर कर सामने आयीं और साहित्यिक मंच पर पहुंच कर अपभ्रंश कहलायीं। वस्तुतः अपभ्रंश आर्य और अनार्य की बोलियों के मिश्रण से बनी हुई वह भाषा है जो ईसा की छठी शताब्दी के आसपास जातीय भाषा का रूप ले रही थी। आभिरादि लोग (जो संस्कृत से अनभिज्ञ थे) और बहुत से राजपूत राजाओं ने इस अपभ्रंश को जनभाषा के रूप में महत्त्व दिया। इनके प्रयासों से यह भाषा अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम

बन समस्त भारत को साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई ।[78] डा० नामवर सिंह के शब्दों में 'साहित्यिक अपभ्रंश मूलतः और मुख्यतः पश्चिमी भारत की बोली होती हुई भी 8वीं से 13वीं शताब्दी तक समूचे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा थी। एक ओर इसमें बंगाल के सरह और कण्ह जैसे सिद्ध कवियों ने दोहा कोशों की रचना की और मिथिला में ज्योतिरीश्वर तथा विद्यापति ने स्थानी बोली का पुट देकर साहित्यिक अपभ्रंश में ग्रंथ लिखे तो दूसरी ओर मुल्तान में अब्दुल रहमान का भी कंठ इसी में फूटा। दक्षिण में मान्यखेट के पुष्पदंत ने इसी वाणी को अपने हृदय का हार बनाया असरये के कनकामर मुनि ने इसी में चरित गाया और महाकवि स्वयंभू ने रामायण की रचना के लिए इसी भाषा को चुना।'[79]

अपभ्रंश पर विचार करते हुए प्राचीन आचार्यों एवं वैयाकरणों ने अपभ्रंश के विविध भेदों की चर्चा की है यहां तक कि सत्ताइस प्रकार के अपभ्रंशों की गणना की गई है। किंतु मुख्यतः तीन अपभ्रंशों—नागर, ब्राचड और उपनागर की विवेचना हुई, जिनका विभाजन संस्कार या प्रसार को दृष्टि में रखकर किया गया है, प्राकृतों के समान देशगत बोलियों के आधार पर नहीं। इनमें नागर अपभ्रंश ही तत्कालीन परिनिष्ठित भाषा थी, जो शौरसेनी प्राकृत के समानांतर विकसित होने वाली शूरसेनी प्रदेश की बोली पर आधारित थी तथा जिसे परवर्ती विद्वानों ने शौरसेनी अथवा पश्चिमी अपभ्रंश की संज्ञा दी। 'प्राकृत सर्वस्व' के रचयिता मारकंडेय ने ब्राचड को सिंधुदेशोद्भव कहा है तथा उपनागर को नागर और ब्राचड का संकर बतलाया है।

आधुनिक विद्वानों ने अपभ्रंश का विभाजन क्षेत्रीय आधार पर किया है। 'सनत्कुमार चरित' की भूमिका में डा० याकोबी ने पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी और उत्तरी इन चार प्रकार के अपभ्रंशों की चर्चा की है। यह विभाजन ठोस भाषा वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित न होकर ग्रंथों के रचना स्थान को दृष्टि में रखकर किया हुआ प्रतीत होता है। डा० याकोबी के इस मत की आलोचना करते हुए डा० तगारे ने अपभ्रंश के तीन भेदों पर प्रकाश डाला है—पूर्वी, दक्षिणी एवं पश्चिमी। यद्यपि डा० तगारे ने इनमें भाषा-व्याकरण संबंधी भेद दिखलाने की कोशिश की है, किंतु डा० नामवर सिंह की दृष्टि में इस विभाजन का आधार भी रचना-स्थान ही है। डा० सिंह ने अपने शोध प्रबंध 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' में डा० तगारे की इस मान्यता की विशद समीक्षा प्रो० ज्यूल ब्लाख, प्रो० पी० सी० बागची, प्रो० अल्फ्रेड मास्टर प्रभृति विद्वानों के कथन के साक्ष्य में की है और सभी अपभ्रंशों में मूलतः एक ही भाषा की प्रकृति का दर्शन करते हुए दक्षिणी अपभ्रंश के अस्तित्व को अस्वीकार किया है। डा० सिंह के दोहाकोशों में तो पश्चिमी भाषा की प्रकृति दिखाई पड़ती है, थोड़ा बहुत जो भेद है वह शैलीगत है किंतु उनकी दृष्टि में सरह और कण्ह की गीतियां अथवा चर्यापदों की भाषा का

विश्लेषण करने पर उसमें पूर्वीपन की जो अमिट झलक मिलती है उससे दृष्टि फेर लेना वांछित नही। उन्होने लिखा है कि 'वस्तुत. भारतीय आर्य भाषा की पूर्ववर्ती परंपरा के अनुसार अपभ्रंश के केवल दो क्षेत्रीय भेद थे—पश्चिमी और पूर्वी जिनमे पश्चिमी अपभ्रंश परिनिष्ठित थी तथा पूर्वी अपभ्रंश उसकी विभाषा मात्र थी। अपभ्रंश के इससे अधिक भेदों की सत्ता मानने के लिए इस समय कोई गुंजाइश नही है।'[10] एक ओर डा० चटर्जी ने विविध स्थलो पर शौरसेनी अपभ्रंश को तत्कालीन संपूर्ण उत्तर भारत की एक महान् साहित्यिक भाषा का स्थान दिया है, तो दूसरी ओर डा० तिवारी के मत मे सारा अपभ्रंश साहित्य एक ही परिनिष्ठित भाषा मे निबद्ध है और डा० शिवप्रसाद सिंह की दृष्टि मे अधिकांश अपभ्रंश की रचनाए पछाही अपभ्रंश मे लिखी हुई हैं।[11]

परिनिष्ठित अपभ्रंश उत्पत्ति, विकास एवं महत्त्व

मध्यकालीन आर्य भाषा के तृतीय उत्थानकाल मे सिर्फ शौरसेनी अपभ्रंश ही ऐसी भाषा रही है, जिसे तत्कालीन भारतीय समाज ने परिनिष्ठित भाषा के रूप मे स्वीकार किया। यह मध्यदेशीय भाषा समस्त उत्तर भारत की एक मात्र साहित्यिक भाषा थी। इसे नागर अथवा पश्चिमी अपभ्रंश नाम से भी पुकारा गया है। इसकी नागर जैसी संज्ञा उसकी परिनिष्ठिता की ही द्योतक है।

वस्तुत जिस प्रकार आज समस्त हिंदी प्रदेश मे हिंदी से तात्पर्य दिल्ली एवं [illegible] विभाषा पर आधारित खड़ी [illegible] से तात्पर्य शूरसेन प्रदेश की [illegible] अपभ्रंश से माना जा सकता है। जैसे आज खड़ी बोली हिंदी संपूर्ण हिंदी प्रदेश की प्रायः एक मात्र साहित्यिक एवं परिनिष्ठित भाषा है, वैसे ही अपने जमाने मे शौरसेनी अपभ्रंश समस्त उत्तर भारत की एकमात्र परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा के रूप मे कही अधिक महत्वपूर्ण रही है। इसके बावजूद जैसे हिंदी प्रदेश की आज की अवधी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, बुंदेली, छत्तीसगढ़ी, ब्रजी, कनौजी, बागड़, मारवाड़ी, मालवी, मेवाती, पहाड़ी आदि बोलियो के अस्तित्व को नकारा नही जा सकता, वैसे ही शौरसेनी अपभ्रंश से इतर अन्य जनपदीय बोलियो मे साहित्य को न पाते हुए भी उनकी सत्ता से मुख नहीं मोड़ा जा सकता, बल्कि साहित्य के अभाव मे भी उन विभाषाओं, जो आज अप्रचलित हो चुकी हैं, की परिकल्पना स्वाभाविक एवं स्वस्थ दृष्टि का परिचायक है।

महर्षि पतंजलि के समय (ई० पू० दूसरी सदी) से लेकर वाक्यपदीयकार भर्तृहरि (पांचवी सदी) तक एकाधिक बार अपभ्रंश शब्द का प्रयोग हुआ है। किंतु समय की इस सीमा तक अपभ्रंश को भाषा विशेष के रूप मे मान्यता नही मिल

पाई थी। यह शब्द असाधु, विभ्रष्ट अथवा संस्कारहीन जैसे शब्दों का द्योतक मात्र था। प्रसिद्ध काव्यशास्त्री भामह के समय (छठी सदी) से इस शब्द का प्रयोग भाषा विशेष के अर्थ में दिखाई पड़ता है। इसलिए विद्वानों ने ईस्वी की छठी शताब्दी को अपभ्रंश भाषा का उत्पत्ति काल मानना उपयुक्त समझा है। यद्यपि उनकी धारणा से इस बात की पुष्टि होती है कि छठी शताब्दी से सौ दो सौ वर्ष पहले से अपभ्रंश में रचनाएं होनी प्रारंभ हो गई रही होंगी और इसके प्रमाण-स्वरूप कुछ विद्वानों ने तो कालिदासकृत 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक की अपभ्रंश भाषा में निबद्ध पुरुरवा की उन्मादोक्तियों को भी उद्धृत किया है।[12] किंतु 'विक्रमोर्वशीय' के अपभ्रंश-पद्यों की प्रमाणिकता स्वतः विवादग्रस्त है।[13] इसलिए प्रमाण के अभाव में स्वाभाविक होते हुए भी इस प्रकार की धारणा को विशेष महत्व नहीं।

यद्यपि साहित्यिक भाषा के रूप में मध्यदेश की शौरसेनी अपभ्रंश ईसा की कई शताब्दियों तक चलती रही, व्याकरण के सहारे कविगण सोलहवीं सदी तक इसमें रचनाएं करते रहे, किंतु नव्य भारतीय आर्यभाषाओं का उत्पत्तिकाल इस भाषा के विकास की चरम अवधि माना गया है। इसलिए शौरसेनी अपभ्रंश की विकास रेखा छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी के मध्य खींची जा सकती है अथवा अधिक से अधिक खींचतान कर इसे ग्यारहवीं-बारहवीं सदी तक बढ़ाया जा सकता है। मध्यदेश की महती भाषा परंपरा की एक मात्र उत्तराधिकारिणी होने के कारण इस शौरसेनी अपभ्रंश ने साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि परि-स्थितियों की अनुकूलता के बीच अपूर्व उन्नति की। हेमचंद्र के समय (12वीं सदी) तक आते आते समस्त उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत के कुछ जनपद-विशेष इस भाषा की अपनी क्रीड़ा-भूमि बन चुके थे। श्री के० एम० मुंशी के शब्दों में 'एक जमाना था जब शौरसेनी गुजरात में भी प्रचलित थी।'[14]

यों तो दण्डी के समय (7वीं सदी) से ही अपभ्रंश का साहित्य पल्लवित होने लगा था, किंतु इसकी वास्तविक श्रीवृद्धि आठवीं से दसवीं सदी के मध्य हुई। स्वयंभू (9वीं सदी), पुष्पदंत (10वीं सदी) के काव्यों में अपभ्रंश का अत्यंत परिष्कृत साहित्यिक रूप मिलता है। अपभ्रंश भाषा और साहित्य की अभिवृद्धि में जैन एवं बौद्ध कवियों का भी कम योगदान नहीं रहा है। प्राप्त अपभ्रंश साहित्य का बहुत

को अपूर्व साहित्यिक कृतियां दी हैं।[15] जैन अपभ्रंश साहित्य की ही भांति बौद्धों द्वारा धार्मिक दृष्टिकोण के आधार पर लिखी गई रचनाएं भी अपभ्रंश की अमूल्य निधि है।

यद्यपि शौरसेनी अपभ्रंश को जैन मुनियों और बौद्ध भिक्षुओं का बल मिला,

फिर भी इसके सर्वांगीण विकास के लिए किसी प्रबल राजाश्रय की आवश्यकता थी, क्योंकि 'यह एक भाषा वैज्ञानिक तथ्य है कि राजनीतिक एवं आर्थिक केंद्रोन्मुखता के कारण विविध स्थानीय बोलियां एक विशाल राष्ट्रीय भाषा के रूप में ढल जाती हैं।'[36] अपभ्रंश के विकासकाल में प्रमुखत: तीन सशक्त राज्य थे। कान्यकुब्ज में प्रतिहार, मान्यखेट (बरार) में राष्ट्रकूट तथा बंगाल में पालवंशी राजाओं का आधिपत्य था। इनमें राष्ट्रकूट एवं पालवंशी राजाओं ने शौरसेनी अपभ्रंश को विशेष प्रश्रय दिया, बाद में चलकर गुजरात के सोलंकी राजाओं ने भी इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस प्रकार इस भाषा को समस्त भारत की एक मात्र साहित्यिक भाषा के साथ ही मान्यखेट, बंगाल एवं गुजरात जैसे राज्यों की राजभाषा होने का गौरव भी प्राप्त हुआ। डा० चटर्जी के शब्दों में 'गुप्त साम्राज्य तथा हर्षवर्द्धन के साम्राज्य का पतन हो जाने के पश्चात् उत्तर भारत में विभिन्न गोत्रों के राजपूत या क्षत्रिय राजाओं का युग आया, और दक्षिणापथ, सिंधु एवं पंजाब से लेकर बंगाल तक समस्त उत्तर भारत में राजपूतवंशीय राजाओं की सभाओं में, देवभाषा संस्कृत के बाद ही शौरसेनी अपभ्रंश का स्थान था।'[37] पश्चिमी अपभ्रंश का व्यवहार उत्तरी भारत के राजपूत नृपतियों की राजसभाओं में, तुर्कों की उत्तरी, भारत विजय की कुछ शताब्दियों पूर्व होता था, यह एक महान् साहित्यिक भाषा के रूप में ठेठ महाराष्ट्र से बंगाल तक प्रचलित थी।'[38]

भौगोलिक दृष्टि से कान्यकुब्ज उत्तर भारत का केंद्र था और राजनीतिक दृष्टि से भी प्रतिहारों ने उस केंद्र की सार्थकता प्रमाणित कर दी थी। उनके छत्र के नीचे अनेक सामंत थे, राजपूताना, गुजरात तथा मध्य भारत से कान्यकुब्ज तक का समस्त उत्तर भारत प्राय: एक सूत्र में आबद्ध था। इतना ही नहीं, हर्ष के बाद भी उत्तर भारत में कान्यकुब्ज साहित्य एवं संस्कृति का प्रमुख केंद्र था, फिर भी ब्राह्मण धर्मानुयायी होने के कारण प्रतिहारवंशी राजाओं के दरबार में शौरसेनी अपभ्रंश का वैसा आश्रय प्राप्त न हो सका, जैसा संस्कृत को प्राप्त था। प्रतिहारों की पराजय के साथ कान्यकुब्ज महाप्रतापी गाहड़वाल राजाओं की राजधानी बनी। इन राजाओं के दरबार में भी संस्कृत की ही विशेष प्रतिष्ठा थी।[39]

कान्यकुब्ज राजाओं की अपेक्षा पाल एवं राष्ट्रकूट वंशी राजा अपभ्रंश के कहीं अधिक संरक्षक थे। एक ओर पालवंशी राजाओं के शासनकाल में सरह, कण्ह आदि बौद्ध सिद्ध कवियों की काव्यधारा उमड़ी, तो दूसरी ओर पुष्पदंत एवं स्वयंभू जैन कवियों की काव्य प्रतिभा का प्रस्फुटन राष्ट्रकूटों की छत्र-छाया में हुआ। इस प्रकार शौरसेनी अपभ्रंश को विकसित एवं राजभाषा का सम्मान प्रदान करने का प्रथम श्रेय राष्ट्रकूट राजाओं को है। राष्ट्रकूटों के शासन में बरार (मान्यखेट) जैन वैश्यों का केंद्र था और बरार, गुजरात, मालवा, यहां तक कि विविध दक्षिण प्रदेशों का पूरा व्यापार इन्हीं के हाथों में था। जैन, वैश्यों ने देश-

भाषा को विशेष प्रश्रय दिया। शौरसेनी अपभ्रंश को अखिल भारतीय संपर्क भाषा (राष्ट्रभाषा) के रूप में विकसित करने का बहुत कुछ श्रेय इन जैन वैदयो को दिया जा सकता है।

दसवीं सदी में राष्ट्रकूटों के पतन के पश्चात् बरार का केंद्र हटकर गुजरात में आ गया। अब गुजरात भारतीय संस्कृति का केंद्र एवं सोलंकी राजाओं की राजधानी बनी। सोलंकी राजाओं के शासनकाल (11वीं सदी) में भी शौरसेनी अपभ्रंश को विशेष महत्व मिला। अपभ्रंश के प्रसिद्ध विद्वान जैन आचार्य हेमचंद्र सूरि को सोलंकी राजा सिद्धराज का राजाश्रय प्राप्त था। सोलंकी राजाओं ने अपभ्रंश साहित्य के विकास के लिए मुक्त हस्त द्रव्य लुटाया, साथ ही इसे राजभाषा के पद पर भी प्रतिष्ठित किया।

मध्य भारतीय आर्यभाषा काल के अंतिम चरण में शौरसेनी अपभ्रंश के प्रचार और उसकी व्यापक मान्यता के पीछे इन राजपूत राजाओं के प्रति जनसामान्य की श्रद्धा, आस्था एवं अभ्यर्थना को भी एक कारण माना गया है। इन राजपूत राजाओं ने अपभ्रंश को राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया, इसे राष्ट्रीय व्यापकता दिलाने हेतु अथक प्रयास किया, इनके यश और शौर्य की गाथाएं तथा स्तुतियां आदि इसी भाषा में छंदोबद्ध की गई, इसलिए मुसलमानी आक्रमण से संत्रस्त, परित्राण की इच्छुक जनता ने यदि इस भाषा को सांस्कृतिक महत्व दिया हो, तो इसमें आश्चर्य नहीं।

शौरसेनी अपभ्रंश को सार्वदेशिक व्यापकता प्रदान करने में राजपूत राजाओं, व्यवसायियों, सामान्य नागरिकों के अतिरिक्त विविध धर्मावलम्बी साधुओं एवं साधकों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस संदर्भ में डा० चटर्जी का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :

'मध्य युग के उत्तर भारत के संत और साधु लोगों की परंपरा जिन्होंने स्थापित की थी, ऐसे राजपूताना, पंजाब और गुजरात के जैन आचार्य लोग तथा पूर्व भारत के बौद्ध सिद्धाचार्य लोग और बाद में समग्र उत्तर भारत में फैले हुए शैव-योगी या नाथपंथ के आचार्य लोग, बंगाल के सहजिया पंथ के साधक—इन सबों के लिए शौरसेनी अपभ्रंश जनता के साथ अपने मत और अपनी शिक्षा के प्रसार के वास्ते एक अच्छा साधन बना।'[30]

इस प्रकार सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि विविध परिस्थितियों के सक्रिय सहयोग से शौरसेनी अपभ्रंश ने समस्त उत्तर भारत की परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा के साथ राजभाषा एवं सार्वदेशिक संपर्क भाषा के गौरवमय पद को सुशोभित किया[31] और संस्कृत, पालि, शौरसेनी प्राकृत के द्वारा

स्थापित मध्यदेश की गरिमामयी भाषा — (राजभाषा, राष्ट्रभाषा) परंपरा को सुदृढ़ बनाती हुई उसे आगे बढ़ाया।

नव्य भारतीय आर्य भाषा

मध्य भारतीय आर्यभाषा की अंतिम अवस्था अपभ्रंश (अवहट्ट) के पश्चात साहित्यिक क्षेत्र में जिन जन-भाषाओं ने पदार्पण किया, उन्हें नव्य भारतीय आर्य भाषा के नाम से पुकारा जाता है। यों तो विभिन्न विद्वानों ने नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की उत्पत्ति विभिन्न अपभ्रंशों से मानी है, किंतु इनकी उत्पत्ति अपभ्रंशों से न होकर साहित्यिक अपभ्रंश के समानांतर विकसित होने वाली विविध प्रादेशिक लोक भाषाओं से हुई है, अब इस भाषा वैज्ञानिक सत्य को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के प्राचीन साहित्य को देखने से पता चलता है कि इन भाषाओं ने अपना नवीन साहित्यिक रूप ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी तक निश्चित धारण कर लिया था। किंतु जहां तक इनके उत्पत्ति-काल का प्रश्न है, इनका जन्मकाल ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी मानना ही समीचीन होगा। क्योंकि बारहवीं शताब्दी में आचार्य हेमचंद्र द्वारा परिनिष्ठित अपभ्रंश का व्याकरण लिखा जाना इस बात का प्रमाण है कि समय की इस सीमा तक आकर परिनिष्ठित अपभ्रंश जनभाषा का दामन छोड़ चुकी थी। साथ ही यह भी सहज अनुमेय है कि हेमचंद्र के एक या दो शताब्दी पहले से लोक-साहित्य के माध्यम के रूप में जनभाषाओं का नवीन रूप अवश्य ही विकसित होने लगा होगा। विद्वानों की मान्यता ने इस अनुमान को विश्वास का रूप भी दिया है।

इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के रूप ग्रहण का काल कहा जा सकता है। इन चार सौ वर्षों के मध्य जो जनभाषाएं साहित्यिक जगत में अपने प्रभाव को विकीर्ण करती हुई उदीयमान हुईं, उनमें हिंदी, बंगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी, सिंधी, असमिया, उड़िया आदि प्रमुख हैं। किंतु इन नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में मध्यदेशीय भाषा परंपरा की असीम शक्ति को लेकर उत्पन्न होने वाली हिंदी का सर्वोपरि एवं विशिष्ट स्थान है।[12] वस्तुतः भारत में युग युग से मध्यदेश की भाषा सार्वदेशिक संपर्क भाषा रही है। भारतीय संस्कृति के विस्तार के साथ कभी यह कार्य संस्कृत ने किया, तो कभी पालि ने, कभी शौरसेनी प्राकृत ने अपनी गरिमा का परिचय दिया, तो कभी शौरसेनी अपभ्रंश ने। मध्यदेश की इसी महान भाषा-परंपरा पर चलकर हिंदी ने भी जन्म से आज तक सारे देश में कण-कण से अपना नाता जोड़ा है।[13] इतना ही नहीं, डा० हरदेव बाहरी के शब्दों में 'मध्य युग के आरंभ में सिंधी लाहौरी, बंगला, गुजराती आदि मात्र बोलियां थीं — किंतु हिंदी सार्वदेशिक भाषा थी। सिंधी, पंजाबी, बंगला, गुजराती आदि का जो साहित्य तब था, वह वस्तुतः लोक-साहित्य था। [illegible]

महाराष्ट्र के नामदेव, तुकाराम आदि, गुजरात के नरसी महता और दूसरे भक्त कवि, पजाब के नानक और अन्य सिख गुरु इसी सार्वदेशिक भाषा मे लिखते थे—भले ही क्षेत्रीय जनता के लिए उन्होने अपनी रचनाए लोकभाषाओ म भी की।[94]

इन विविध नव्य भारतीय आर्य भाषाओ के मध्य हिंदी की वास्तविक महत्ता का अनुमान निम्नलिखित आकडो के द्वारा भी लगाया जा सकता है

(क)[95]	सन् 1961 के आकडे के अनुसार
भाषा	बोलने वालो की सख्या (लाख मे)
हिंदी	22,52
बगला	2,62 पाकिस्तान म (बगला देश)
	3,48 भारत मे
मराठी	3,92
पजाबी	2,03 भारत मे
	1,22 पाकिस्तान मे
गुजराती	2,06
उडिया	1,75
असमिया	68

(ख) भाषा[96]	बोलने वालों की सख्या(करोड मे)
चीनी	60
अग्रेजी	25
हिंदी	20½
रूसी	18
स्पेनी	12
जर्मन	10
जापानी	10
फ्रासीसी	8½
पुर्तगाली	6
बगला	6
अरबी	5

हिंदी प्रदेश और उसकी बोलिया

पश्चिम मे अबाला से बीकानेर और जैसलमेर तक, दक्षिण मे ताप्ती नदी, बालघाट से दुर्ग तक, पूर्व म रायपुर से भागलपुर तक एव उत्तर मे नेपाल की

सीमा को छूते हुए गगोत्री-यमनोत्री तक के 1050 मील लबे और लगभग 600 मील चौडे विस्तृत भू-भाग को हिंदी प्रदेश के नाम से जाना जाता है। जहां अन्य नव्य भारतीय आर्य भाषाए एक-एक प्रदेश की साहित्यिक एव सामान्य बोलचाल की भाषाए हैं, वहा हिंदी का अपना निजी क्षेत्र हरियाणा, राजस्थान, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार एव मध्य प्रदेश का सम्मिलित एक विस्तृत भू-भाग है। इसके अतिरिक्त यह भाषा कमोवेश समस्त भारत मे बोली और समझी जाती है। हिंदी भाषा के अतर्गत 17 मुख्य बोलिया हैं, जिनको विद्वानो ने निम्नलिखित पाच उपवर्गों मे विभक्त किया है

(क) पश्चिमी हिंदी	खडी बोली, बागरू (हरियाणी), ब्रजी, कन्नौजी और बुदेली।
(ख) राजस्थानी हिंदी	मारवाडी, जयपुरी, मेवाती और मालवी।
(ग) पूर्वी हिंदी	अवधी, बघेली और छत्तीसगढी।
(घ) बिहारी हिंदी	भोजपुरी, मगही और मैथिली।
(ङ) पहाडी हिंदी	कुमायूनी और गढवाली।

किंतु हिंदी की बोलियो को इस प्रकार मे पाच उपवर्गों मे विभक्त करना समीचीन प्रतीत नही होता। अधिक से अधिक इन्हे दो भागो मे बाटा जा सकता है—पश्चिमी उपखड और पूर्वी उपखड। यदि लखनऊ की पश्चिमी सीमा से एक रेखा उत्तर मे नेपाल और दक्षिण मे मध्य प्रदेश एव महाराष्ट्र की सीमा तक खीच दी जाय, तो इस रेखा के पश्चिम ब्रज भाषा, कन्नौजी, बुन्देली, खडी बोली, बागरू, मारवाडी, जयपुरी, मेवाती, मालवी, कुमायूनी और गढवाली इन ग्यारह बोलियो का तथा पूर्व मे अवधी, बघेली, छत्तीस गढी, भोजपुरी, मगही और मैथिली इन छ बोलियो का क्षेत्र दिखलाई पडेगा।[37] किंतु डा० हरदेव बाहरी के शब्दो मे 'हिंदी साहित्य के अध्येता के लिए तीन बोलियों की जानकारी परमावश्यक है। इनमे अवधी जायसी और तुलसी के समय मे भाषापद को प्राप्त करने वाली थी, किंतु उत्तरकाल म उनकी परपराए आगे नही चल पाई।··· ब्रजभाषा की कोमल-कांत गुणवत्ता और ब्रजभाषा साहित्य की अधिक व्यापक लोकप्रियता ने अवधी को आगे नही बढ़ने दिया।' 'लगभग 300 वर्ष तक ब्रजभाषा भाषा के पद पर आसीन रही। सच तो यह है कि हिंदी के जन्मकाल से ही ब्रजभाषा हिंदी कविता की प्रधान भाषा रही है। आरभ मे इसको इतना गौरवान्वित करने का श्रेय वल्लभ-सम्प्रदाय के कवियो को है।···बीसवी शती के आरभ मे महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय मे खडी बोली इसके स्थान पर काव्य क्षेत्र मे प्रतिष्ठित हुई।···वर्तमान समय में इसकी होड भारत की कोई भाषा नही कर सकती।[38]

हिंदी भाषा का विकास और महत्त्व

हिंदी के उदय काल से लेकर आज तक के उसके एक हजार वर्ष के इतिहास को सामान्यतया तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है

1. आदिकाल (1000 ई० से 1400 ई० तक)
2. मध्य काल (1400 ई० से 1800 ई० तक)
3. आधुनिक काल (1800 ई० से आज तक)

आदिकाल के रूप में हिंदी के प्रारंभिक विकास का चार सौ वर्षों का यह समय संपूर्ण भारतीय इतिहास में अत्यंत उथल-पुथल का समय रहा है। यद्यपि भारत पर विदेशियों का आक्रमण बहुत पहले से ही शुरू हो गया था, किंतु 1000 ई० के पश्चात मुस्लिम विजेताओं द्वारा आक्रमण का जो सिलसिला शुरू हुआ, वह चौदहवीं शताब्दी तक किसी न किसी रूप में अबाध गति से चलता रहा। मध्य भारतीय आर्य भाषाओं पर मुसलमानों के आक्रमण का प्रभाव अंकित करते हुए डा० चटर्जी ने लिखा है कि "यदि भारतीय जीवन की धारा पूर्व-निर्दिष्ट दिशा में ही चलती रहती और उस पर बाहर का कोई भीषण आक्रमण न हुआ होता तो संभवतः मध्य भारतीय आर्य भाषाओं का श्रीगणेश तथा विकास दो-एक शताब्दी पश्चात ही होता।"

यदि डा० चटर्जी की इस बात को मान भी लिया जाए, तो भी मुसलमानी आक्रमण से जहां मध्य भारतीय आर्यभाषाओं के विकास में विलंब की संभावना बढ़ी, वहीं इन मध्य भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य का बहुत बड़ा नुकसान भी हुआ। कारण यह है कि अपभ्रंश अथवा अवहट्ठ भाषाओं में लिखे गए साहित्य एवं उसकी सुरक्षा का सबल आश्रय तत्कालीन राजा-महाराजा थे, जो इस आक्रमण के बाद नष्ट हो गए। ईस्वी सन् की दसवीं और चौदहवीं शताब्दी के बीच मध्यदेश की देश्य भाषाओं में लिखे हुए साहित्य के न मिलने का रहस्य भी यही है। इन दिनों हिंदी-प्रदेश मुख्यतः तीन भिन्न-भिन्न राज्यों में विभक्त था। पश्चिम में चौहानवंश का राज्य था, जिसकी राजधानी दिल्ली थी। दक्षिण-पश्चिम में (राजस्थान में) राजपूतों का राज्य था। पूर्व में राठौर वंश की राजधानी कन्नौज थी। बारहवीं सदी के अंतिम चरण में मुहम्मद गोरी ने चौहान वंश के सम्राट पृथ्वीराज को पराजित कर दिल्ली पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। कन्नौज के राजा जयचंद की पराजय के बाद तो प्रायः अधिकांश हिंदी प्रदेश पर मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित हो गया। फिर भी राजस्थान इस युग में भारतीय संस्कृति का एकमात्र प्रश्रय-स्थल रह गया था। यही कारण है कि हिंदी के आदि काल का जो कुछ भी प्राप्य साहित्य है उसका अधिकांश भाग राजस्थान से ही प्राप्त हुआ है। हिंदी भाषा के इस काल में राजस्थान और उसके आसपास

के इलाके में मुख्यत. चार प्रकार की भाषाओं का प्रयोग होता रहा : एक तो अपभ्रंश मिश्रित पश्चिमी हिंदी, दूसरी डिंगल, तीसरी शुद्ध मरुभाषा और चौथी पिंगल। साहित्यिक दृष्टि से डिंगल और पिंगल का विशेष महत्त्व था।

डिंगल उस राजस्थानी मिश्रित कृत्रिम अपभ्रंश का नाम है जो दरबारी चारणों को परंपरागत रूढ़ि के रूप में प्राप्त हुई थी। हिंदी का रासो साहित्य डिंगल साहित्य कहलाता है। इसका व्यवहार हिंदी के आदिकाल के साथ ही समाप्त हो गया। डिंगल के अपेक्षाकृत पर्याप्त व्यापक क्षेत्र की साहित्यिक भाषा 'पिंगल' कहलाती थी, जो सरस, कोमल तो थी ही, साथ ही शास्त्रसंगत और व्यवस्थित भी थी। 'उक्त व्यक्ति प्रकरण', 'प्राकृत पैंगलम्', 'जयचंद्र प्रबंध' आदि में इसके स्वरूप की पर्याप्त झलक मिलती है। वस्तुतः इस भाषा को ब्रजभाषा का पूर्व रूप कहा जा सकता है।

हिंदी के मध्यकाल में प्रमुखतः हिंदी की तीन बोलियां—अवधी, ब्रज एवं खड़ी बोली साहित्यिक मंच पर आसीन दिखलाई पड़ती हैं। इनमें अवधी, जो अ[illegible]
भ[illegible]
वि[illegible]
मलिक मुहम्मद जायसी, कुतबन, मझन, नूर मुहम्मद आदि सूफियों की ठेठ अवधी, जिसमें अरबी-फारसी के प्रचलित शब्द एवं मुहावरों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है, पुहकर, गोवर्धन दास, दुखहरन आदि प्रेमाख्यानकार हिंदू कवियों की पश्चिमी परंपरा से संपृक्त अवधी, जिसमें अपभ्रंश का क्षीण होता हुआ और संस्कृत का बढ़ता हुआ प्रभाव परिलक्षित होता है तथा गोस्वामी तुलसीदास, अग्रदास, लालदास आदि राम कवियों की साहित्यिक अवधी, जिसकी तुलना उसकी प्रांजलता एवं कोमलता के कारण तत्कालीन कोमलकांत पदावली से युक्त ब्रजभाषा से की जा सकती है।[100] किंतु कहना न होगा कि साहित्यिक अवधी की धारा तुलसी के बाद क्रमशः क्षीण होती गई और भक्तिकाल के अंत तक आते-आते अवधी मात्र लोकभाषा बनकर रह गई।

हिंदी के मध्यकाल के बीच मध्यदेश की महान भाषा परंपरा के उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वाह यदि किसी भाषा ने किया, तो वह थी ब्रज। शूरसेन प्रदेश की इस बोली को संस्कृत से लेकर शौरसेनी अपभ्रंश तक की सारी शक्ति और गरिमा अपनी परंपरा के रूप में एक साथ मिली हुई थी।[101] यह अपने जमाने की एक परिनिष्ठित एवं उच्चकोटि की साहित्यिक भाषा थी, जिसको इतना अधिक गौरवान्वित करने का बहुत कुछ श्रेय वल्लभ सम्प्रदाय के कृष्ण भक्त कवियों को है। एक ओर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इसे पुरुषोत्तम भाषा की संज्ञा प्रदान की, तो दूसरी ओर काव्य और साहित्य के प्रेमी सहृदयों ने इसे 'भाषा-मणि' कहा।

एक ओर सूरदास, नंददास आदि अष्ट छाप के कृष्ण भक्त कवियों की यह कंठहार थी, तो दूसरी ओर रीतिकालीन आचार्यों एवं कवियों की वाणी का परिधान भी। इतना ही नहीं पंजाब से लेकर सुदूर बंगाल तक इस भाषा की मधुर मुरली कई शताब्दियों तक गूंजती रही। यह ब्रज भाषा की कोमलकांत पदावली की रस-मयता ही थी कि जिस पर विमोहित होकर पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात, हिंदी प्रदेश एवं बंगाल के कवियों ने समान रूप से इसमें रचनाएं की और डाक्टर ग्रियर्सन को भी इसे मध्यदेश की आदर्श भाषा मानना पड़ा।[102]

वस्तुतः ब्रजभाषा अपनी किशोरावस्था से लेकर ईसा की अठारहवीं शताब्दी तक सशक्त साहित्यिक भाषा के साथ अखिलदेशीय संपर्क भाषा के पद पर प्रतिष्ठित रही है। इस प्रकार से इसने संस्कृत काल से चली आती हुई मध्यदेश की सांस्कृतिक एवं राष्ट्रभाषा-परंपरा का समुचित निर्वाह किया है। इतना ही नहीं, अपनी किशोरावस्था में, मुसलमानी आक्रमण काल में जहां इसने उत्तर की सांस्कृतिक और राजकीय भाषा का पद प्रतिष्ठित किया,[103] वहीं अपनी प्रौढ़ावस्था में अपनी माधुरी से मुगल सम्राटों को चल चकित और विमोहित भी।[104] फिर भी, मुस्लिम शासकों के द्वारा फारसी को राजभाषा बनाए जाने के कारण, राजकाज के कार्यों से प्रायः इसे वंचित रहना पड़ा। भारतीय भाषाओं के इतिहास में यह पहला अवसर था, जबकि मध्यदेश की भाषाओं की राजभाषा परंपरा खंडित हुई और भारत के सिंहासन पर भारतीय नहीं बल्कि फारसी जैसी विदेशी भाषा आरूढ़ हुई। इस प्रकार जहां ब्रजभाषा ने अपनी आंतरिक शक्ति के द्वारा अखिलदेशीय संपर्क भाषा की परंपरा को कायम रखा, वहीं राजभाषा के अपने प्राप्य अधिकार से वह वंचित रही और मध्यदेशीय राजभाषा की गरिमामयी परंपरा का पालन न कर सकी।

हिंदी के मध्यकाल में अवधी और ब्रज के अतिरिक्त तीसरी साहित्यिक बोली थी कुरु प्रदेश की खड़ी बोली, जिसके मिश्रित स्वरूप की झांकी समस्त उत्तर भारत में फैले हुए साधु संतों की अटपटी वाणी और उनके साहित्य में देखी जा सकती है। यों तो उत्तर भारत में साहित्यिक भाषा के रूप में इस बोली का कोई विशेष महत्व नहीं था, अमीर खुसरो जैसे एकाधिक व्यक्ति ने थोड़ी बहुत रचना इसमें जरूर की थी, किन्तु मौखिक परंपरा के माध्यम से इस बोली का प्रचार प्रसार न कि उत्तर भारत, बल्कि दक्षिण भारत में भी साधु-संतों के द्वारा बहुत पहले से ही हो गया था। यही कारण है कि अलाउद्दीन की दक्षिण विजय के साथ-साथ उत्तर भारत (दिल्ली के आसपास के इलाके) से गए हुए मुसलमानों को दक्षिण में इस उत्तर की परिचित बोली को पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने फारसी का मोह त्याग कर इस बोली को शासन और साहित्य का माध्यम बनाया। इस प्रकार इस बोली को जो महत्व अपने घर में न मिल सका, वह ईसा की चौदहवीं शताब्दी में बाहर यानी दक्षिणी भारत में मिला। कालांतर में दक्षिण के साहित्यकारों द्वारा

यह बोली उत्तर भारत मे लायी गयी और तब दक्खिनी नाम से प्रसिद्ध हुई।[105]

हिंदी के आधुनिक काल तक आते-आते ब्रजभाषा भी लोकभाषा से काफी दूर हट चुकी थी, अवधी ने तो बहुत पहले ही साहित्य से मुख मोड लिया था। अब साहित्य के क्षेत्र मे खडी बोली ने गद्य के माध्यम के रूप मे मानवत पदो से पदार्पण [illegible]

[illegible]

के माध्यम के रूप मे ब्रजभाषा मंतव्य रही। पर आगे चलकर द्विवेदी युग म कविता ने भी ब्रज का परिधान उतार फेंका और इस प्रकार बीसवी शताब्दी के [illegible]

[illegible]

जहा तक अखिल देशीय संपर्क भाषा और राजभाषा का प्रश्न है, इस युग म आकर ब्रजभाषा के द्वारा बढाई गयी अखिल भारतीय सपर्क भाषा की मध्यदेशीय परपरा को खडी बोली न कायम रखा और इस रूप मे स्वातन्त्र्य सेनानियो की अमूल्य सेवा की। उसकी सेवा का ही यह फल रहा कि स्वामी दयानद सरस्वती, महात्मा गाधी, सुभाष चन्द्र बोस, बाल गगाधर तिलक आदि अनेकानेक नेताओ ने एक स्वर से इसे राष्ट्रभाषा के नाम से पुकारा और अततोगत्वा इसने स्वाधीनता प्राप्ति के साथ अखिल देशीय सपर्क भाषा के बदले राष्ट्रभाषा का पद स्वत प्राप्त किया। किन्तु याद रहे कि मुस्लिम शासन काल म भारत की राजभाषा फारसी थी और इन मुसलमान शासको से शासन सत्ता अग्रेजो न छीनी। अत अग्रेजो ने फारसी को राजसिंहासन से हटाकर उस पर अग्रेजी को ला बिठाया। इस प्रकार अग्रेजी को राजभाषा के पद पर बिठाने मे मैकाले की भाषा नीति बडी कारगर सिद्ध हुई। कहना न होगा कि सत्ता के इस परिवर्तन से राजभाषा के क्षेत्र में हिंदी जैसी मध्य देशीय भाषा को कोई उल्लेखनीय लाभ नही हुआ, ब्रजभाषा अथवा खडी बोली के रूप मे हिंदी को मुसलमान बादशाहो के दरबारो मे जो महत्ता मिली थी, उससे भी अग्रेजो की साम्प्रदायिकता को बढानेवाली नीति के कारण उर्दू को बीच मे ला खडा कर देने मे हिंदी को वचित रह जाना पडा। किन्तु खडी बोली हिंदी ने हिम्मत न हारी, ब्रजभाषा के द्वारा खोयी हुई सत्ता को पुन प्राप्त करने के लिए स्वाधीनता सघर्ष के पग-से पग मिलाती हुई राजभाषा ने अग्रेजो के साथ कठिन लोहा लिया और अंतत वह स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात भारतीय सविधान के द्वारा राजभाषा पद पर प्रतिष्ठित हुई। किन्तु स्वार्थलोलुप कुछ स्वदेशियो की दूषित नीति के फल-स्वरूप जीतकर भी वह जीत न पायी और आज भी व्यावहारिक रूप से अग्रेजी राजभाषा बनी हुई है।

निष्कर्ष यह कि मध्यदेश की अपनी एक महान भाषा परंपरा रही है और संस्कृत से लेकर हिंदी तक की संपूर्ण मध्यदेशीय परिनिष्ठित भाषाओं ने अपने-अपने समय में यथा सामर्थ्य इस परंपरा को पुष्ट किया है। इस महती परंपरा की दो धाराएं रही हैं एक अखिल भारतीय संपर्क भाषा या राष्ट्र भाषा की धारा और दूसरी राजभाषा की। संस्कृत, पालि, शौरसेनी प्राकृत एवं शौरसेनी अपभ्रंश ने अपनी आंतरिक जीवनी शक्ति के द्वारा दोनों धाराओं को गतिशील रखा है, किन्तु हिंदी युग में आकर मुसलमान एवं अंग्रेज शासकों के द्वारा अवरोध उत्पन्न कर देने के कारण लगभग सात सौ वर्षों तक हिंदी ने केवल अखिल देशीय संपर्क भाषा की धारावाहिक परंपरा को कायम रखने का कार्य किया है और राजभाषा का क्षेत्र प्राय उससे अछूता रहा है और आज यद्यपि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात दोनों क्षेत्र खड़ी बोली हिंदी के मातहत मान लिए गए हैं, फिर भी राजभाषा हिंदी की समस्या सुलझ नहीं सकी है।

संदर्भ

1. 'सरस्वतीदृष द्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम।
   तं देव निर्मितं देश ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥' मनु० 2-17।
2. मत्स्य जयपुर के आसपास का प्रदेश।
3. शूरसेन मथुरा का चतुर्दिक प्रदेश जिसमें आगरा जनपद भी सम्मिलित था।
4. पांचाल बरेली से कानपुर तक गंगा का तटवर्ती प्रदेश।
5. 'कुरुक्षेत्र च मत्स्याश्च पन्चाला शूरसेनका।
   एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादिनन्तर ॥' मनु० 2-19।
6. 'हिंदी साहित्य' (प्रथम खंड) डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० 3।
7. 'हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास' (प्रथम भाग) डा० राजबली पांडेय, पृ० 4।
8. द्रष्टव्य
   'हिंदी भाषा और लिपि' डा० धीरेंद्र वर्मा, पृ० 1।
   'हिंदी भाषा का इतिहास' डा० धीरेंद्र वर्मा, पृ० 44।
   'मध्य देश और उसकी संस्कृति' डा० धीरेंद्र वर्मा, पृ० 44।
   'हिंदी साहित्य (प्रथम खंड) : डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० 4।
   'भाषा विज्ञान की भूमिका' प्रो० देवेंद्रनाथ शर्मा, पृ० 121।
   'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' डा० शिवप्रसाद सिंह, पृ० 17।

'हिंदी का व्यावहारिक रूप' श्री विनयमोहन शर्मा पृ० 21 ।
'हिंदी भाषा की उत्पत्ति' आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 21 ।

9 सदानीरा नदी कोसल और विदेह जनपदों के बीच की सीमा रेखा थी । शतपथ ब्राह्मण मे वर्णित एक कथा के अनुसार सरस्वती के तट पर अनेक यज्ञ हुए । विदेह माधव नामक महर्षि ने उस तट पर प्रज्ज्वलित वैश्वानर अग्नि को देखा । वे उस अग्नि पुंज को सदानीरा नदी तक ले गए । फलत सरस्वती से सदानीरा तक का संपूर्ण प्रदेश पवित्र हो गया और इस प्रदेश की प्राचीन सज्ञा भुवन हुई । कालांतर मे इसी को मध्य देश कहा गया । देखिए—शतपथ-1।4।1।1-17 ।

10 वर्तमान ककजोल (जिला सथाल परगना, बिहार) को कजगल कहते थे ।

11 वर्तमान सिलई नदी (जिला हजारी बाग और सिंह भूमि) ।

12 महापंडित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार सेतकण्णि हजारीबाग जिले म कोई स्थान था ।

13 वर्तमान स्थानेश्वर ।

14 हरिद्वार के समीप ।

15 'तत्रिमे पच्चन्तिमा जनपदा पुरित्थिमाय दिसाय कजगल नाम निगमो, तस्स परेन महासाला ततोपरा पच्चन्तिमा जनपदा, औरतोमज्झे, पुरित्थिम दक्खिणाय दिसाय सल्लवती (सललवती) नाम नदी, ततोपरा पच्चन्तिमा जनपदा, औरतोमज्झे, दक्खिणाय दिसाय सेतकण्णिक नाम निगमो, ततोपरा पच्चन्तिमा जनपदा, औरतो मज्झे, पच्छिमाय दिसाय थूण नाम ब्राह्मण गामो, ततोपरा पच्चन्तिमा जनपदा औरतो मज्झे, उत्तराय दिसाय उसीरद्धजोनाम पब्बतो, ततोपरा पच्चन्तिमा जनपदा, औरतो मज्झे ।'
—'महावग्गपालि', पृ० 216 ।
द्रष्टव्य
'विनयपिटक', पृ० 213 ।
जातकट्ठकथा' (प्रथमोभाग), पृ० 38 39 ।
'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल' डा० भरत सिंह उपाध्याय, पृ० 34 और 73 ।

16 'The ancient Magdhan country including Banaras and Buddha Gaya was the land par excellence of Buddha and Buddhism

It was, therefore, quite in the logic of circumstances that Buddhist writers would extend the boundary of the Madhyadesa (Majjhimadesa) further towards the east

so as to include the Buddhist holy land '
—'Geography of Early Buddhism' Dr Vimal Chandra Laha, p 1

17 प्रमुखत द्रष्टव्य
'हिंदी भाषा का इतिहास' अथवा 'हिंदी भाषा और लिपि' मे सलग्न 'हिंदी प्रदेश' का मानचित्र ।

18 'हिंदी साहित्य' डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 1 ।

19 'हिंदी साहित्य की भूमिका' डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 18 ।

20 'भारतीय आर्यभाषा और हिंदी डा० सुनीति कुमार चटर्जी, पृ० 190 ।

21 (क) 'मध्यदेश्या आर्यं प्राय शुच्युपचारा '(काममूत्र 2।5।21) ।
(ख) 'यो मध्ये मध्यदेश निवसति स कवि सर्वभाषा निषण्ण ' (का० मी० 10) ।
(ग) 'दसनि की मणि यहि मध्यदेश मानिए ('कविप्रिया' केशव) ।
(घ) यही वह भूमि है, जिसने हिंदी के आदि कवियो सरह, स्वयभू आदि को जन्म दिया । यही भूमि है, जहा अश्वघोष, कालिदास, भवभूति और बाण पैदा हुए । यही वह भूमि है, जहा वशिष्ठ, विश्वामित्र, भारद्वाज ने ऋग्वेद के मत्र रचे और प्रवाहण, उद्दालक और याज्ञवल्क ने अपनी दार्शनिक उडानें की ।' राहुल साकृत्यायन 'राष्ट्रभाषा हिंदी', पृ० 57 ।

22 'खडी बोली का आदोलन' (दो शब्द) डा० शितिकठ मिश्र पृ० 8 ।

23 'राष्ट्रभाषा हिंदी', पृ० 147-48 ।

24 'नाट्यशास्त्र' भरत, 17।47 ।

25 द्रष्टव्य
'सूर पूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य', पृ० 18 ।

26 'सामान्य भाषा विज्ञान', पृ० 140 ।

27 (क) 'प्रत्येक साहित्यिक भाषा का मूल आधार कोई न कोई जनभाषा होती है ।'—डा० अबादत्त पत ।
'अपभ्र श काव्य परपरा और विद्यापति', पृ० 130 ।
(ख) भाषा वैज्ञानिको का कथन है कि साहित्य भाषा के साथ साथ लोक भाषा बराबर प्रचलित रही है और वही साहित्य भाषा को जन्म देती रही है ।'
हिंदी का व्यावहारिक रूप' प० विनय मोहन शर्मा, पृ० 22 ।
(ग) द्रष्टव्य
हिंदी के विकास मे अपभ्र श का योग' डा० नामवर सिंह पृ० 26 ।
'भाषा और समाज' डा० रामविलास शर्मा, पृ० 141-146 ।

'हिंदी साहित्य' (प्रथम खंड) डा० हरदेव बाहरी, पृ० 138।
'अपभ्रंश भाषा का अध्ययन' डा० वीरेंद्र श्रीवास्तव पृ० 34।

28 द्रष्टव्य
'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ० 26।

29 वही, पृ० 27।

30 'भाषा और समाज' डा० रामविलास शर्मा, पृ० 145।

31 'वैसे तो संस्कृत देश के किसी भाग में घर की भाषा नहीं थी, हां, हम यो मान सकते हैं कि केवल ईसा पूर्व की कुछ शताब्दियों में पंजाब तथा मध्यप्रदेश (आधुनिक पश्चिमी उत्तर प्रदेश) की बोलियों पर इसका प्रारंभिक स्वरूप आधारित था।'
'भारतीय आर्य भाषा और हिंदी', पृ० 186।

32 'भारतीय आर्य भाषा और हिंदी', पृ० 115।

33 'भाषा विज्ञान की भूमिका', पृ० 117-118।

34 'हिंदी भाषा का विकास' डा० श्याम सुंदर दास, पृ० 5।

35 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' डा० शिवप्रसाद सिंह, पृ० 19।

36 'अतः साम्य से यह सिद्ध किया जा सकता है कि आर्य जातियों की बोलियों का एक साहित्यिक स्तर 1500 से 1000 ई० पू० तक विकसित हो गया था।' डा० हरदेव बाहरी 'हिंदी साहित्य' (प्रथम खंड), पृ० 134।

37 'हिंदी साहित्य' (प्रथम खंड) पृ० 136।

38 'सामान्य भाषा विज्ञान', पृ० 140।

39 'भारतीय आर्य भाषा और हिंदी', पृ० 76।

40 द्रष्टव्य
'अपभ्रंश-साहित्य' डा० हरिवंश कोछड़, पृ० 11।

41 'हिंदी भाषा का उद्गम और विकास', पृ० 56।

42 वही, पृ० 55।

43 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य', पृ० 24।

44 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ० 5।

45 'संस्कार पाठ्य संयुक्ता सम्यग् राज्ये प्रतिष्ठिता'—नाट्यशास्त्र, 17।29।

46 'हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास' (प्रथम भाग), डा० भोलाशंकर व्यास, पृ० 208।

47 द्रष्टव्य
'हिंदी साहित्य' (प्रथम खंड) डा० हरदेव बाहरी, पृ० 138 139।
'अपभ्रंश भाषा का अध्ययन' डा० वीरेंद्र श्रीवास्तव, पृ० 35।

48 'विभिन्न बोलियों के एक शृंखला की कड़ियों के रूप में होते हुए भी प्राचीनकाल में प्रायः विदेशी लोग भारतीय भाषा को एक ही समझते थे और संस्कृत उस शृंखला की मध्य-स्थिति मणि-सी थी।'—'भारतीय आर्य भाषा और हिंदी', पृ० 93।
49 'इसके विजयी जीवन का आरंभ इसके जन्म से तभी हो गया, जब इसने भारत की दिग्विजय का श्रीगणेश किया और एक वास्तविक 'देवभाषा' के रूप में इसका विस्तीर्ण प्रभाव अत्यंत सुदूरवर्ती देशों पर भी पड़ा।' —'भारतीय आर्य भाषा और हिंदी', पृ० 76।
50 'हिंदी साहित्य' (प्रथम खंड), पृ० 238 से साभार उद्धृत।
51 'हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास', (प्रथम भाग), पृ० 255।
52 'हिंदी साहित्य' (प्रथम खंड), पृ० 237।
53 'हिंदी साहित्य' (प्रथम खंड), पृ० 237-38 से साभार उद्धृत।
54 'हिंदी साहित्य' (प्रथम खंड), पृ० 238।
55 वही, पृ० 239 से साभार उद्धृत।
56 द्रष्टव्य :
'भाषा विज्ञान की भूमिका', पृ० 119 20।
'भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास', पृ० 60।
57 'हिंदी भाषा का उद्गम और विकास', पृ० 60।
58 'भारतीय आर्य भाषा और हिंदी', पृ० 107।
59 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य', पृ० 25।
60 विस्तृत विवरण के लिए देखिए 'पालि साहित्य का इतिहास' भरत सिंह उपाध्याय।
61 द्रष्टव्य :
'Origin and Development of Bengali Language', p 55
62 'भारतीय आर्य भाषा और हिंदी', पृ० 187।
63 'मध्यदेश की भाषा के प्रभाव द्वितीय शती ई० पू० के समय में भी उड़ीसा तक पहुंचे पाए जाते हैं। खारवेल शिलालेख एक ऐसी बोली में उत्कीर्ण है, जो पालि एवं तथाकथित कल्पित 'प्राचीन शौरसेनी' दोनों से मिलती-जुलती है।'—'भारतीय आर्य भाषा और हिंदी', पृ० 187-188।
64 'भारतीय आर्य भाषा और हिंदी', पृ० 188।
65 'Origin and Development of Bengali Language, p 60
66 'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरसूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥' —'काव्य दर्श' 1134।
67. 'प्राकृत-प्रकाश', 12।3'।

68 'Journal of Deptt of Letters, Calcutta University', Vol 23, 1933

69 द्रष्टव्य :
भारतीय आर्य भाषा और हिंदी', पृ० 102।

70 'Thus we may conclude that Prakrit, though it may be called Maharastri for the sake of Dandi, was not the dialect which has its origin in Maharastra and the geographical area which it has any possible vital connection is the Indian Midland and it is the language of S'aursena Region'—'Maharastri A Later Phase of S'auraseni, J D L C, Vol 23, p 24

71 'It is rather hasty to assume that Marathi is the final decedent of the Maharastri Prakrit'—'Comparative Grammer of Modern Aryan Language', p 34

72 'Like Brajbhasa in Northern India from the 15th Century downwards Maharastri become the recognised dialect of lyrics in the Second MIA period'—'Origin and Development of Bangali Language', p 86

73 द्रष्टव्य 'भारतीय आर्यभाषा और हिंदी', पृ० 81।

74 'परसा सक्कअबधा पाउअबधा वि होइ सुउमारो।
पुरुस महिलाण जेत्तिअ मिहतर तेत्तिअ मिमाम ॥'—'कर्पूरमजरी, 118।

73 'नाट्यशास्त्र', 17।47।

76 द्रष्टव्य
'राष्ट्रभाषा पर विचार' श्री चद्रवली पाडेय, पृ० 58।

77 'महाराष्ट्री उस समय की राष्ट्र भर की भाषा थी, इसलिए महाराष्ट्र शब्द समस्त राष्ट्र का बोधक भी माना जा सकता है।'—'हिंदीभाषा', पृ० 110।

78 द्रष्टव्य 'भारत की भाषाए और भाषा सबधी समस्याए' डा० चटर्जी, पृ० 95 96।
'सूर पूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य', पृ० 36।

79 'हिंदी के विकास म अपभ्रश का योग', पृ० 49।

80 'हिंदी के विकास म अपभ्रश का योग', पृ० 60।

81 द्रष्टव्य
'भारत की भाषाए और भाषा सबधी समस्याए', पृ० 96।

'भारतीय आर्यभाषा और हिंदी', पृ० 190-191।
'ओरिजिन एंड डेवलपमेंट आफ बंगाली लेंग्वेज' (भूमिका), पृ० 91।
'हिंदी भाषा का उद्गम और विकास', पृ० 127।
'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य', पृ० 36।

82 विक्रमोवर्शीय की अपभ्रंश काव्य शैली का निम्नलिखित रूप द्रष्टव्य है—
'मई जाणिउ मिअलोयणि णिसियरू कोइ हरेइ।
जा वण णव तडिसामलो धाराहरू वरिसेइ।।'
(मैंने तो समझा था मृगलोचनी उर्वशी को कोई निशचर हरण करके ले जा रहा है, किंतु मुझे अपनी भ्रांति का पता तब तक न चल पाया, जब तक नवीन विद्युत से सुशोभित श्यामल मेघ न बरसने लगा।)

83 द्रष्टव्य 'परमात्मप्रकाश' (भूमिका), पृ० 56।

84 'Gujrat and its Literature' K M Munshi, p 20

85 'इस शौरसेनी अपभ्रंश मे पश्चिमी भारत के जैनो ने विराट् साहित्य का निर्माण किया।'
'भारत की भाषाएं और भाषा संबंधी समस्याएं', पृ० 96।

86 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ० 50।

87 'भारत की भाषाएं और भाषा संबंधी समस्याएं', पृ० 95।

88 'भारतीय आर्य भाषा और हिंदी', पृ० 190।

89 'श्री हर्ष जैसे संस्कृत के पंडित कवि से गाहड़वालों का दरबार सुशोभित था। ऐसे सुसंस्कृत दरबार मे भला लोकभाषा के कवि की कहां पूछ।'
'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ० 51।

90 'राजस्थानी भाषा', पृ० 62-63।

91 'लगभग 10वीं से 12वीं शती तक पश्चिमी अपभ्रंश बड़े वेग के साथ प्रचलित थी और (संस्कृत तथा अन्य प्राकृतो के अतिरिक्त भी) सर्वसाधारण की साहित्यिक तथा दैनिक जीवन के व्यवहार की भाषा बनी हुई थी।' —'भारतीय आर्यभाषा और हिंदी', पृ० 191।
'9वीं से 12वीं शताब्दी के काल मे परिनिष्ठित अपभ्रंश, राजपूत राजाओं की प्रतिष्ठा और प्रभाव के कारण, जिनके दरबारो में इसी शौरसेनी की परवर्ती या उसी पर आधृत भाषाएं व्यवहृत होती थी और जिसे चारणो ने समृद्ध और शक्ति संपन्न बनाया था, पश्चिम में पंजाब और गुजरात से लेकर पूरब मे बंगाल तक समूचे आर्य भारत मे प्रचलित हो गया। संभवत यह उस काल की राष्ट्रभाषा माना जाता था।'—'आरिजिन एंड डेवलपमेंट आफ बेंगाली लेंग्वेज', पृ० 113।

92 भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में जो अनेक देसी भाषाएं बोली

जाती हैं, उनमे एक भाषा ऐसी है जिसमे शेष सब भाषाओं की अपेक्षा एक बड़ी भारी विशेषता है, वह यह कि उसका प्रचार सबसे अधिक है। वह भाषा हिंदी है। हिंदी जानने वाला आदमी सपूर्ण भारत मे यात्रा कर सकता है और उसे हर जगह हिंदी बोलने वाले मिल सकते हैं।'—ऐनी बेसेंट जिस भाषा का व्यवहार भारत के प्रत्येक प्रात के लोग करते हैं, जो पढ़े-लिखे तथा अनपढ़ दोनों की साधारण बोलचाल की भाषा है, और जिसको प्रत्येक गाव मे थोड़े बहुत लोग अवश्य समझ लेते हैं, इसी का यथार्थ नाम हिंदी है।'—एच० टी० कोलब्रुक।

'हिंदी · उद्भव, विकास और रूप', पृ० 214 से साभार उद्धृत।

93 'हमारे देश मे अति प्राचीन काल से परस्पर व्यवहार की एक भाषा रही है और वह भाषा मध्यदेश को आर्य परिवार की भाषा रही है। देश विभिन्न प्रदेशों म विभाजित रहा है और वहा अपनी क्षेत्रीय भाषाए रही हैं, परतु धार्मिक और राजनीतिक कारणो से साधु-सत तथा सामान्य जन आवागमन के आधुनिक साधनो के अभाव म भी हिमालय से कन्या-कुमारी तक और द्वारिका से पुरी और काठमाडु तक यात्राए किया करते थे और कभी सस्कृत, कभी पालि, कभी प्राकृत, कभी अपभ्र श का सहारा लिया करते थे और अपभ्र श के पश्चात हिंदी के माध्यम से अपना व्यवहार सचित करते रहे हैं।'

प० विनयमोहन शर्मा 'हिंदी का व्यावहारिक रूप', पृ० 19-20।

94 'हिंदी उद्भव विकास और रूप', पृ० 58।

95 द्रष्टव्य हिंदी उद्भव, विकास और रूप', पृ० 44।

96 द्रष्टव्य 'राष्ट्रभाषा हिंदी समस्याए और समाधान', पृ० 18।

97 द्रष्टव्य :

'हिंदी भाषा का इतिहास' (डा० धीरेंद्र वर्मा) मे सलग्न हिंदी प्रदेश का मानचित्र।

98 'हिंदी साहित्य' (प्रथम खड), पृ० 197-98।

99 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य', पृ० 4 से साभार उद्धृत।

100 द्रष्टव्य

'हिंदी उद्भव, विकास और रूप', पृ० 240।

101 '1000 ई० के आसपास शौरसेनी अपभ्र श को अपनी जन्मभूमि मे ब्रज-भाषा का उदय हुआ—उस समय उसके सिर पर साहित्यिक अपभ्र श की छाया थी और रक्त म शौरसनी भाषाओं की परपरा, और अन्य सामाजिक और सास्कृतिक तत्वो का ओज और बल'—'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य', पृ० 39।

102 It is a form of Hindi used in literature of the classical period and is hence considered to be the dialectos praecipua and may well be considered as typical of Midland Language' 'On the Modern Indo Aryan Vernaculars', p 10

103 11वीं शती के आसपास इस प्रदेश की जनभाषा के रूप में ब्रजभाषा का विकास हुआ, अपनी किशोरावस्था में, मुसलमानी आक्रमण के काल में, यह उत्तर की सांस्कृतिक और राजकीय भाषा के रूप में सामंती दरबारों में मान्य हुई, फलतः एक ओर जहां वीरता और शौर्य के भावों से परिपुष्ट होकर इस भाषा में नई शक्ति का संचार हुआ, वहीं दूसरी ओर मध्य-युग के भक्ति-आंदोलन के प्रमुख माध्यम के रूप में इसे पवित्र और मधुर भाषा की प्रतिष्ठा भी मिली।' —सू० पू० ब्र० साहित्य', पृ० 18।

104 द्रष्टव्य 'भारतीय आर्यभाषा और हिंदी', पृ० 206-207।

105 विस्तृत जानकारी के लिए द्रष्टव्य 'इसी प्रबंध का अगला अध्याय'।

मुस्लिम शासनतंत्र और हिन्दी

हिंदी भाषा के जन्म के समय भारत का राजनीतिक वातावरण काफी अशांत था। भारतीय इतिहास का यह वह काल था, जब इस्लाम के प्रचार-प्रसार के लिए कृतसंकल्प मुसलमानो के अनेक आक्रमण इस धरती पर हो रहे थे। सातवी शती के प्रारभ से हजरत मुहम्मद ने इस्लाम की स्थापना कर अरब के इतिहास मे एक नए युग का सूत्रपात किया और वहा की जनता को एक नवीन दिशा प्रदान की। संयोग की बात है कि इन्ही दिनो सम्राट हर्षवर्धन ने उत्तरी-पश्चिमी भारत मे एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। किंतु सातवी सदी के मध्य हर्षवर्धन की मृत्यु (647 ई०) के पश्चात् उसका विशाल साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। एक सशक्त केन्द्रीय सत्ता के अभाव मे देश छोटे-छोटे राज्यो मे विभक्त हो गया। इन राज्यो के शासक व्यक्तिगत स्वार्थ के वशीभूत हो आपस मे युद्ध, एक-दूसरे की कन्याओ का अपहरण, राज्य विजय एव लूट-खसोट किया करते थे। परन्तु दूसरी ओर अरब की स्थिति इससे भिन्न थी। अरब ने इसी समय एकाधिक देशो पर विजय प्राप्त की। भारत के इस राजनीतिक विघटन को दृष्टि मे रखते हुए सन् 712 ई० मे अरब-सेनापति मुहम्मद बिन कासिम ने देश के सीमावर्ती प्रदेश सिन्ध पर अपना आधिपत्य जमा लिया। अब मुसलमानो के लिए भारत का दरवाजा खुल गया। यदा-कदा भारत पर आक्रमण होते रहे। तुर्कों द्वारा स्थापित गजनी राज्य के महान् पराक्रमी राजा सुबुक्तगीन ने सन् 977 ई० से 997 ई० के मध्य भारत पर अनेक आक्रमण किए। इसके पश्चात् महमूद गजनवी के सन् 1000 से 1027 के बीच अनेक आक्रमण होते रहे। इन आक्रमणो के फलस्वरूप उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रान्त, पश्चिमी पंजाब, सिंध, आदि भारत के विविध प्रदेश मुस्लिम शासकों के अधीनस्थ होते गए। किंतु गजनी की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियो मे वह

शक्ति न रही, ताकि इस विजित राज्य पर शासन कर पाते, फलस्वरूप उपर्युक्त भारतीय प्रदेश स्वतंत्र हो गए।

बारहवीं शती के अन्तिम चरण से भारत पर विदेशियों का पुनः आक्रमण शुरू हुआ। इन दिनों भारत में अनेक राजपूत राजाओं के छोटे-छोटे राज्य स्थापित थे। हिंदी प्रदेश मुख्यतः तीन भिन्न-भिन्न राज्यों में विभक्त था। पश्चिम में चौहान वंशीय राजाओं की राजधानी दिल्ली थी। कालांतर में अजमेर राज्य भी इसी में शामिल हो गया। राजस्थान में राजपूतों का राज्य था और पूर्व में गढ़वाल वंश की राजधानी कन्नौज थी, जिसकी राज्य सीमा का विस्तार अयोध्या से लेकर काशी तक था।

बारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में मुहम्मद गौरी ने चौहान वंशीय महान् पराक्रमी सम्राट पृथ्वीराज को हराकर दिल्ली पर अधिकार जमा लिया और इस प्रकार भारत में मुस्लिम शासन की सुदृढ़ नींव डाली। कन्नौज के राजा जयचन्द की पराजय के साथ काशी तक उसका राज्य स्थापित हो गया और आगे चलकर समस्त हिंदी-प्रदेश मुस्लिम साम्राज्य के अंतर्गत आ गया। गौरी की मृत्यु के बाद 1206 ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक दिल्ली के राज्य सिंहासन पर बैठा। इसके शासन काल में समस्त उत्तर भारत तुर्कों के आधिपत्य में आ गया। 'सामान्यतः भारतीय इतिहास में 1206 ई० समय का वह बिंदु माना जा सकता है जहां से मुस्लिम शासन की विकास-रेखा मुगल साम्राज्य के अंतर (1803 ई०) तक खींची जा सकती है।'[1] अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से मुस्लिम शासन तंत्र के इन 600 वर्षों के इतिहास को दो भागों में बांटा जा सकता है

1 तुर्क-अफगान-शासन तंत्र *(1206 ई० से 1525 ई० तक)*, और
2 मुगल-शासन तंत्र (1525 से 1803 ई० तक)।

तुर्क-अफगान-शासन और हिंदी

भारत में मुगल शासन की स्थापना के पूर्व सन् 1206 से 1525 ई० के मध्य तुर्कों एवं अफगानों के विभिन्न पांच वंशों (गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद तथा लोदी) ने शासन किया। मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद प्रथम सौ-डेढ़ सौ वर्षों के मध्य देश में भय, आतंक तथा शक्ति का साम्राज्य था। भारतीय राजाओं ने समय-समय पर इन विदेशी आक्रमणकारी शासकों का अनेक बार बड़ी वीरता के साथ सामना किया। परन्तु राष्ट्रीय भावना तथा जातीय संगठन की कमी के कारण पराजय ही उनके हाथ लगी। राजनीतिक विघटन के इस उथल-पुथल अशांतिमय वातावरण में हिंदी को यथेष्ट प्रश्रय न मिला। इन विदेशी शासकों की मातृभाषा तुर्की, धर्मभाषा अरबी व राजभाषा फारसी थी। इसलिए उन्होंने देश की प्रमुख भाषा हिंदी की ओर ध्यान ही नहीं दिया। इनका मुख्य कार्य देश पर

आतक फैलाकर अपनी सत्ता बनाए रखना था। इसलिए भी वे हिंदी जैसी देश की भाषाओं के प्रति प्राय उदासीन रहे।

परतु धीरे-धीरे जब शान्ति स्थापित हुई, दो विभिन्न सस्कृतियो मे पले हुए हिंदुओ और मुसलमानो मे सपर्क बढने लगा, एक-दूसरे को समझने की चेष्टाए होने लगी, ऐसी स्थिति मे हिंदी का विकास आगे बढा, यद्यपि गति मथर ही थी। मुसलमानो का सबध इस देश की धरती से ज्यो-ज्यो घनिष्ठ होता गया, त्यो त्यो देश की सपर्क भाषा हिंदी की महत्ता उनकी समझ मे आती गई। अत आपस मे भले ही वे तुर्की अथवा फारसी का प्रयोग करते रहे हो, किंतु सामान्य जनता के साथ बातचीत करते समय तत्कालीन प्रचलित खड़ी बोली का प्रयोग उनके लिए भी लाजमी हो गया। 'हिंदुस्तान मे मुसलमान हुक्मरानो के साथ-साथ फारसी राजभाषा बनकर आई और मुगलकाल के अत तक वह इसी रूप मे इस्तेमाल होती रही। लोगो की भाषा उत्तर और मध्य भारत मे बराबर हिंदी बनी रही।'[2] प० जवाहर लाल नेहरू के इस कथन से भी यही ध्वनि निकलती है कि बहुत दिनो तक मुसलमानों के द्वारा भी हिंदी की अवहेलना नही की जा सकी।

तुर्कों तथा अफगानो के शासन म मुख्य रूप से फारसी राजभाषा रही। किंतु आंशिक रूप से हिंदी का व्यवहार भी सरकारी कामकाज मे होता रहा। फारसी मात्र से देश का कामकाज चलाना आसान नही था। इसलिए शासन-व्यवस्था मे भी हिंदी के प्रयोग की छूट थी। इस सबध मे डा० आबिद हुसैन का यह कथन द्रष्टव्य है:

'उत्तर भारत मे राजभाषा फारसी थी। सरकारी नौकरिया करने वाले हिंदुओ ने सिकदर लोदी के शासन काल (सोलहवी शताब्दी के आरभ) मे ही फारसी सीखना शुरू कर दिया था, लेकिन राज्य का हिसाब-किताब अब भी हिंदी मे होता था। अत राज्य के हिंदू कर्मचारियो के लिए फारसी सीखना अनिवार्य न था।'[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तुर्कों एव अफगानो के शासन काल मे हिंदी की कोई विशेष श्रीवृद्धि न हो सकी, उसे फूलने-फलने का उचित अवसर नही मिला। किंतु खिलजी वश के सम्राट अलाउद्दीन खिलजी की दक्षिणी विजयो के फलस्वरूप हिंदी का प्रसार दक्षिण भारत मे हुआ, इस तथ्य से इनकार नही किया जा सकता। दक्षिण मे पहुचने पर इस भाषा को भारत की आदिलशाही, कुतुबशाही, बरीदशाही, इमामशाही, तथा निजामशाही राज्यो का सरक्षण मिला। इतना ही नही, बल्कि कालातर मे दक्नी या दक्खिनी नाम से प्रसिद्ध होने वाली उत्तर भारत की यह भाषा वहा बहुत दिनो तक साहित्य, शासन तथा विचार-सपर्क की भाषा बनी रही।

चौदहवी शती के अंतिम चरण मे भारत की राजपूती शक्तियो ने एक बार पुन अपना सिर उठाया। फलस्वरूप राजपूताना मे एकाधिक स्वतत्र राज्य स्थापित हुए। इस समय अफगानो की राज्य शक्ति काफी दुर्बल हो चली थी। दिल्ली सल्तनत के अनेक सुल्तानो ने भी अपना अलग-अलग स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया था। राजनीतिक विघटन की इस दुरावस्था के मध्य सन् 1398 ई० मे तैमूर-लग ने भारत पर आक्रमण किया। लगभग एक शताब्दी पश्चात् तैमूर के ही वशज बाबर ने साम्राज्यवादी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर भारत पर सशक्त आक्रमण किया और 1525 ई० मे दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी को परास्त कर भारत मे मुगल राज्य की स्थापना की। उसकी मृत्यु (1530 ई०) के आसपास समस्त उत्तर भारत पर मुगल साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी। इसके बाद उसका पुत्र हुमायू भारत के राज्य सिंहासन पर बैठा। 1556 ई० मे अकबर मुगल साम्राज्य का अधिपति बना। उसने अपने साम्राज्य का दूर-दूर तक विस्तार किया। अकबर के दो उत्तराधिकारियो—जहागीर (1605 से 1627 ई०) तथा शाहजहा (1627 से 1658 ई०)—ने भी मुगल साम्राज्य को विस्तृत एव सुदृढ किया। इसके पश्चात कट्टर इस्लामी रग मे रगे हुए सम्राट औरगजेब का जमाना आया। 1658 स 1707 ई० तक यह भारत का शासक रहा। किंतु इसके शासन काल मे मुगल साम्राज्य का कुछ भी विकास न हो सका। सम्राट की हिंदुओ के प्रति अनुदारवादी नीति मुगल साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुई और क्रमश मुगल साम्राज्य पतन की ओर जाने लगा। इस प्रकार जिस साम्राज्य की स्थापना सोलहवी शती के आदि चरण में हुई थी, उसका पतन अठारहवी शती से प्रारभ हो गया और देश मे अग्रेजी राज्य का सिक्का जमने लगा।

मुगल शासक और हिंदी

मुगल साम्राज्य स्थापित हो जाने के पश्चात देश की राजनीतिक स्थिति म स्थिरता आ गई, अशात वातावरण 'शात' मे बदल गया, साथ ही अधिकाश मुगल-सम्राट कलाप्रेमी एव पारखी हुए। इन दो कारणो से हिंदी को मुगलकाल में अपेक्षाकृत विशेष प्रश्रय मिला। मुगल साम्राज्य के वास्तविक सस्थापक सम्राट अकबर की कलाप्रियता, उसके विद्यानुराग और उदारवादी दृष्टिकोण ने भारतीय संस्कृति और कला मे एक अद्भुत मोड उपस्थित कर दिया। अकबर के शासन काल मे हिंदी कविता को बडा प्रोत्साहन मिला। उसके दरबार मे फारसी के साथ हिंदी कवियो का भी विशेष सम्मान था। श्री सत्यकेतु विद्यालकार ने लिखा है. 'अकबर को स्वय भी हिंदी कविता का शौक था और अनेक ऐसे कवित्त अब तक भी विद्यमान हैं, जिन्हें 'साहि-अकबर' का बनाया हुआ माना जाता है।'[1]

अकबर के पुत्र जहागीर के सबध मे भी कहा जाता है कि 'उसको फारसी

तथा तुर्की भाषा के साथ-साथ हिंदी का भी अच्छा ज्ञान था। वह हिंदी गीतो मे बडा आनद लेता था तथा कभी-कभी कविता करता था।'[5] शाहजहा के जमाने मे भी राजाश्रय के द्वारा हिंदी भाषा व साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ। औरगजेब इस्लाम का कट्टर अनुयायी था अवश्य, फिर भी उसके दरबार मे हिंदी कविता को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। वह जन्म से ही विद्या प्रेमी था, अरबी-फारसी का अच्छा विद्वान था तथा हिंदी भी धारा प्रवाह से बोल सकता था।'[6] इस सबध मे श्री पद्म सिह शर्मा का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है

'बादशाह औरगजेब का मजहबी जोश मशहूर है। मजहब के मामले मे वह बड़े कट्टर थे, मगर भाषा के बारे मे वह भी उदार थे। उनके दरबार मे हिंदी कवि रहते थे। औरगजेब खुद भी हिंदी के प्रेमी थे। सस्कृत मे शायद उन्हें कुछ दखल था।'[7]

ऐसी भी सभावना की जाती है कि औरगजेब की पुत्री शाहजादी जेबुन्निसा ने भी 'नैन विलास' नामक हिंदी मे एक काव्य की रचना की। इस सदर्भ में शाहजादी जेबुन्निसा का यह छन्द द्रष्टव्य है .

'जेबुन्निसा जहान मे, दुस्तर आलम गीर।
नैनविलास विनाम मे, खास करी तहरीर॥'[8]

भाषा के प्रति इन मुस्लिम शासको के उदारवादी दृष्टिकोण एव हिंदी-प्रेम के फलस्वरूप अनेक हिंदू राजाओ ने भी हिंदी कवियो को आश्रय दिया। इससे भी हिंदी को व्यापक होने, तथा साहित्य की मुख्य भाषा बनने मे सहायता मिली।

जहा तक राजभाषा का प्रश्न है मुस्लिम शासन काल मे फारसी राजभाषा के पद पर सर्वदा आसीन रही। किंतु सहभाषा के रूप मे देश की सपर्क भाषा हिंदी का भी कम महत्व न रहा। कारण यह कि हिंदुओ के लिए फारसी मे कामकाज करना आसान नही था। दूसरे मुस्लिम विजेताओ को भी इस बात का एहसास हो गया था कि देश की सपर्क भाषा हिंदी है, अत बिना इसके जाने समूचे देश पर शासन कर पाना सभव नही।

सन् 1540 ई० मे शेरशाह सूरी ने हुमायू को पराजित कर दिल्ली पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। 'उसके सिक्को पर नागरी और फारसी मे उसका नाम खुदा रहता था।'[9] सूरी वशीय इस सम्राट् के सबध मे यह भी कहा जाता है कि उसने अपने राज्य मे फारसी जानने वाले मुशियो के साथ हिंदी के मुशी भी नियुक्त किये थे, ताकि साधारण जनता को कष्ट न हो। मुसलमान बादशाहो द्वारा हिंदी मुशियो की नियुक्ति की बात का समर्थन फासीसी इतिहासकार 'गार्सा-द-तासी' ने भी किया है। वह लिखता है :

'वाकआ यह है कि मुसलमान बादशाह बादशाह हमेश एक हिन्दी सिक्रेटरी जो हिन्दी नवीस कहलाता था, और एक फारसी सिक्रेटरी जिसको फारसी नवीस कहते थे, रखा करते थे ताकि उनके एहकाम इन दोनों जबानों में लिखे जायें।'[10]

हिंदी में सरकारी कामकाज करने की परंपरा मुगलकाल में भी चलती रही। मुगलवंश के तीसरे सम्राट् अकबर के शासनकाल में उनके अर्थमंत्री टोडरमल ने सरकारी हिसाब किताब तथा पत्र व्यवहार के लिए हिंदी के स्थान पर फारसी के प्रयोग का आदेश दिया था।[11] इस आदेश के परिणामस्वरूप हिंदू कर्मचारियों को जो बहुत बड़ी संख्या में थे, फारसी सीखनी पड़ी थी। फिर भी 'अकबर के शासनकाल में हिंदी का आधिक राजभाषा के रूप में चलन एवं प्रयोग पूरी तरह बंद नहीं हुआ।'[12] यह संभव भी न था, क्योंकि कई सदियों से चले आते हुए हिंदी प्रयोग पर सहसा पूर्ण रूप से अंकुश नहीं रखा जा सका होगा। किंतु आगे चलकर राजभाषा के क्षेत्र में फारसी का स्थान दिन-प्रतिदिन महत्त्वपूर्ण होता गया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राजभाषा के रूप में अपने-अपने जमाने में मध्यदेशीय भाषाओं—संस्कृत, पालि, शौरसेनी प्राकृत एवं अपभ्रंश को जो महत्त्व-पूर्ण स्थान प्राप्त था, उन्हीं की उत्तराधिकारिणी होने के बावजूद हिंदी को मुस्लिम शासन तंत्र के मध्य वह स्थान प्राप्त न हो सका चूंकि उस समय देश पर विदेशी मुसलमानों का शासन था, इसलिए विदेशी भाषा फारसी ने हिंदी को प्राप्त होने वाले शासन संबंधी अधिकार छीन लिए और पूरे मुस्लिम शासन-काल तक वह राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित रही। यह बात जुदा है कि इस सिलसिले में कुछ दूर तक उसने हिंदी से संधि कर ली हो।

परंतु अपनी महती भाषा परंपरा से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हिंदी का एक अपना निजी क्षेत्र अखिल देशीय संपर्क भाषा का था, जिसका स्पर्श चाहे-अनचाहे विदेशी भाषा फारसी कभी भी न कर पायी। इस विषय में डॉ॰ हामीद का निम्नांकित कथन महत्त्वपूर्ण है

'मुगलों की दरबारी अर्थात् राजकाज की भाषा (फारसी) कभी भी बोलचाल की भाषा नहीं बनी। उस समय कश्मीर, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य भारत में हिंदी भाषा ही आंतर भाषा (लिंग्वाफ्रांका) के रूप में प्रचलित रही। मुगल शासकों के राज्य विस्तार के साथ हिंदी दक्षिण में भी विकसित हुई।'[13]

फारसी का राजभाषा की दृष्टि से चाहे जितना भी महत्त्व रहा हो, परंतु उसे लोकभाषा के रूप में पनपने का मौका बिल्कुल ही नहीं मिला। विदेशी होने के कारण वह भारतीयता के अनुरूप न थी और साथ ही प्रचार-प्रसार की सभा-

वनाओं से रहित थी। इसलिये इस काल में उत्तर भारत की भाषा हिंदी को जनभाषा के रूप में फैलने का पर्याप्त अवसर व क्षेत्र प्राप्त हुआ। डा० रामविलास शर्मा का तो यहां तक कथन है कि 'अकबर के शासन तक आते-आते मुगल घराने की नित्य प्रति के व्यवहार की भाषा भी हिंदी हो चुकी थी।'[14] सत्य तो यह है कि मुगलों के भारत में आने के बाद हिंदी का क्षेत्र और भी व्यापक हो गया।

हिंदी की व्यापकता और उसके कारण

मुस्लिम शासन तंत्र के अंतर्गत हिंदी का देशव्यापी बनाने का प्रमुख श्रेय तत्कालीन सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों को है, जिनके कारण हिंदी का प्रचार एवं प्रसार हिंदी प्रदेश के अतिरिक्त पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल आदि उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत जैसे अहिंदी भाषी प्रदेशों में हुआ। डा० विनयमोहन शर्मा ने अपने प्रबंध 'हिंदी को मराठी संतों की देन' में दक्षिणापथ में हिंदी संचार के तीन मुख्य कारणों—राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक—पर प्रकाश डाला है।'[15] और कुछ अन्य विद्वानों ने हिंदी की व्यापकता पर विचार करते हुए सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक एवं व्यापारिक कारणों की विशेष चर्चा की है। अतः इनकी संक्षिप्त चर्चा स्पष्टीकरण में सहायक सिद्ध होगी।

धार्मिक कारण

किसी भी धर्म प्रवर्तक की यह उत्कट अभिलाषा होती है कि उसके धर्म का प्रचार अधिक से अधिक लोगों तक हो। इसलिए यह सर्वमान्य तथ्य है कि कोई भी धर्म प्रवर्तक धर्म प्रचार के लिए लोकभाषा का ही आश्रय लेता है। उदाहरण के लिए हमें कहीं दूर जाना न होगा। महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेश तत्कालीन अति प्रचलित लोकभाषा पालि में ही दिये थे। वे चाहते तो शिक्षित जन समुदाय के मध्य विचरण करने वाली परिनिष्ठित भाषा संस्कृत को अपने उपदेशों की वाहिनी बना सकते थे किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। जैन धर्म के प्रचार का माध्यम लोकभाषा प्राकृत ही थी, कोई दूसरी नहीं। वस्तुतः धार्मिक विचारों की सच्ची वाहिनी लोकभाषा ही होती है। यही कारण है कि मुस्लिम शासन काल में निर्गुणपंथी संतों तथा वैष्णव धर्मावलम्बियों ने हिंदी की विविध बोलियों के माध्यम से ही अपने धार्मिक सिद्धांतों का प्रचार किया। इस प्रकार मध्यकालीन भारत में जिन धार्मिक आंदोलनों द्वारा हिंदी की व्यापकता को विशेष बल मिला, उनमें निर्गुण संत मत तथा वैष्णव धर्म प्रमुख हैं।

निर्गुण संतों ने अपने सिद्धांत के प्रचार के लिए मिली-जुली हिंदी[16] का प्रयोग किया। संतों के द्वारा इस मिली-जुली लोकभाषा को अपनाने का रहस्य

यह था कि वे हिंदुओं एवं मुसलमानों के बीच भेद को मिटा देना चाहते थे। इसलिए उन्होंने एक ओर संस्कृत तथा दूसरी ओर फारसी का त्याग कर उस समय की लोकभाषा खड़ी बोली हिंदी को ही अपनाया।

संतों का न तो कोई देश होता था और न प्रदेश। उनके लिए सारा देश एक-सा था। सच तो यह है कि उनके लिए जाति और भाषा का कोई प्रश्न ही न था। उनके विचारों की वाहिनी वही भाषा हो सकती थी, जो बहु-प्रचलित तथा व्यापक हो। यही कारण है कि समस्त भारत के संत अपने प्रदेश से बाहर जाते ही हिंदी का प्रयोग करते थे। यदि ऐसा न होता तो काशी के कबीर, महाराष्ट्र के नामदेव, पंजाब के नानक आदि संतों को हिंदी को अपने विचारों की वाहिनी बनाने की जरूरत ही क्यों पड़ती ?

वस्तु स्थिति तो यह है कि यह भाषा प्रारंभ से ही व्यापक भाषा थी। इसलिए विचारों के आदान-प्रदान के लिए अहिंदी भाषी प्रदेशों में भ्रमण करते समय संत लोग इसी भाषा का अधिक प्रयोग करते थे। संतों की वाणी के प्रति जन साधारण का स्वाभाविक आकर्षण रहता था, इसलिए वे उसे सुनने और समझने के लिए सदा लालायित रहते थे। इस प्रकार संतों के समागमन से हिंदी का प्रचार बढ़ता गया और यह भाषा अहिंदी भाषी प्रदेशों में अधिक से अधिक व्यापक बनती गयी।

निर्गुण संतों के बाद वैष्णव धर्म ने भी हिंदी को व्यापकता प्रदान करने में सफल भूमिका का निर्वाह किया। दक्षिण के आचार्यों द्वारा उत्तर भारत में वैष्णव धर्म की जो धारा प्रवाहित हुई उसने संपूर्ण देश का हृदय स्निग्ध हो उठा। देश के कण कण में भक्ति की लहर दौड़ गई। भक्ति की जिस धारा में उस समय की जनता निमग्न हो रही थी, उससे अलग रहना उस समय के भाषा-कवियों के वश की बात न थी। मुस्लिम शासन काल में राम और कृष्ण की भक्ति का प्रभाव इतना व्यापक हुआ कि भक्तगण अपने इष्टदेवों की जन्मभूमि की भाषा अवधी और ब्रज द्वारा ही भक्ति के पद लिखने में अपने को धन्य समझने लगे। विभिन्न प्रदेशों के अनेक कवि इसी भक्ति भावना में लीन होकर ब्रज और अवधी का संरक्षण करते रहे। भक्ति के इस रस में डूबकर मुसलमान कवियों ने भी ब्रज और अवधी में निबद्ध पद-रत्नों की प्राप्ति की।

सारांश यह कि हिंदी को व्यापक बनाने में वैष्णव संप्रदाय के अनुयायियों का प्रमुख हाथ रहा। जहां-जहां यह धर्म पहुंचा, वहां वहां ब्रज और अवधी भी उसके साथ पहुंची। जहां वल्लभाचार्य और उनके अनुयायियों ने कृष्ण भक्ति और ब्रज-भाषा के प्रचार में अभूतपूर्व योग दिया, वहीं राम भक्तों में तुलसीदास और उनके 'मानस' की लोकप्रियता ने भी अहिंदी भाषी लोगों को अवधी भाषा की ओर आकर्षित किया।

सास्कृतिक कारण

सास्कृतिक दृष्टि से भारत सदा ही एक रहा है। बाह्य रूप से देखने पर इसे विविध आस्थाओं, विश्वासों एव मत-मतातरों का देश कहा जा सकता है। किंतु भारतीय सस्कृति की यह अपनी मौलिक विशेषता है कि इसकी विविधता में एकता के सभी तत्व मौजूद हैं। भारत के चारो कोनो मे स्थित चार तीर्थ धाम इसकी सास्कृतिक एकता के आधार स्तम्भ हैं।

भारत के धार्मिक जीवन मे इन धामों (बद्रीनाथ, रामेश्वरम, जगन्नाथपुरी और द्वारिकापुरी) का बहुत बडा महत्त्व है। हिंदुओं के प्राय सभी अवतारो ने भी हिंदी भाषी प्रदेशो मे जन्म लिया है। हिंदुओ के प्राय अधिकाश तीर्थ स्थान इसी प्रदेश में हैं। इसलिए भारत के सभी कोनो से तीर्थ यात्री इस प्रदेश मे स्थित विविध धार्मिक स्थानों की यात्रा करने आते रहे हैं। इसी प्रकार उत्तर भारत के लोग भी पूर्व, पश्चिम तथा दक्खिन मे स्थापित धामो तथा तीर्थ स्थानों की यात्रा करते रहे हैं। चूकि देश के एक छोर से दूसरे छोर तक की यात्रा करने वालों को किसी एक सामान्य भाषा का आश्रय आवश्यक है और मध्यकालीन भारत मे हिंदी ही ऐसी व्यापक भाषा रही, इसलिए उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम के तीर्थ यात्री हिंदी के द्वारा ही विचार विनिमय करते रहे। इस प्रकार मुस्लिम शासन काल मे तीर्थ यात्रियो के गमनागमन से भी हिंदी को सार्वदेशिक भाषा के रूप मे विकसित होने का सुअवसर मिला। अत यह कहा जा सकता है कि हिंदी को व्यापक बनाने मे धार्मिक कारणो के समान ही सास्कृतिक कारणो का भी महत्त्व है।

राजनीतिक कारण

इस अध्याय के आदि में मुस्लिम शासन तत्र के बीच हिंदी की स्थिति को समझने के लिए राजनीतिक परिस्थिति का अपेक्षाकृत काफी जिक्र किया जा चुका है। यहा पर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि दिल्ली सैंकडो वर्षों से भारत की राजधानी रही। उसका सपूर्ण देश से राजनीतिक सबध होने के कारण वहा की लोकभाषा खडी बोली हिंदी को व्यापकता प्राप्त होना स्वाभाविक था। मुस्लिम शासको के कर्मचारी प्राय भारत के अहिंदी प्रदेश मे जाते आते रहते थे। इसलिए राजकीय स्तर पर भी हिंदी का प्रसार देश के विविध प्रदेशो मे हुआ। मुसलमान बादशाहो के दक्षिणविजय के साथ हिंदी को दक्षिण भारत मे जाने और वहा फैलने का भी पर्याप्त अवसर मिला। इसलिए हिंदी की व्यापकता के सदर्भ मे राजनीतिक कारणो को यो ही नही भुलाया जा सकता।

व्यापारिक कारण

किसी भी भाषा को व्यापकता प्रदान करने में वहा के व्यापारियो एव व्यवसायियों का भी विशेष हाथ रहता है। शौरसेनी अपभ्रंश की तरह हिंदी के विषय मे भी यह कहा जा सकता है कि उसे भी एक लबे अर्से से व्यापारियो द्वारा प्रश्रय दिया जाता रहा। इसका कारण यह है कि मुस्लिम शासन सत्र के अतर्गत मुगलकालीन सुगठित शासन व्यवस्था के बीच देश के अधिकांश महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र हिंदी प्रदेश मे ही स्थापित थे। आगरा, बनारस, जौनपुर, लखनऊ, फैजाबाद, पटना, अकबरपुर आदि नगर वस्त्र उद्योग के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। उन दिनो व्यापारिक दृष्टि से आगरा का अन्यतम महत्व था। यह नगर जरी के वस्त्रो, दरियो एव कांच के सामानो के लिए विशेष प्रसिद्ध था। विभिन्न व्यापारिक केंद्रो से यातायात के विविध मार्ग यहा आकर मिलते थे। पटना, बनारस तथा लखनऊ आदि नगरो का महत्व भी कम न था, किन्तु विभिन्न केंद्रो का माल प्राय आगरा से ही होकर गुजरता था और देश के विभिन्न बाजारो एव बदरगाहो तक पहुचता था। इन नगरों का व्यापारिक महत्व होने के कारण बाहर से आने वाले व्यापारी लेन-देन के सिलसिले म यहां की सर्व सुलभ लोक भाषा खडी बोली का ही प्रयोग करते थे।

राजनीतिक दृष्टि से दिल्ली का महत्व तो था ही, साथ ही व्यापारिक दृष्टि से भी उसका कम महत्व नही था। उन दिनो दिल्ली म देश विदेश से व्यापारियो का आवागमन होता रहता था। दिल्ली के व्यापारी अन्य प्रदेशो मे आया जाया करते थे। इससे वहां की खडी बोली हिंदी को फैलने का विशेष अवसर मिला। इस सदर्भ मे डा० रामविलास शर्मा का निम्नलिखित कथन तथ्यपूर्ण है

'केंद्रीय प्रदेश मे व्यापार की भाषा होने के कारण अतर-प्रातीय व्यवहार के लिए भी उसका प्रयोग होता था। यह आश्चर्य की बात होती कि अग्रेज व्यापारी खडी बोली सीखते और भारत के लोग अतर-प्रातीय व्यवहार के लिए खडी बोली को न अपनाते।'[1]

देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए मुगल सम्राटो ने लाहौर, आगरा, फतेहपुर सीकरी आदि नगरो मे अनेक उत्पादन केंद्र स्थापित किए थे। रोटी-रोजी की खोज मे विभिन्न बोलिया बोलने वाले व्यक्ति इन नगरो एव व्यापारिक केंद्रो म इकट्ठा होते थे और आपसी व्यवहार तथा लेन देन म एक सामान्य भाषा की आवश्यकता पडने पर खडी बोली का व्यवहार करते थे। इस प्रकार हिंदी की व्यापकता मे व्यापारिक कारणो का महत्व भी कम नही आका जा सकता।

साहित्यिक कारण

हिंदी की व्यापकता का एक प्रमुख आधार उसका अमूल्य साहित्य एवं संगीत की अपूर्व छटा भी है। हिंदी का प्राचीन साहित्य अति समृद्ध एवं विकसित है। उसके भक्तिकालीन साहित्य में इतना आकर्षण रहा कि विभिन्न प्रदेशों के साहित्यकारों ने जब भक्ति काव्य लिखना प्रारंभ किया, तब वे व्रज एवं अवधी के मोह से अपने को छुड़ा न सके। यदि उनको कृष्ण से प्रेम था तो व्रजभाषा से भी। यदि वे राम के भक्त थे तो उनकी भक्ति भावना अवधी के माध्यम से भी फूट चली। व्रज और अवधी के प्रति इस आकर्षण का मूलाधार धर्म भावना थी, किन्तु यह भी सत्य है कि कोई भी साहित्यिक अथवा रसिक व्रज की कोमलकांत पदावली को न भुला सका। व्रज भाषा साहित्य तथा संगीत दोनों के लिए सामान्य रूप से आकर्षण का केंद्र रही। कवियों के समान संगीत-प्रेमी भी व्रजभाषा पर आश्रित रहा करते थे। हिंदी प्रदेश ही नहीं, अपितु लगभग सभी प्रदेशों के संगीतज्ञ व्रजभाषा के ही पद गाते थे। एक ओर बंगाल के भरतचंद्र एवं गुजरात के प्रेमानंद, भालण आदि कवियों ने हिंदी को काव्य भाषा के रूप में ग्रहण किया, तो दूसरी ओर आसाम के कवि माधव का भी कंठ व्रजभाषा के माध्यम से ही फूटा। इन काव्यगत परंपराओं से हिंदी को व्यापकता प्राप्त हुई।

यहां तक हिंदी के संदर्भ में जो कुछ कहा गया है उसका मुख्य संबंध हिंदी भाषी क्षेत्र से ही माना जा सकता है अतः मुस्लिम शासन के अंतर्गत अहिंदी भाषी प्रदेश में हिंदी की स्थिति पर संक्षिप्त विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

'अहिंदी भाषी प्रदेश और हिंदी' : दक्षिण भारत

प्राचीन जमाने में दक्षिण भारत को दक्षिणापथ कहा जाता था। आज के केरल, मद्रास, मैसूर एवं आन्ध्र के चार प्रदेश इसी के अंतर्गत आते हैं। यहां की चार भाषाएं—मलयालम, तमिल, कन्नड, एवं तेलुगु—भारतीय आर्य भाषा-परिवार से भिन्न द्रविड़ भाषा परिवार की भाषाएं हैं। इसलिए हिंदी से इन भाषाओं का वह संबंध या वह परिचय नहीं रहा है, जो नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का है। दूसरे ये चारों राज्य हिंदी प्रदेश से अति दूर स्थित हैं, इसलिए यहां के लोग अपेक्षाकृत हिंदी कम बोलते एवं समझते रहे हैं। फिर भी दक्षिण भारत में हिंदी की व्यापकता के अनेक ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में हिंदी अथवा हिंदवी (दकनी) का प्रयोग एवं व्यवहार दक्षिण में भी होता रहा है।

खिलजी वंश के महान पराक्रमी सम्राट अलाउद्दीन खिलजी ने सन् 1297 से 1308 के बीच गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र तथा कर्नाटक पर विजय प्राप्त की। उस

समय दक्षिण भारत देवगिरि, वारंगल, मदुरा और द्वार समुद्र इन चार राजनीतिक इकाइयों मे बटा हुआ था। सन् 1311 तक आते-आते खिलजी वंश के सेनापति मलिक काफूर ने इन चारों क्षेत्रों पर अधिकार जमा लिया। दिल्ली के इस साम्राज्य विस्तार के कारण फारसी तथा हिंदी भाषियों का एक वृहद् समुदाय उत्तर से दक्षिण में आया। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से हिंदी को दक्षिण भारत में विकसित होने का सर्वप्रथम मौका मिला।'[18] मुहम्मद तुगलक के शासन काल (1327) में तो दक्षिण भारत को और अधिक महत्व मिला। सम्राट की राजधानी परिवर्तन की नीति से तमाम उत्तर भारत के निवासी दक्षिण भारत में आ बसे, जिससे हिंदी को दक्षिण भारत में प्रसरित होने का विशेष अवकाश प्राप्त हुआ।

सन् 1347 ई० मे दक्षिण के मुसलमान सरदारों ने दिल्ली साम्राज्य के प्रति विद्रोह कर दिया। फलस्वरूप स्वतंत्र बहमनी राज्य की स्थापना हुई। यह राज्य मराठी, कन्नड एवं तेलुगु आदि भाषाओं के भाषा क्षेत्र में पड़ता था। उत्तर भारत से आये हुए सैनिक व सरदार दक्षिण की इन विविध भाषाओं से अधिक परिचित न थे। वे हिंदवी (भाखा) से विशेष परिचित थे तथा उनके लिए इसी में काम-काज करना आसान था। इसलिए बहमनी वंश के शासकों ने दक्खिनी (हिंदी) को राज-भाषा बनाया।

वस्तुतः 'दक्खिनी' उत्तर भारत की बोली थी, जिसका विकास दक्षिण में हुआ था तथा जिस पर दक्षिण की भाषाओं का भी प्रभाव था। बहमनी वंश के राज्य में दक्खिनी भाषा बोली तथा समझी जाती थी। वह एक प्रकार की आंतर-भाषा थी इसलिए शासन उसे राजभाषा का पद देने में विवश हो गया था। प्रसिद्ध इतिहास-कार फरिश्ता ने लिखा है कि बहमनी राज्य के दफ्तरों में हिंदी जबान प्रचलित थी और सल्तनत ने उसे सरकारी जबान का पद दे रखा था। बहमनी राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर भी हिंदी का यह पद उत्तराधिकारी रियासतों ने कायम रखा।'[19] श्री रामधारी सिंह दिनकर ने भी इस कथन का समर्थन किया है।[20] डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में भी 'उत्तर से आये हुए इस राज्य के मुसलमानों की भाषा हिंदी थी।'[21] इस प्रकार मुस्लिम शासन के अंतर्गत उत्तर भारत में सब कुछ पाने के बावजूद हिंदी को जिस राजभाषा का पद प्राप्त न हो सका, वही पद उसे चौदहवीं शताब्दी के मध्य दक्षिण भारत में प्राप्त था।

पंद्रहवीं शती उत्तरार्द्ध में बहमनी राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। फलस्वरूप बीजापुर में आदिलशाही, बरार में इमामशाही, अहमदनगर में निजामशाही, गोल-कुण्डा में कुतुबशाही तथा बीदर में बरीदशाही सल्तनतें स्थापित हुई। इन राज्यों ने भी हिंदी को अपनाया हिंदी के कवियों तथा लेखकों को प्रश्रय दिया। बीजापुर के शासकों ने दक्खिनी को ही राजभाषा का गौरवपूर्ण स्थान दिया।

हैदरअली और टीपू सुलतान के दक्षिण (केरल) में किए गए युद्ध अभियान

के जरिए भी हिंदवी का विशेष प्रचार तथा प्रसार हुआ। टीपू के आक्रमण के बाद कोचीन के राजा और टीपू में हुई संधि के अनुसार वहां के राजपरिवार के लोगों को उर्दू सिखाने के लिए एक 'उर्दू मुंशी' की नियुक्ति होनी प्रारंभ हुई। 'सन् 1930 तक यह नियम जारी रहा और कोच्चि राज-परिवार के लोग उर्दू मुंशी से फारसी लिपि में हिंदुस्तानी सीखते रहे।'[22]

ऊपर जिन सल्तनतों का उल्लेख किया गया है, उन सभी ने दक्खिनी-साहित्य की अभिवृद्धि में पूर्ण योग दिया। दक्खिनी के प्रारंभिक कवियों में बंदा-नेवाज (1318-1422 ई०) तथा बहमनी राज्य के सुप्रसिद्ध कवि निजामी का नाम उल्लेखनीय है। बीजापुर के आदिलशाही तथा गोलकुण्डा कुतुबशाही राज्य में दक्खिनी का साहित्य पर्याप्त समृद्ध हुआ। तत्कालीन कवियों में वजही, इब्न निशाती, गवासी, गुलामअली, शाह मीराजी, बुरहानुद्दीन जानिम आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। दक्खिनी हिंदी का यह नमूना देखिए

'मुझे पीत का या कोई फल न मिला,
मेरे जी को यह आग लगा-सी गयी।
मुझे ऐसा यहां कोई पल न मिला,
मेरे जी को यह आग जला-सी गयी।' —अजमत[23]

दक्खिनी के गद्य लेखों में शाह मिराजी, सैयद मुहम्मद गेसूदराज, शाह बुरहान खान, तथा वजही अति प्रसिद्ध हैं। दक्खिनी भाषा और साहित्य के संबंध में डा० बाबूराम सक्सेना का निम्नलिखित कथन बड़ा ही स्वाभाविक और तथ्यपूर्ण है :

'अचरज की बात यह है कि जहां उत्तर भारत में खड़ी बोली की इस परंपरा की रचना कई सदियों तक गुप्त रही, दक्खिन में इन्हीं सदियों में यह खूब फूली-फली।'' हिंदी ने जो कदम दक्खिन में जमाये, उन्हें फारसी हिला न सकी। बहुधा सुलतानों ने फारसी के साहित्यकारों को भी मान और पुरस्कार दिया पर हिंदी को मिटाकर नहीं।'[24]

केरल के राजाओं में स्वाति नक्षत्र राज वर्मा (उन्नीसवीं शती) का नाम सादर लिया जाता है। आप विद्वानों एवं साहित्यकारों का विशेष आदर करते थे तथा साथ ही संस्कृत, मलयालम, हिंदी व तमिल के उच्चकोटि के विद्वान और कवि थे। आपके हिंदी पद भक्त कवि सूरदास तथा मीरा के पदों के समान बड़े ही मधुर हैं। आपका यह गीत द्रष्टव्य है :

समय दक्षिण भारत देवगिरि, वारंगल, मदुरा और द्वार समुद्र इन चार राजनीतिक इकाइयों में बटा हुआ था। सन् 1311 तक आते-आते खिलजी वंश के सेनापति मलिक काफूर ने इन चारों क्षेत्रों पर अधिकार जमा लिया। दिल्ली के इस साम्राज्य विस्तार के कारण फारसी तथा हिंदी भाषियों का एक वृहद् समुदाय उत्तर से दक्षिण में आया। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से हिंदी को दक्षिण भारत में विकसित होने का सर्वप्रथम मौका मिला।'[18] मुहम्मद तुगलक के शासन काल (1327) में तो दक्षिण भारत को और अधिक महत्व मिला। सम्राट की राजधानी परिवर्तन की नीति से तमाम उत्तर भारत के निवासी दक्षिण भारत में आ बसे, जिससे हिंदी को दक्षिण भारत में प्रसरित होने का विशेष अवकाश प्राप्त हुआ।

सन् 1347 ई० में दक्षिण के मुसलमान सरदारों ने दिल्ली साम्राज्य के प्रति विद्रोह कर दिया। फलस्वरूप स्वतंत्र बहमनी राज्य की स्थापना हुई। यह राज्य मराठी, कन्नड एवं तेलुगु आदि भाषाओं के भाषा क्षेत्र में पड़ता था। उत्तर भारत से आये हुए सैनिक व सरदार दक्षिण की इन विविध भाषाओं से अधिक परिचित न थे। वे हिंदवी (भाखा) से विशेष परिचित थे तथा उनके लिए इसी में काम-काज करना आसान था। इसलिए बहमनी वंश के शासकों ने दक्खिनी (हिंदी) को राज भाषा बनाया।

वस्तुत 'दक्खिनी' उत्तर भारत की बोली थी, जिसका विकास दक्षिण में हुआ था तथा जिस पर दक्षिण की भाषाओं का भी प्रभाव था। बहमनी वंश के राज्य में दक्खिनी भाषा बोली तथा समझी जाती थी। वह एक प्रकार की आंतर-भाषा थी इसलिए शासन उसे राजभाषा का पद देने में विवश हो गया था। प्रसिद्ध इतिहास कार फरिश्ता ने लिखा है कि बहमनी राज्य के दफ्तरों में हिंदी जबान प्रचलित थी और सल्तनत ने उसे सरकारी जबान का पद दे रखा था। बहमनी राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर भी हिंदी का यह पद उत्तराधिकारी रियासतों ने कायम रखा।'[19] श्री रामधारी सिंह दिनकर ने भी इस कथन का समर्थन किया है।[20] डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में भी 'उत्तर से आये हुए इस राज्य के मुसलमानों की भाषा हिंदी थी।'[21] इस प्रकार मुस्लिम शासन के अंतर्गत उत्तर भारत में सब कुछ पाने के बावजूद हिंदी को जिस राजभाषा का पद प्राप्त न हो सका, वही पद उसे चौदहवीं शताब्दी के मध्य दक्षिण भारत में प्राप्त था।

पन्द्रहवीं शती उत्तरार्द्ध में बहमनी राज्य छिन्न भिन्न हो गया। फलस्वरूप बीजापुर में आदिलशाही, बरार में इमामशाही, अहमदनगर में निजामशाही, गोलकुण्डा में कुतुबशाही तथा बीदर में बरीदशाही सल्तनतें स्थापित हुईं। इन राज्यों ने भी हिंदी को अपनाया हिंदी के कवियों तथा लेखकों को प्रश्रय दिया। बीजापुर के शासकों ने दक्खिनी को ही राजभाषा का गौरवपूर्ण स्थान दिया।

हैदरअली और टीपू सुलतान के दक्षिण (केरल) में किए गए युद्ध अभियान

के जरिए भी हिंदवी का विशेष प्रचार तथा प्रसार हुआ। टीपू के आक्रमण के बाद कोचीन के राजा और टीपू में हुई संधि के अनुसार वहां के राजपरिवार के लोगों को उर्दू सिखाने के लिए एक 'उर्दू मुंशी' की नियुक्ति होनी प्रारंभ हुई। 'सन् 1930 तक यह नियम जारी रहा और कोच्चि राज-परिवार के लोग उर्दू मुंशी से फारसी लिपि में हिंदुस्तानी सीखते रहे।'[22]

ऊपर जिन सल्तनतों का उल्लेख किया गया है, उन सभी ने दक्खिनी-साहित्य की अभिवृद्धि में पूर्ण योग दिया। दक्खिनी के प्रारंभिक कवियों में बंदा-नेवाज (1318-1422 ई०) तथा बहमनी राज्य के सुप्रसिद्ध कवि निज़ामी का नाम उल्लेखनीय है। बीजापुर के आदिलशाही तथा गोलकुण्डा कुतुबशाही राज्य में दक्खिनी का साहित्य पर्याप्त समृद्ध हुआ। तत्कालीन कवियों में वजही, इब्न निशाती, गवासी, गुलामअली, शाह मीराजी, बुरहानुद्दीन जानिम आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। दक्खिनी हिंदी का यह नमूना देखिए :

'मुझे पीत का था कोई फल न मिला,
मेरे जी को यह आग लगा-सी गयी।
मुझे ऐश यहां कोई पल न मिला,
मेरे जी को यह आग जला-सी गयी।' —अजमत[23]

दक्खिनी के गद्य लेखों में शाह मिराजी, सैयद मुहम्द गेसूदराज, शाह बुरहान खान, तथा वजही अति प्रसिद्ध हैं। दक्खिनी भाषा और साहित्य के संबंध में डा० बाबूराम सक्सेना का निम्नलिखित कथन बड़ा ही स्वाभाविक और तथ्यपूर्ण है :

'अचरज की बात यह है कि जहां उत्तर भारत में खड़ी बोली की इस परंपरा की रचना कई सदियों तक लुप्त रही, दक्खिन में इन्हीं सदियों में यह खूब फूली-फली।·· हिंदी ने जो कदम दक्खिन में जमाये, उन्हें फारसी हिला न सकी। बहुधा सुलतानों ने फारसी के साहित्यकारों को भी मान और पुरस्कार दिया पर हिंदी को मिटाकर नहीं।'[24]

केरल के राजाओं में स्वाति नक्षत्र राज वर्मा (उन्नीसवीं शती) का नाम सादर लिया जाता है। आप विद्वानों एवं साहित्यकारों का विशेष आदर करते थे तथा साथ ही संस्कृत, मलयालम, हिंदी व तमिल के उच्चकोटि के विद्वान और कवि थे। आपके हिंदी पद भक्त कवि सूरदास तथा मीरा के पदों के समान बड़े ही मधुर हैं। आपका यह गीत द्रष्टव्य है :

रामचन्द्र प्रभु तुम बिन प्यारे, कौन खबर ले मेरी।
याज रही जिनके नगरी मे, सदा धरम की मेरी।
जाके चरण कमल की रज से, तिरिया तलक फेरी॥
औरन कू कुछ और भरोसा, हमे भरोसा तेरी।
पद्मनाभ प्रभु फणि पर शायी, कृपा करो क्यों देरी॥[25]

साराश यह कि चौदहवी शती से प्रारभ होकर सपूर्ण मुस्लिम शासन तक दक्षिण भारत मे दक्खिनी हिंदी का प्रभुत्व रहा। वह वहा लोक भाषा के रूप मे व्यवहृत तो होती ही थी साहित्य और शासन की भी भाषा थी।

पजाब मे हिंदी

भारत के इतिहास मे पजाब का स्थान महत्वपूर्ण व अनोखा है। ऐतिहासिक, भौगोलिक एव सास्कृतिक दृष्टि से महती परपरा वाले इस प्रदेश मे हिंदी की परपरा अति प्राचीन एव अक्षुण है। भारत के सत साहित्य मे नाथ सप्रदाय (11वी से 14वीं शती मध्य) तथा उसके साहित्य का विशिष्ट स्थान है। नाथो के मूर्धन्य गुरु गोरखनाथ की बहुत-सी रचनाए हिंदी मे पायी जाती हैं। उनका हिंदी पद द्रष्टव्य है

'हसिबा, पेलिबा रहिबा रग, काम क्रोध न करिबा सग।
हसिक बोलबा गाइबा गीत, दिढ करि राषि अपना चीत॥
हसिबा, पेलिबा धारिबा ध्यान, अहनिसि कथिबा ब्रह्म गियान।
हसै, पैले न करै मन भग, ते निहचल सदा नाथ के सग॥'[26]

—गोरख नाथ

गोरखनाथ के समकालीन तथा परवर्ती पजाब के कुछ अन्य नाथ सतों ने भी हिन्दी मे पदो की रचना की है। इनमे चौरगीनाथ, चरपटनाथ तथा जलधरनाथ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। चरपटनाथ (13वीं शती) की भाषा तो खडी बोली के अत्यधिक निकट है। भाषा का यह नमूना लीजिए

'किसका वेटा किसकी बहू। आप सवारथ मिलिया सहू।
जेते पूला तेती आल। चरपट कहे सब आल जजाल॥'[27]

ग्यारहवी शती के अपभ्रश एव भाषा कवि अब्दुल रहमान भी पजाब के ही निवासी थे। इस कवि की उपलब्ध कृति 'सदेह रासय' (सदेश रासक) मे हिन्दी के प्राचीन स्वरूप की झाकी देखी जा सकती है। आदिकालीन हिन्दी-साहित्य का

महाकवि चन्द भी पंजाब की ही देन था।[28]

ईसा की 13वीं सदी मे पजाब के एक अन्य हिन्दी कवि फरीदुद्दीन शकरगज का भी उल्लेख मिलता है। इनके हिन्दी पद 'गुरुग्रथ साहिब' मे सग्रहीत हैं। इन्हें बाबा फरीद के नाम स भी जाता है। डा० चटर्जी ने इन्ही बाबा फरीद के पदों को 'रेख्ता' का आद्य पद स्वीकार किया है।[29]

स्पष्ट है कि पजाब मे हिन्दी कवियो की एक लम्बी परम्परा रही है जिसकी शुरुआत ग्यारहवी सदी से ही हो गयी थी।

सिक्ख सम्प्रदाय के प्रवर्तक गुरु नानक (1469-1538 ई०) की गणना भारत के अन्यतम महापुरुषो वल्लभाचार्य एव रामानद के समकक्ष की जाती है। उत्तर भारत मे जिस सत काव्य की रचना हुई उसे समन्वित रूप प्रदान करने का बहुत कुछ श्रेय इन्ही गुरु नानक को है। नानकदेव ने पजाबी, व्रज एव खडी बोली मे समान रूप से पद गाये हैं। इनकी खडी बोली का निम्नाकित पद द्रष्टव्य है

'इस दमदा मैंनू की वे भरोसा,
आया आया न आया न आया।
या ससार रैन दा सुपना,
कही दीखा कहिं नाहिं दिखाया।।
सोच विचार करे मत मन में,
जिसने ढूढा उसने पाया।
नानक भगतन के पद परसे,
निसदिन रामचर चित लाया।'[30]

'गुरुवाणी' के सकलनकर्ता तथा देवनागरी एव शारदा लिपियो का समन्वय कर 'गुरुमुखी' लिपि के आविष्कर्ता अगदेव जी (1538 से 1552 ई०) गुरु नानक के प्रिय शिष्य एव सिखो के दूसरे गुरु थे। इनके पदो मे भगवत-प्रेम की प्रधानता एव व्रजभाषा का पुट मिलता है।

सिखों के तीसरे गुरु अमरदास जी (1552-1574 ई०) हुए। इन्होने सरल तथा बोधगम्य भाषा म उपदेश दिया। सत्य, प्रेम, परोपकार, ईश्वरोपासना सम्बन्धी इनके पदो मे व्रजभाषा का माधुर्य छिटक पडा है। चौथे गुरु रामदास जी (1574-1581 ई०) की कई वाणिया हिन्दी मे पायी जाती हैं। आपकी भाषा मे सरल शब्दो के साथ सगीत का-सा माधुर्य है। सिखो के पचम गुरु अर्जुनदेव जी (1581-1606 ई०) का सिखधर्म के अन्तर्गत धार्मिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक दृष्टि से बडा महत्त्व है। गुरु अगदेव जी ने जिस 'गुरुवाणी' का सकलन किया था उसे धर्मग्रथ के रूप मे प्रतिष्ठित करने का श्रेय गुरु अर्जुनदेव जी को ही है।

इन्होंने लगभग 2500 पदों की रचना की है। 'बावन अखरी', 'बारह मासा' आदि आपकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं। आपकी काव्य भाषा शुद्ध ब्रज है। आपने ऐसे अनेक कवियों को भी आश्रय दिया था, जो गुरु की प्रशंसा में अनेक हिन्दी पद लिखा करते थे।

छठे, सातवें एवं आठवें गुरु हरिगोविन्द जी (1606 से 1645 ई०), हरिराय जी (1645 से 1651 ई०) तथा हरिकृष्ण जी (1651 से 1664 ई०) की हिन्दी के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय देन नहीं है। नवें गुरु तेगबहादुर जी (1674 से 1675 ई०) भक्ति, क्षमा, शक्ति, विद्या एवं धैर्य की साकार मूर्ति थे। आपकी रचनाओं में ब्रज एवं खड़ी बोली की पर्याप्त झलक मिलती है।

सिखों के अन्तिम तथा दसवें गुरु गोविन्द सिंह जी (1676 से 1708 ई०) एक महान् योद्धा, कुशल राजनीतिज्ञ एवं श्रेष्ठ कवि तथा साहित्यकार थे। इनकी रचनाएं 'दशम ग्रंथ' में संगृहीत हैं। 'अकाल स्तुति', 'विचित्र नाटक', 'चौबीस अवतार', 'जापसाहब', 'चंडीचरित्र' तथा 'शस्त्रनाममाला' आदि आपकी विशिष्ट रचनाएं हैं।

सिख गुरुओं के अतिरिक्त पंजाब में अनेक हिन्दी कवि हुए, जिनमें भाई गुरुदास, हृदयरामभल्ला तथा संत नानालाल का नाम उल्लेखनीय है। गुरु गोविन्द सिंह के दरबारी कवियों में सेनापति मुख्य हैं, जिन्होंने हिन्दी में 'गुरु शोभा' तथा 'चाणक्य नीति' का भाषानुवाद किया। इसके अतिरिक्त टहकन, अमृतराय एवं अणीय राय की रचनाएं भी हिन्दी की महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं।

पंजाब के वेदान्तवादी सन्तों में संत गुलाब सिंह (18वीं शती) का प्रमुख स्थान है। संत जी की उपलब्ध रचनाएं 'भावरसामृत', 'अध्यात्मरामायण', 'प्रबोध-चन्द्रोदय', 'मोक्षपंथप्रकाश' आदि हैं। 18वीं शती के अन्त में होने वाले पंजाबी कवि भाई संतोष सिंह का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपका अति प्रसिद्ध काव्य 'गुरु प्रताप सूर्य' है। विद्वानों के अनुसार इस काव्य की ख्याति 'रामचरितमानस' की सी है। इस कृति की मूल भाषा ब्रज है, जिस पर पंजाबीपन की छाप लगी हुई है।

निष्कर्ष यह कि पंजाब में हिन्दी के कवियों की एक लम्बी परम्परा रही है, जिनकी सेवाएं 11वीं शताब्दी से ही हिन्दी को उपलब्ध थीं। प्रायः सभी सिख गुरु हिन्दी के हिमायती थे। उन्होंने काव्य सृजन द्वारा हिन्दी को व्यापकता प्रदान की। सिख गुरुओं के द्वारा विदेशी शासन के अधर्म, अत्याचार तथा अनीति के विरुद्ध जिस सैनिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, उन सबकी अभिव्यक्ति हिन्दी के माध्यम से ही हुई। सिख गुरुओं तथा सिख धर्म से सम्बन्धित अन्य कवियों ने अनेक काव्य ग्रन्थ हिन्दी में लिखे, जो स्वतंत्रता की चेतना एवं उत्साह की अभिव्यंजना से पूर्ण थे। सिख गुरुओं के बाद भी हिन्दी काव्य की यह

परम्परा गतिशील रही, सिख सम्प्रदाय के अनुयायी भी हिन्दी को काव्य-माध्यम के रूप म अपनाते रहे। साराश यह कि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के समय पजाब के द्वारा की गई हिन्दी सेवाओ का स्मरण नितात आवश्यक है, अन्यथा हिन्दी जगत् की कृतज्ञता बाधित होगी।

गुजरात और हिन्दी

हिन्दी भाषी प्रदेश का निकटवर्ती प्रदेश होने एव सास्कृतिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से घनिष्ठ सम्बन्ध रहने के कारण गुजरात मे हिन्दी का प्रचार-प्रसार अन्य अहिन्दी भाषी प्रदेशो की तुलना मे अधिक रहा है। गुजरात मे वैष्णव धर्म के प्रचार का श्रेय स्वामी वल्लभाचार्य एव उनके पुत्र स्वामी विट्ठलनाथ जी को दिया जा सकता है। वल्लभाचार्य जी के गुजरात मे आने के बाद गुजरात के वैष्णव कवि श्रीकृष्ण की जन्मभूमि एव उसकी भाषा ब्रज के प्रति विशेष आकर्षित हुए। इन कवियो ने ब्रज भाषा मे धार्मिक रचनाए लिखकर हिन्दी साहित्य की समृद्धि म विशेष योगदान दिया। इस सम्बन्ध मे डा० अम्बाशकर नागर का निम्नलिखित कथन तथ्यपूर्ण है

> 'गुजरात के मध्यकालीन वैष्णव कवियो म लगभग सभी ने कुछ काव्य ब्रजभाषा म लिखे हैं। ब्रजभाषा म काव्य रचना करना उन दिनो गौरव की बात मानी जाती थी। इसलिए गुजरात के अनेक कवियो ने गुजराती म न लिखकर ब्रजभाषा में काव्य रचना की है।'[31]

इन वैष्णव कवियों मे भालण, केशवराम, बैजूबावरा, नरसिंह मेहता, कृष्णदास अधिकारी, हरिदास, दयाराम आदि का नाम बडे आदर के साथ लिया जा सकता है। यहा पर दयाराम की भाषा का यह नमूना द्रष्टव्य है :

> 'यबवौं हरि-हरि रटत हौं, करत न क्यो सताप।
> हरन करन बिसरयो किधौं, डरपं लखि मो पाप॥'[32]

हिन्दी साहित्य मे सन्त साहित्य का एक विशिष्ट स्थान है। सन्तो ने देश के विभिन्न भागो मे भ्रमण कर भारतीय संस्कृति मे समन्वय की जो भावना उत्पन्न की, उसका भारत के आध्यात्मिक जीवन मे बडा महत्त्व है। गुजराती साहित्य मे भी भारतीय सत परम्परा के चिह्न चौदहवी शताब्दी के अन्त मे दिखाई पडने लगते हैं। गुजराती सन्तों मे अनेक पन्थो का प्रचलन रहा है। इनमे कबीर-पंथी सन्तों ने खड़ी बोली हिन्दी की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा। इनमें दादू,

आखा, प्राणनाथ, प्रीतमदास, मनोहर स्वामी आदि उल्लेखनीय हैं। इनकी भाषा में कबीर की सी प्राणमयता है, जिस पर गुजराती का स्वाभाविक प्रभाव परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए सन्त आखा की यह वाणी उद्धृत की जा सकती है

'अकल कला खेलत नर ज्ञानी।
जैसे हि नाव हिरफिरे दसों दिश,
ध्रुवतारे पर रहत निशानी॥ ध्रु०॥
चलन वलन अवनी पर वाकी,
मन की सुरत अकाश ठहरानी।
तत्व समास भयो है स्वतंतर,
जैसे हिम होत है पानी। अकल०॥1॥'[18]

गुजरात में सूफी-काव्य की परम्परा भी चौदहवीं शती के अन्त से प्रारम्भ होती है। गुजरात के अनेक सूफी कवियों ने भी हिन्दी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम चुना है। जिस प्रकार उत्तर भारत की बोली दक्षिण में पहुँच कर 'दक्खिनी' नाम से प्रसिद्ध हुई, उसी प्रकार इन सूफी कवियों द्वारा प्रयुक्त होकर वह 'गुजरी' कहलायी। 'गुजरी' के इन सूफी कवियों में शेख अहमद खट्टू, शेख बुरहानुद्दीन कुत्बे, आलमबुखारी, काजी महमूद दरियाई, शाहअली जी गामधनी, हजरत खूब मुहम्मद चिश्ती तथा बाबा शाह हुसैनी आदि प्रमुख हैं। इन सूफी कवियों ने अपनी काव्य साधना द्वारा हिन्दी को काफी समृद्ध किया है।

गुजरात अति प्राचीन काल से ही जैन धर्म का मुख्य केन्द्र रहा है। इन जैन धर्मावलम्बियों ने भाषा तथा साहित्य की अपूर्व सेवा की है। दसवीं से सत्रहवीं सदी के बीच जैन कवियों द्वारा की गई रचनाएं प्राय अपभ्रंश एवं गुजराती की कृतियां हैं किन्तु 17वीं सदी के बाद गुजरात के जैन कवियों ने खड़ी बोली व ब्रज में भी कविताएं की हैं। हिन्दी के इन जैन कवियों में आनंदघन, ज्ञानानंद, किशनदास तथा यशोविजय अति प्रसिद्ध हैं। कवि किसनदास की भाषा का यह नमूना देखिये :

'अंजलि के जल ज्यों घटत पल-पल आयु,
विष से विषम व्यवसाय विष रस के।
पथ को मुकाम कछु बाप को न गाम यह,
जैवो निज धाम ताते कीजे काम यश के।।'[19]

जिस प्रकार वैष्णव, संत, सूफी एवं जैन कवियों ने गुजरात में हिन्दी को

व्यापक बनाने में सफल योगदान दिया, उसी प्रकार गुजरात, सौराष्ट्र एवं कच्छ के राजाओं ने भी हिन्दी के फलने-फूलने में यथेष्ट सहायता की। इस सम्बन्ध में डा० अम्बाशंकर नागर का कथन है कि—'गुजरात के राजाओं के हृदय में हिन्दी के प्रति विशेष सम्मान था। उनके दरबारों में हिन्दी कवियों का विशेष आदर होता था। गुजरात के राजा-महाराजाओं के हिन्दी-प्रेम का इससे बढ़कर ज्वलंत उदाहरण और क्या होगा कि हिन्दी-कवियों को आश्रय देने और हिन्दी सीखने की सुविधाएं प्रदान करने के साथ वे स्वयं भी हिन्दी में कविता करते थे।[85] गुजरात के राजाओं में राजकुमार मेहरामण सिंह, महाराव लखपति जी जैसे कवियों का नाम विशेष उल्लेखनीय है। राजाश्रित कवियों में आणद, करमाणद, देवीदास तथा जसुरामगोपाल मुख्य हैं।

महाराष्ट्र और हिन्दी

भारत के आध्यात्मिक जीवन में साधु संतों का बहुत अधिक महत्त्व रहा है। इस भारतीय साधु-परम्परा में महाराष्ट्र के संतों का भी उच्च स्थान है। मराठी संत सदा से ही हिन्दी के प्रति सहज आकर्षित रहे हैं। उत्तर-भारत का नाथ-सम्प्रदाय जब महाराष्ट्र में आया तो उसने वहां की बोली मराठी को भी अपनाया, किन्तु इन नाथ संतों के उपदेश मुख्यतः हिन्दी में ही हुआ करते थे। इसलिए 'महाराष्ट्र में नाथ पंथियों को अपने गुरुओं के हिन्दी भाषा में रचित ग्रंथ पढ़ने की सहज उत्कंठा रही होगी। इस बहाने उन्होंने हिन्दी से परिचय प्राप्त किया होगा।[86] डा० विनय मोहन शर्मा के इस कथन से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि महाराष्ट्र में नाथ संतों के अत्यधिक प्रभाव के कारण हिन्दी को व्यापक होने का यथेष्ठ अवसर मिला होगा।

तेरहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच महाराष्ट्र का अत्यधिक प्रभावित करने वाले सम्प्रदायों में महानुभाव तथा बारकरी सम्प्रदाय मुख्य हैं और इनमें भी बारकरी सम्प्रदाय का स्थान तो सर्वोपरि रहा है। इस प्रदेश में हिंदी की परंपरा का आरंभ महानुभाव सम्प्रदाय से होता है। इस सप्रदाय के संस्थापक चक्रधर स्वामी की शिष्य परंपरा बड़ी लंबी रही। इस सम्प्रदाय के संतों ने लोकभाषा के माध्यम से ही अपने उपदेश दिये। चक्रधर स्वामी हिंदी में भी पद बनाया करते थे। इनकी शिष्या महदंबा तो शुद्ध हिंदी में पद गाया करती थी। इस सप्रदाय के पंडित दामोदर सर्वोतम तथा कवि के रूप में अति प्रसिद्ध रहे हैं। इनके द्वारा विरचित हिंदी की विविध चौपदियां अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इनकी यह चौपदी द्रष्टव्य है

'नव नाथ कहे सो नाथ पंथी, जुगुत कहे सो जोगी।
विदव बुझें सो कहि बैरागी, ग्यान बुझे तो योगी।'[87]

'वारकरी' सम्प्रदाय के संतो की परंपरा बड़ी लम्बी है। इन संतो में ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, सोपानदेव, मुक्ताबाई आदि प्रमुख हैं। भक्त ज्ञानेश्वर की लिखी 'श्रीमद्भागवत' की 'ज्ञानेश्वरी टीका' उत्कृष्ट कोटि की रचना है। ज्ञानेश्वर तथा उनकी बहन मुक्ताबाई ने मराठी के साथ हिंदी में भी पद बनाये हैं। संत ज्ञानेश्वर का निम्नलिखित पद अति प्रसिद्ध है

'सब घट देखा माणिक मोला।
कैसे कहू मैं काला धवला॥
पंच रंग से न्यारा होय।
लेना एक और देना दोय॥ ध्रुवपद॥
निर्गुण ब्रह्म भुवन से न्यारा।
पोथी पुस्तक भये अपारा॥
कोरा कागद पढकर जोय।
लेना एक और देना दोय॥'[33]

'वारकरी' सम्प्रदाय के संतो में नामदेव का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नही है। मराठी के साथ साथ इनके हिंदी में भी अनेक पद मिलते हैं, जिन्हे 'ग्रंथसाहब' में देखा जा सकता है। संत एकनाथ (सन् 1533-1599 ई०) ने भी अन्य मराठी संतो के समान हिंदी में पद रचना की है। इस सम्प्रदाय के संत तुकाराम का भी अपना विशिष्ट स्थान है। इनके हिंदी पदो को तीन भागो—गोपी प्रेम, पाखंड-उद्घाटन तथा नीति व भक्ति—में विभक्त किया जा सकता है।

स्पष्ट है कि महाराष्ट्र के संतो ने तत्कालीन लोकभाषा का सदैव ध्यान रखा है। एक ओर उन्होंने मराठी भाषा को अपनाया है तो दूसरी ओर हिंदी की भी महत्ता स्वीकार की है। हिंदी को मराठी संतो की देन का मूल्यांकन करते हुए डा० विनय मोहन शर्मा ने भी लिखा है 'वहा के संत जब हाथ में करताल लेकर कीर्तन भजन करने लगते थे, तब बीच बीच में एक-दो पद हिंदी के गाकर श्रोताओं में अभिनव हिलोर पैदा कर देते थे।'[34] मराठी संतो के बाद 18वीं शती एवं उसके पश्चात् भी मराठी के लावनी लेखको ने हिंदी में रचनाएं प्रस्तुत कर अपने व्यापक दृष्टि का परिचय दिया है।

मराठा शासन और हिंदी

भारत के इतिहास में मराठो के शासन का बड़ा महत्व है। मराठा-शक्ति का अभ्युदय औरंगजेब के शासन काल की एक महत्वपूर्ण घटना है। महाराष्ट्र के ऐसे अनेक संतों का ऊपर जिक्र किया जा चुका है, जिन्होंने मराठा सरदारों में नव-

जीवन का संचार किया था। उसी कड़ी में 17वीं शती के समर्थ रामदास ने मराठी जाति में राष्ट्रीय चेतना की लहर फूंक दी। जिस राजनीतिक चेतना की कमी मराठा जाति में थी, उसे छत्रपति महाराज शिवाजी (जन्म 1627 ई०) ने पूरा कर बिखरे हुए महाराष्ट्र को संगठित किया। सन् 1761 ई० तक भारत में मराठों का साम्राज्य काफी दूर-दूर तक फैल गया। सन् 1740 के बाद तो मराठा साम्राज्य अपनी शक्ति की चरमावस्था पर था।

मराठों के शासनकाल में मराठी की विशेष उन्नति हुई। फारसी के स्थान पर मराठा साम्राज्य की वह राजभाषा बनी। मराठी के साथ मराठा शासकों ने हिंदी को भी पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। शिवाजी के पिता शाह जी के दरबार में सैकड़ों कवि रहा करते थे। उनमें हिंदी के अच्छे ज्ञाता एवं कवि थे। शिवाजी स्वयं हिंदी-कवियों के आश्रयदाता थे। इस संबंध में महाकवि भूषण का नाम नहीं भुलाया जा सकता। भूषण के अतिरिक्त गणेश और गौतम नामक दो अन्य हिंदी कवि भी शिवाजी के दरबार की शोभा बढ़ाया करते थे। ऐसा कहा जाता है कि स्वयं शिवाजी ने भी एक हिंदी-पद बनाया था।[40] इतना ही नहीं, शिवाजी की भेंट राजा जयसिंह से पूना के पास एक गांव में जून 1665 में हुई थी, इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक भेंट के संदर्भ में यह कहा जाता है कि शिवाजी ने राजा जयसिंह को एक लम्बा पत्र हिंदी में भेजा था।[41]

शिवाजी के पुत्र शंभा जी हिंदी कविता के प्रेमी तथा साथ ही सहृदय कवि भी थे। उनके बाद पेशवाओं के समय में भी 'भाखा कवि' उनके दरबारों में डटे रहते थे। महाराष्ट्र के अन्य हिंदी प्रेमी राजाओं में महादजी सैंधिया तथा दौलत राव सैंधिया के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं। 'भोसला वंश के महाराज शाहु जी (1684-1712 ई०) मराठी और तेलगू के कवि थे ही, उन्होंने 'राधा बंसीधर-विलास' नाम से कुछ यक्षगान हिंदी में भी लिखे थे।'[42]

तात्पर्य यह कि महाराष्ट्र में हिंदी की परंपरा अति प्राचीन है। वहां के साधु-संतों ने इस भाषा को अपनी रचनाओं में सजाया संवारा है। यह परंपरा मराठा-शासन काल में भी पूर्ववत् गतिशील रही। इस काल में आकर हिंदी कविता को राज्याश्रय के साथ-साथ फूलने-फलने का यथेष्ट अवसर मिला।

बंगाल और हिंदी

मध्यकालीन भारत में दक्षिण से भक्ति की जो धारा उत्तर में प्रवाहित हुई, उसका व्यापक प्रभाव समूचे देश पर पड़ा। भक्ति के इस आन्दोलन ने समस्त मध्य भारतीय आर्य भाषाओं में साहित्य-सृजन की अपूर्व चेतना भर दी। भक्ति की इसी परंपरा में वैष्णव धर्म के आन्दोलन ने हिंदी को व्यापक बनाने एवं बंगाल जैसे प्रदेश से उसका घनिष्ठ संबंध स्थापित करने में अमूल्य योग दिया। बंगाल में

महाप्रभु चैतन्यदेव द्वारा बंगाल तथा व्रज में घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ। वैष्णव धर्म के अति प्रभाव से उस काल में व्रजभूमि तथा ब्रजभाषा की बड़ी महत्ता थी। बंगाल के वैष्णवधर्मावलंबी भी प्रायः वृन्दावन आया-जाया करते थे। इसलिये उनकी पदावलियों में ब्रजभाषा का समावेश हो जाना स्वाभाविक था। डा० ब्रह्मानंद के शब्दों में 'पंजाब से लेकर सुदूर बंगाल तक ब्रजभाषा की मधुर मुरली कई शताब्दियों तक बजती रही है। इस भाषायी आरोह का कारण विशुद्ध सांस्कृतिक है। चैतन्य महाप्रभु ने अपने आराध्यदेव भगवान् कृष्ण की अवतार-भूमि ब्रजमंडल की उपमा बैकुंठ से दी थी। गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय के आचार्यों और अनुयायियों में वृन्दावन-दर्शन और वहां निवास करने की उत्कट उत्कंठा रहती थी—वहां की भाषा के प्रति तत्कालीन बंगालियों और चैतन्य महाप्रभु के अनुयायियों में प्रगाढ़ श्रद्धा रहती थी। ब्रजभाषा में बोलना और कविता अथवा संकीर्तन करना गौरव का प्रतीक माना जाता था।'[43] सत्य तो यह है कि वैष्णव कवि इस भाषा के प्रति केवल श्रद्धालु ही नहीं थे, बल्कि उन्होंने अपने धर्म-प्रचार के लिये इसे अपने साहित्य का माध्यम भी बनाया था। वे अपने कीर्तन आदि में बंगला के पदों के साथ-साथ हिंदी में पद भी गाते थे। इस संबंध में डा० सुनीति कुमार चटर्जी का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है :

'इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि एक हजार वर्ष पूर्व शुद्ध बंगला भाषा के आसपास बंगाल साहित्यिकों के बीच शौरसेनी अपभ्रंश का नाम से परिचित, प्राचीनतम 'पछाही हिंदी' का एक प्राचीनतम साहित्यिक प्रकार-भेद प्रचलित था। अतः प्रथम युग के बंगाली कवि तथा अन्य लेखकगण बंगला के साथ-साथ 'पछाही हिंदी' में एक प्रकार के प्राचीन साहित्यिक रूप की चर्चा करते थे तथा उसमें गान और कविता रचते थे। यह परवर्ती काल के कुछ-कुछ बंगाली वैष्णव कवियों द्वारा मैथिली मिश्र कविता की भाषा 'ब्रजबुलि' के प्रयोग के समान है।'[44]

डा० चटर्जी ने जिस 'ब्रजबुलि' का उल्लेख किया है, वह बंगाल की एक साहित्यिक भाषा रही है। यह भाषा संभवतः ब्रज का एक पूर्वी स्वरूप है, जो विद्यापति की भाषा से अनुप्राणित होकर बंगला के सरस वातावरण में विकसित हुई तथा जो बंगाली विद्वत्-समाज, मुख्यतः वैष्णव भक्तों में अति प्रचलित थी। 'ब्रजबुलि' के संबंध में विचार करते हुए डा० सुकुमार सेन ने लिखा है 'ब्रजबुलि की आधार मृत भाषा 'मैथिली' है जिसके आकार को बंगला भाषा ने हिंदी और ब्रजभाषा के मिश्रण से बनाया है।'[45]

डा० सेन के इस कथन से भी स्पष्ट है कि कुल मिलाकर 'ब्रजबुलि' हिंदी का

सन 1575 ई० में बंगाल, बिहार और उड़ीसा एक प्रदेश के रूप में मुगल साम्राज्य के अंग बन गये थे। मुगलों के इस साम्राज्य विस्तार के परिणामस्वरूप भी बंगाल में हिंदी का पर्याप्त प्रचार हुआ। मुर्शिदाबाद, ढाका, चटगांव, हुगली, कलकत्ता आदि बंगाल के नगरों में उत्तर भारतीय व्यापारियों द्वारा खड़ी बोली व ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता था। इसके अतिरिक्त साधु-संतों की परंपरा से भी बंगाल में हिंदी के प्रसार का अवसर मिला। कश्मीर, उड़ीसा एवं आसाम जैसे अहिंदी भाषी प्रदेशों में भी हिंदी की व्यापकता एवं उसके प्रचार प्रसार का यही रहस्य है। मुस्लिम शासनकाल में सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं व्यापारिक आदि कारणों से इन प्रदेशों में भी हिंदी को व्यापक बनने का पर्याप्त अवकाश मिला था।

निष्कर्ष यह कि मुस्लिम शासन के अंतर्गत अहिंदी भाषी प्रदेशों में हिंदी की विभिन्न भाषा शैलियों का साहित्य एवं विचार-विनिमय के लिये प्रयोग होता था। एक ओर ब्रजभाषा कृष्ण भक्ति का सहारा ले पूर्व में बंगाल, पश्चिम में गुजरात और दक्षिण में तिरुवांकूर (त्रावणकोर) तक पहुंची थी, तो दूसरी ओर अवधी ने रामभक्त कवियों तथा सूफियों का और खड़ी बोली ने संतों तथा मुसलमान शासकों एवं व्यापारियों का आश्रय ग्रहण कर देश के विभिन्न भू-भागों की यात्रा की थी। वस्तुतः अहिंदी भाषा प्रदेशों में हिंदी की व्यापकता साहित्यिक, बोलचाल एवं आंशिक तौर पर सरकारी कामकाज की भाषा के रूप में रही है।

संदर्भ

1 सामान्य रूप से मुगलों का शासन काल 1857 ई० तक माना जाता है, किन्तु 1803 ई० में दिल्ली का शासन अंग्रेजों के हाथ में आ गया था। इसलिए 1803 ई० के बाद मुगलवंश के जिन दो सम्राटों—अकबरशाह द्वितीय और बहादुरशाह—का नाम लिया जाता है, वे नाममात्र के शासक रहे। प्रायः सभी इतिहासकार भी शाह आलम द्वितीय (1759 से 1806 ई०) के शासनकाल के पश्चात मुगल साम्राज्य का अंत मानते हैं।

2 'राष्ट्रभाषा का सवाल' पं० जवाहरलाल नेहरू, पृ० 11।
3 'भारत की राष्ट्रीय संस्कृति' डा० आबिद हुसैन, पृ० 55।
4 'भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास' सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ० 710।
5 'भारत में मुगल साम्राज्य' एम० आर० शर्मा, पृ०323-24।
6 'मुगलकालीन भारत' ए० एल० श्रीवास्तव, पृ० 418।
7. 'हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी' - श्री पद्म सिंह शर्मा, पृ० 145।

8 'हिंदी पर फारसी का प्रभाव'. प० अंबिका प्रसाद वाजपेयी, पृ० 47 से साभार उद्धृत।
9 'भारतीय इतिहास का उन्मीलन' जयचंद्र विद्यालंकार, पृ० 473।
10 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका (सन् 1898), पृ० 18 से साभार अवतरित।
11 इस तथ्य का समर्थन डा० चटर्जी ने भी इन शब्दों में किया है.
'फारसी पहले मुसलमान बादशाहो की राजभाषा एवं मुसलमानी धार्मिक कानूनों के अनुसार न्याय देने वाले न्यायालयों की मान्य भाषा के रूप प्रतिष्ठित थी, परंतु 16वीं शती के द्वितीयार्द्ध में अकबर के अर्थमंत्री एवं हिंदू राजा टोडरमल के परामर्शानुसार राजस्व विभाग की भाषा भी हिंदी की जगह फारसी कर दी गई।'
'भारतीय आर्यभाषा और हिंदी', पृ० 147।
12 'भाषा और समाज' डा० रामविलास शर्मा, पृ० 297।
13 'What is Hindi' Dr A Hamid, P, 22
'Court language of the Mughuls, never became the conversational language of the people 'Hindi' assumed the role of Linguafranca in this part of the country including Kashmir, Punjab, Uttar Pradesh, Bihar and parts of Madhya Bharat and Madhya Pradesh 'Hindi' also spread with the Moghul expansion to Hyderabad—Deccan'
14 'भाषा और समाज', पृ० 297।
15 द्रष्टव्य 'हिंदी को मराठी संतो की देन', पृ० 35 से 54 तक।
16 आचार्य शुक्ल ने संतो की इस भाषा को 'सधुक्कड़ी' की संज्ञा दी है।
17 'भाषा और समाज', पृ० 281।
18 टिप्पणी सिर्फ हिंदी को ही विकसित होने का मौका मिला, फारसी को नही, वह इसलिए कि विदेशी एवं विजातीय संस्कृति में पली होने के कारण फारसी विकास की संभावनाओ से रहित थी, जबकि सुदूर प्रदेश में आने पर भी हिंदी भारतीय संस्कृति में जन्मी, पली एवं विकसित हुई थी, भारतीय वातावरण से उसका जन्मजात संबंध था और यहा की मिट्टी से नैसर्गिक प्यार भी।
19 'दक्खिनी हिंदी' डा० बाबूराम सक्सेना, पृ० 34।
20 द्रष्टव्य 'राष्ट्रभाषा आंदोलन और गांधी जी' पृ० 2।
21 'भाषा और समाज', पृ० 300।
22 'दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार आंदोलन का समीक्षात्मक इतिहास' श्री पी० के० केशवन नायर, पृ० 302।

24 'दक्खिनी हिंदी', पृ० 109 से साभार उद्धृत ।
24 'दक्खिनी हिंदी', पृ० 33-34 ।
25 'रजत जयन्ती—'ग्रथ' (बबई हिंदी विद्यापीठ), पृ० 293 स साभार उद्धृत ।
26. 'नाथ सप्रदाय' डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 223 से साभार अवतरित ।
27 'खडी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास' ब्रजरत्न दास, पृ० 58 स साभार उद्धृत ।
28 डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है—'चन्द स्वय तो लाहौर का निवासी था किन्तु जीवन का सबसे महत्वपूर्ण भाग उसने दिल्ली और अजमेर के सम्राट पृथ्वीराज के साहचर्य मे व्यतीत किया था।'—'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ० 73 ।
29 द्रष्टव्य 'भारतीय आर्यभाषा और हिंदी', पृ० 213 ।
30 'हिंदी पर फारसी का प्रभाव' प० अबिका प्रसाद वाजपेयी, पृ० 58 स साभार उद्धृत ।
31 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', (गुजरात की हिंदी सवा), वर्ष 63, अक 2 पृ० 133
32 'गुजरात के हिंदी गौरव ग्रथ' डा० अबाशकर नागर, पृ० 75 स साभार उद्धृत ।
33 वही, पृ० 8 से साभार उद्धृत ।
34 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (गुजरात की हिंदी सेवा), वर्ष 63 अक 2, पृ० 142 से साभार उद्धृत ।
35 'गुजरात के हिंदी गौरव-ग्रथ', पृ० 10 11 ।
36 'हिंदी को मराठी सतो की देन' डा० विनय मोहन शर्मा, पृ० 49 ।
37 वही, पृ० 235 ।
38 वही, पृ० 91 ।
'खडी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास' ब्रजरत्नदास, पृ० 62 पर अवतरित।
39 'हिंदी को मराठी सतो की देन', पृ० 1 ।
40 'हिंदी को मराठी सतो की देन', पृ० 43 ।
41 द्रष्टव्य 'मराठो का नवीन इतिहास' (प्र० स०) गोविन्द सखाराम देसाई, पृ० 158 66 ।
42 'राष्ट्रभाषा आदोलन और गाधी जी' डा० रामधारी सिंह दिनकर, पृ० 5 6 ।

43 'बंगला पर हिंदी का प्रभाव', पृ० 81।
44 'रजत जयंती—ग्रंथ' (वर्ष 1962) राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, पृ० 21।
45 "Maithili is the basic part while Bengali, with addments of Hindi and Brajbhaka forms the superstructure "
—'A History of Brajbuli Literature' p 1
46 'भक्ति रत्नाकर'—नरहरिदास, पृ० 892।
47 रजत जयंती—ग्रंथ' (बंगाल की हिंदी को देन) डा० चटर्जी (वर्ष 1962), राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, पृ० 214-15।
48 वही, पृ० 255।

।

उन्नीसवीं शताब्दी :
कंपनी की भाषा-नीति और हिन्दी

विश्व के इतिहास मे उन्नीसवी शताब्दी अपनी क्रान्तिकारी घटनाओ के कारण विशेष प्रसिद्ध रही है। भारत मे ही नही, अपितु तमाम एशियाई देशो मे राजनीतिक, सास्कृतिक, सामाजिक एव आर्थिक परिवर्तन लाने का श्रेय इसी शती को है। यो तो भारत से यूरोपियो का व्यापारिक सबध पहले ही स्थापित हो चुका था, परतु इस देश मे राजनीतिक दृष्टि से अग्रेजी राज्य की स्थापना इसी शती मे हुई। इस देश मे अग्रेजो का सर्वप्रथम पदार्पण एक व्यापारी के रूप मे हुआ। आगे चलकर इन लोगो ने अपनी व्यापारिक सस्थानो की सुरक्षा के लिए छोटी-छोटी टुकडियो मे सेनाए भी रखनी प्रारभ कर दी। अतत भारत की तत्कालीन बिगडी हुई राजनीतिक अवस्था का लाभ उठाकर इन्होने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। साम्राज्य-स्थापना के क्रम मे अग्रेजो को मराठो, सिक्खो, मुसलमानो एव फ्रासीसियो आदि से कठिन लोहा भी लेना पडा। किंतु जय-पराजय के मध्य अपनी कुशल नीति के फलस्वरूप इन्हे विजय श्री प्राप्त हुई।

मुगल साम्राज्य के अतर्गत अकबर के शासन काल के बाद से ही इस देश की आर्थिक स्थिति बिगडनी प्रारभ हो गई थी। अठारहवी शताब्दी के अत तक आते-आते यह अपनी चरम सीमा का स्पर्श करने लगी। अग्रेजो ने भी देश की आर्थिक स्थिति सुधारने का कोई प्रयास नही किया। इनका मुख्य ध्येय इग्लैड मे निर्मित सामानो को इस देश मे खपाने का था। इसलिए इन्होने ऐसी आर्थिक नीति अपनाई कि यहा के सभी स्वदेशी उद्योग धधे नष्ट होने लगे।

उपर्युक्त आर्थिक दशा का यहा के सामाजिक जीवन पर बडा बुरा प्रभाव पडा। देश मे अनेक सामाजिक कुरीतियो—बाल एव वृद्ध विवाह, विधवा-विवाह निषेध, सती प्रथा, छूआछूत आदि—को बढावा मिला। नवीन चेतना के आगमन

पर सामाजिक पुनरुत्थान के लिए अनेक आंदोलन भी हुए। शिक्षा के क्षेत्र में भी पश्चिमी सभ्यता के संपर्क से पर्याप्त परिवर्तन देखा गया।

इस काल में हिंदू एवं इस्लाम देश के मुख्य दोनों धर्म काफी विकृत हो चुके थे। इनकी अवस्था काफी शोचनीय थी। धार्मिक जीवन में कुरीतियों एवं कुप्रथाओं का अंबार-सा लगा हुआ था। उन्नीसवीं शती के पूर्व से ही भारत में ईसाई धर्म का प्रचार होने लगा था, किन्तु उसे अच्छी प्रकार से फैलाने का मौका उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक से मिला। फलस्वरूप बहुत से हिंदुओं एवं मुसलमानों ने ईसाई धर्म अपनाया। उन्नीसवीं शती पूर्वार्ध में नई शिक्षा तथा ईसाई पादरियों के संपर्क के कारण शिक्षित भारतीयों का धार्मिक दृष्टिकोण भी बदलने लगा था।

हिंदी साहित्य के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी अत्यंत महत्त्वपूर्ण शताब्दी रही है। क्योंकि यह वह काल है जहां से खड़ी बोली हिंदी के क्रमबद्ध इतिहास का प्रारंभ होता है। भाषा की दृष्टि से इस काल के प्रारंभ में काव्य के अंतर्गत ब्रजभाषा का प्राधान्य रहा, परंतु नवीन शक्तियों के प्रभाव के कारण साहित्यिक गतिविधियों में भी परिवर्तन आया। पद्य के साथ साथ गद्य साहित्य का भी प्रचलन हुआ। परिणामस्वरूप खड़ी बोली गद्य की प्रतिष्ठा हुई और आगे चलकर मुक्तक की कौन कहे, खड़ी बोली में धड़ल्ले के साथ प्रबंध काव्यों की भी रचना होने लगी।

सामान्यतः मुगल-साम्राज्य के पतन एवं अंग्रेजी शासन के प्रारंभ की संधि-वेला में भारत में प्रयुक्त भाषाओं की स्थिति निम्नांकित थी।

फारसी देश की मुख्य राजभाषा थी। इसे मुगल शासकों का संरक्षण प्राप्त था। शिक्षा के क्षेत्र में फारसी के साथ अरबी का भी प्रचलन था। यह मुसलमानों की मजहबी जबान थी।

फारसी के साथ-साथ मुगल-शासन के अंतिम काल में उर्दू का भी भाषा के रूप में अस्तित्व प्रकट हो गया था। प्रारंभ में यह हिंदी की एक विशेष शैली मात्र थी, जिसका प्रकटीकरण हिंदी एवं फारसी तथा अरबी की शब्दावली के मिश्रण से हुआ था।[1] प्रसिद्धि ऐसी है कि मुगल बादशाह मुहम्मद शाह (1748 ई०) ने दक्खिनी के प्रसिद्ध कवि वली को अपने दरबार में आमंत्रित करके 'उर्दू' की नींव डाली।[2] बाद में तो यह हिंदी की शैली विशेष न रहकर अरबी-फारसी की शब्दावली से सर्वांग सुसज्जित हो, इस्लामी संस्कृति का बाना धारण कर एक अलग भाषा के रूप में कहलाने लगी और उन्नीसवीं शती के चौथे दशक से हिंदी की घातक विरोधिनी सिद्ध हुई।

हिंदू धर्म एवं शिक्षा की दृष्टि से संस्कृत का बड़ा महत्त्व था। यह मुस्लिम शासकों के संरक्षण से प्रायः वंचित थी।

उन्नीसवीं शताब्दी :
कंपनी की भाषा-नीति और हिन्दी

विश्व के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी अपनी क्रांतिकारी घटनाओं के कारण विशेष प्रसिद्ध रही है। भारत में ही नहीं, अपितु तमाम एशियाई देशों में राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन लाने का श्रेय इसी शती को है। यों तो भारत से यूरोपियों का व्यापारिक संबंध पहले ही स्थापित हो चुका था, परंतु इस देश में राजनीतिक दृष्टि से अंग्रेजी राज्य की स्थापना इसी शती में हुई। इस देश में अंग्रेजों का सर्वप्रथम पदार्पण एक व्यापारी के रूप में हुआ। आगे चलकर इन लोगों ने अपनी व्यापारिक संस्थानों की सुरक्षा के लिए छोटी छोटी टुकड़ियों में सेनाएं भी रखनी प्रारंभ कर दीं। अंततः भारत की तत्कालीन बिगड़ी हुई राजनीतिक अवस्था का लाभ उठाकर इन्होंने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। साम्राज्य-स्थापना के क्रम में अंग्रेजों को मराठों, सिक्खों, मुसलमानों एवं फ्रांसीसियों आदि से कठिन लोहा भी लेना पड़ा। किंतु जय-पराजय के मध्य अपनी कुशल नीति के फलस्वरूप इन्हें विजय श्री प्राप्त हुई।

मुगल साम्राज्य के अंतर्गत अकबर के शासन काल के बाद से ही इस देश की आर्थिक स्थिति बिगड़नी प्रारंभ हो गई थी। अठारहवीं शताब्दी के अंत तक आते-आते यह अपनी चरम सीमा का स्पर्श करने लगी। अंग्रेजों ने भी देश की आर्थिक स्थिति सुधारने का कोई प्रयास नहीं किया। इनका मुख्य ध्येय इंग्लैंड में निर्मित सामानों को इस देश में खपाने का था। इसलिए इन्होंने ऐसी आर्थिक नीति अपनाई कि यहां के सभी स्वदेशी उद्योग-धंधे नष्ट होने लगे।

उपर्युक्त आर्थिक दशा का यहां के सामाजिक जीवन पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। देश में अनेक सामाजिक कुरीतियों—बाल एवं वृद्ध विवाह, विधवा-विवाह निषेध, सती-प्रथा, छूआछूत आदि—को बढ़ावा मिला। नवीन चेतना के आगमन

पर सामाजिक पुनरुत्थान के लिए अनेक आदोलन भी हुए। शिक्षा के क्षेत्र में भी पश्चिमी सभ्यता के सपर्क से पर्याप्त परिवर्तन देखा गया।

इस काल में हिंदू एव इस्लाम देश के मुख्य दोनो धर्म काफी विकृत हो चुके थे। इनकी अवस्था काफी शोचनीय थी। धार्मिक जीवन मे कुरीतियो एव कुप्रथाओ का अबार-सा लगा हुआ था। उन्नीसवी शती के पूर्व मे ही भारत मे ईसाई धर्म का प्रचार होने लगा था, किंतु उसे अच्छी प्रकार से फैलाने का मौका उन्नीसवी सदी के दूसरे दशक स मिला। फलस्वरूप बहुत से हिंदुओ एव मुसलमानो ने ईसाई धर्म अपनाया। उन्नीसवी शती पूर्वार्ध मे नई शिक्षा तथा ईसाई पादरियो के सपर्क के कारण शिक्षित भारतीयो का धार्मिक दृष्टिकोण भी बदलने लगा था।

हिंदी साहित्य के इतिहास मे उन्नीसवी शताब्दी अत्यत महत्वपूर्ण शताब्दी रही है। क्योकि यह वह काल है जहा से खडी बोली हिंदी के क्रमबद्ध इतिहास का प्रारभ होता है। भाषा की दृष्टि से इस काल के प्रारभ मे काव्य के अतर्गत ब्रज-भाषा का प्राधान्य रहा, परतु नवीन शक्तियो के प्रभाव के कारण साहित्यिक गतिविधियो मे भी परिवर्तन आया। पद्य के साथ-साथ गद्य साहित्य का भी प्रचलन हुआ। परिणामस्वरूप खडी बोली गद्य की प्रतिष्ठा हुई और आगे चलकर मुक्तक की कौन कहे, खडी बोली मे ढलने के साथ प्रबन्ध काव्यो की भी रचना होने लगी।

सामान्यत मुगल-साम्राज्य के पतन एव अग्रेजी शासन के प्रारभ की सधि-वेला मे भारत मे प्रयुक्त भाषाओ की स्थिति निम्नाकित थी।

फारसी देश की मुख्य राजभाषा थी। इसे मुगल शासकों का सरक्षण प्राप्त था। शिक्षा के क्षेत्र मे फारसी के साथ अरबी का भी प्रचलन था। यह मुसलमानो की मजहबी जबान थी।

फारसी के साथ साथ मुगल शासन के अतिम काल मे उर्दू का भी भाषा के रूप मे अस्तित्व प्रकट हो गया था। प्रारभ म यह हिंदी की एक विशेष शैली मात्र थी, जिसका प्रकटीकरण हिंदी एव फारसी तथा अरबी की शब्दावली के मिश्रण से हुआ था।[1] प्रसिद्धि ऐसी है कि मुगल बादशाह मुहम्मद शाह (1748 ई०) ने दक्खिनी के प्रसिद्ध कवि वली को अपने दरबार म आमत्रित करके 'उर्दू' की नीव डाली।[2] बाद मे तो यह हिंदी की शैली विशेष न रहकर अरबी फारसी की शब्दावली से सर्वांग सुसज्जित हो, इस्लामी सस्कृति का बाना धारण कर एक अलग भाषा के रूप मे इठलाने लगी और उन्नीसवीं शती के चौथे दशक से हिंदी की सपत्न विरोधिनी सिद्ध हुई।

हिंदू धर्म एव शिक्षा की दृष्टि म सस्कृत का बडा महत्व था। वह मुस्लिम शासकों के सरक्षण मे प्राय वचित थी।

उन्नीसवी शताब्दी :
कंपनी की भाषा-नीति और हिन्दी

विश्व के इतिहास मे उन्नीसवी शताब्दी अपनी क्रातिकारी घटनाओ के कारण विशेष प्रसिद्ध रही है। भारत मे ही नही, अपितु तमाम एशियाई देशो मे राजनीतिक, सास्कृतिक, सामाजिक एव आर्थिक परिवर्तन लाने का श्रेय इसी शती को है। यो तो भारत से यूरोपियो का व्यापारिक सबध पहले ही स्थापित हो चुका था, परतु इस देश मे राजनीतिक दृष्टि से अग्रेजी राज्य की स्थापना इसी शती मे हुई। इस देश मे अग्रेजो का सर्वप्रथम पदार्पण एक व्यापारी के रूप मे हुआ। आगे चलकर इन लोगो ने अपनी व्यापारिक सस्थानो की सुरक्षा के लिए छोटी-छोटी टुकडियो मे सेनाए भी रखनी प्रारभ कर दी। अतत भारत की तत्कालीन बिगडी हुई राजनीतिक अवस्था का लाभ उठाकर इन्होने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। साम्राज्य-स्थापना के क्रम मे अग्रेजो को मराठो, सिक्खो, मुसलमानो एव फ्रासीसियो आदि से कठिन लोहा भी लेना पडा। किंतु जय-पराजय के मध्य अपनी कुशल नीति के फलस्वरूप इन्हे विजय श्री प्राप्त हुई।

मुगल साम्राज्य के अतर्गत अकबर के शासन काल के बाद से ही इस देश की आर्थिक स्थिति बिगडनी प्रारभ हो गई थी। अठारहवी शताब्दी के अत तक आते-आते यह अपनी चरम सीमा का स्पर्श करने लगी। अग्रेजो ने भी देश की आर्थिक स्थिति सुधारने का कोई प्रयास नही किया। इनका मुख्य ध्येय इग्लैड म निर्मित सामानो को इस देश म खपाने का था। इसलिए इन्होने ऐसी आर्थिक नीति अपनाई कि यहा के सभी स्वदेशी उद्योग-धधे नष्ट होने लगे।

उपर्युक्त आर्थिक दशा का यहा के सामाजिक जीवन पर बडा बुरा प्रभाव पडा। देश म अनेक सामाजिक कुरीतियो—बाल एव वृद्ध विवाह, विधवा-विवाह निषेध, सती-प्रथा, छूआछूत आदि—को बढावा मिला। नवीन चेतना के आगमन

पर सामाजिक पुनरुत्थान के लिए अनेक आंदोलन भी हुए। शिक्षा के क्षेत्र में भी पश्चिमी सभ्यता के संपर्क से पर्याप्त परिवर्तन देखा गया।

इस काल में हिंदू एवं इस्लाम देश के मुख्य दोनों धर्म काफी विकृत हो चुके थे। इनकी अवस्था काफी सोचनीय थी। धार्मिक जीवन में कुरीतियों एवं कुप्रथाओं का अबार-सा लगा हुआ था। उन्नीसवीं शती के पूर्व से ही भारत में ईसाई धर्म का प्रचार होने लगा था, किंतु उसे अच्छी प्रकार से फैलाने का मौका उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक से मिला। फलस्वरूप बहुत से हिंदुओं एवं मुसलमानों ने ईसाई धर्म अपनाया। उन्नीसवीं शती पूर्वार्ध में नई शिक्षा तथा ईसाई पादरियों के संपर्क के कारण शिक्षित भारतीयों का धार्मिक दृष्टिकोण भी बदलने लगा था।

हिंदी साहित्य के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी अत्यंत महत्त्वपूर्ण शताब्दी रही है। क्योंकि यह वह काल है जहां से खड़ी बोली हिंदी के क्रमबद्ध इतिहास का प्रारंभ होता है। भाषा की दृष्टि से इस काल के प्रारंभ में काव्य के अंतर्गत ब्रजभाषा का प्राधान्य रहा, परंतु नवीन शक्तियों के प्रभाव के कारण साहित्यिक गतिविधियों में भी परिवर्तन आया। पद्य के साथ साथ गद्य साहित्य का भी प्रचलन हुआ। परिणामस्वरूप खड़ी बोली गद्य की प्रतिष्ठा हुई और आगे चलकर मुक्तक की कौन कहे, खड़ी बोली में ग्रंथों के साथ प्रबंध काव्यों की भी रचना होने लगी।

सामान्यतः मुगल-साम्राज्य के पतन एवं अंग्रेजी शासन के प्रारंभ की संधिवेला में भारत में प्रयुक्त भाषाओं की स्थिति निम्नांकित थी।

फारसी देश की मुख्य राजभाषा थी। इसे मुगल शासकों का संरक्षण प्राप्त था। शिक्षा के क्षेत्र में फारसी के साथ अरबी का भी प्रचलन था। यह मुसलमानों की मजहबी जबान थी।

फारसी के साथ साथ मुगल शासन के अंतिम काल में उर्दू का भी भाषा के रूप में अस्तित्व प्रकट हो गया था। प्रारंभ में यह हिंदी की एक विशेष शैली मात्र थी, जिसका प्रकटीकरण हिंदी एवं फारसी तथा अरबी की शब्दावली के मिश्रण से हुआ था।[1] प्रसिद्धि ऐसी है कि मुगल बादशाह मुहम्मद शाह (1748 ई०) ने दक्खिनी के प्रसिद्ध कवि वली को अपने दरबार में आमंत्रित करके 'उर्दू' की नींव डाली।[2] बाद में तो यह हिंदी की शैली विशेष न रहकर अरबी-फारसी की शब्दावली से सर्वांग सुसज्जित हो, इस्लामी संस्कृति का बाना धारण कर एक अलग भाषा के रूप में दिखलाने लगी और उन्नीसवीं शती के चौथे दशक में हिंदी की सशक्त विरोधिनी सिद्ध हुई।

हिंदू धर्म एवं शिक्षा की दृष्टि से संस्कृत का बड़ा महत्त्व था। वह मुस्लिम शासकों के संरक्षण से प्राय वंचित थी।

साहित्यिक दृष्टि से हिंदी की स्थिति बड़ी सुदृढ़ थी। बोलचाल की भाषा के रूप में इसका प्रचलन पूरे देश में था। यह अखिलदेशीय संपर्क-भाषा (राष्ट्रभाषा) थी। आंशिक रूप से इसका प्रयोग राजकाज के लिए भी होता था।

इसके अतिरिक्त अन्य नव्य भारतीय आर्य भाषाओं (बंगला, गुजराती, मराठी आदि) एवं दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं का प्रचलन प्रादेशिक स्तर पर था।

ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश राज्य

पुराने जमाने से ही भारतवर्ष का यूरोपीय देशों से व्यापारिक संबंध रहा है। भारतीय शिल्पी एवं कारीगर अपने हस्त-कौशल के लिए विश्व विख्यात रहे हैं। यहां की बनी चीजों का निर्यात एवं यूरोपीय वस्तुओं का आयात बराबर होता रहा है। प्रारंभ में यह व्यापार स्थल मार्ग से होता था किंतु बाद में यूरोपीय व्यापारियों ने जल-मार्ग द्वारा भी भारत के साथ व्यापार करना शुरू किया। 22 सितंबर, 1599 ई० में लंदन में स्थापित एक लंदन कंपनी ने भी भारत से अपना व्यापारिक संबंध बनाया। यह कंपनी बहुत दिनों तक ब्रिटिश सरकार द्वारा दिए गए आदेशों के मुताबिक भारत में अपना व्यापार करती रही। सन् 1698 के एक अधिनियम के अनुसार लंदन में एक नई कंपनी की स्थापना हुई। लंदन की उक्त दोनों कंपनियां व्यापारिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण थीं। प्रारंभ में भारत के अंतर्गत ये दोनों कंपनियां अलग-अलग व्यापार करती रहीं। किंतु बाद में चलकर ये दोनों एक दूसरे में घुल-मिल गईं और सन् 1709 में इनका सम्मिलित नाम 'यूनाइटेड ईस्ट इंडिया कंपनी' रखा गया।

सन् 1709 से 1764 के मध्य इस कंपनी को अनेक व्यापारिक सफलताएं प्राप्त हुईं। इन दिनों भारत की राजनीतिक स्थिति काफी डांवाडोल थी, जिसका कंपनी को पूरा-पूरा लाभ मिला। कंपनी ने विशेष आर्थिक लाभ की दृष्टि से सारे देश को तीन मुख्य केंद्रों—बंबई, मद्रास और कलकत्ता—में विभक्त कर दिया। इन्हीं दिनों इस कंपनी को फ्रांसीसी कंपनी से काफी संघर्ष करना पड़ा। फलस्वरूप अंग्रेजों व फ्रांसीसियों के बीच कर्नाटक में तीन युद्ध हुए, जिनसे फ्रांसीसियों के पैर उखड़ गए और अंग्रेजों का भारत में राजनीतिक अस्तित्व दृढ़ हो गया। सन 1757 में समूचे बंगाल पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इसके बाद बक्सर के युद्ध (सन 1764) में भी अंग्रेजों की ही विजय हुई। कर्नाटक युद्ध के बाद भारत का दक्षिणी भाग भी अंग्रेजों के शासन में आ गया था। सन 1799 में अंग्रेजों ने मैसूर के शासक टीपू सुल्तान को पराजित किया और सन 1818 में मराठों को। सन 1803 में ही दिल्ली पर भी इनका अधिकार हो चुका था। इस प्रकार एक व्यापारिक कंपनी ने लगभग एक शताब्दी के मध्य समस्त भारत पर अपना आधिपत्य जमा लिया और इस देश में ब्रिटिश राज्य की नींव डाली।

देश में कंपनी का महत्त्व दिनों-दिन बढ़ता गया। सन 1833 तक तो कंपनी की स्थिति काफी सुदृढ़ हो गई। सन 1854 तक कंपनी ने युद्ध, राज्य-विस्तार, शासन-सुधार तथा अन्य सार्वजनिक हित के कार्य किए। सन 1856 में लार्ड डलहौजी के बाद लार्ड केनिंग भारत के गवर्नर-जनरल होकर आए। उन दिनों डलहौजी की 'राज्य हड़पो' नीति के कारण भारत का राजनीतिक वातावरण बिलकुल विक्षुब्ध हो उठा था। राजे-महाराजे व नवाब आक्रोश से भरे हुए थे। देश की सामाजिक दशा भी काफी बिगड़ चली थी। कट्टर हिंदुओं को विश्वास हो चला था कि लार्ड केनिंग को भारत में ईसाई धर्म का प्रसार करने एवं भारतीयों को ईसाई बनाने के उद्देश्य से भेजा गया है। आर्थिक स्थिति की विषमता के कारण असंतोष की अग्नि तो पहले से ही जल रही थी। इन परिस्थितियों के योग से वह भभक उठी और इस भभकती हुई आग में सेना के अंतर्गत गोरे और काले के भेदभाव तथा असमानता की बढ़ती हुई खाई ने घी का काम किया। परिणामस्वरूप सन 1857 में वह चिरस्मरणीय रोमांचकारी खूनी विद्रोह हुआ जो भारत के इतिहास में 'प्रथम स्वतंत्रता संग्राम' के नाम से प्रसिद्ध है। सब प्रकार की तैयारियों के बावजूद भारत का यह दुर्भाग्य ही रहा कि थोड़ी सी असावधानी ने भारत की गुलामी को 90 वर्षों के लिए आगे ढकेल दिया। इस क्रांति का अंग्रेजों ने बलपूर्वक दमन किया। बहुत कुछ गवाने के बाद भी भारतीयों को असफलता हाथ लगी। सन 1857 के इस महान विद्रोह का फल यह हुआ कि सन 1858 के एक अधिनियम के अनुसार भारत की शासन-सत्ता कंपनी के हाथ से निकलकर सीधे इंग्लैंड की महारानी विक्टोरिया के हाथ में चली गई और इस प्रकार कंपनी-शासन का अंत हो गया।

कंपनी की भाषा-नीति

ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपना शासन स्थापित कर लेने के बाद कुछ समय तक अपने कर्मचारियों के लिए देशी भाषाओं के अध्ययन की कोई व्यवस्था नहीं की। ब्रिटिश साम्राज्य के संस्थापक राबर्ट क्लाईव (सन 1743-1767) तथा वारेन हेस्टिंग्ज (सन 1780) ने कोई ध्यान नहीं दिया। लार्ड कार्नवालिस (सन 1786-1793) ने भी इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया। जब वैलेजली (सन 1798-1805) भारत आए तो उनका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने भारत आकर अनुभव किया कि कंपनी के कर्मचारी केवल एक व्यापारिक संस्था के कर्मचारी नहीं, बल्कि अब एक सरकार के अधिकारी हैं। उनमें शिक्षा, जनभाषा, ज्ञान और सदाचार की आवश्यकता है। अतः उनकी शिक्षा-दीक्षा के लिए उन्होंने गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में 'ओरिएंटल सेमिनरी' की स्थापना की।

बाद में (1800 ई० में) यही संस्था फोर्ट विलियम कालेज के रूप में परिवर्धित हुई।'[3]

फोर्ट विलियम कालेज

जैसा ऊपर बताया गया है इस कालेज की स्थापना का मुख्य उद्देश्य कंपनी के कर्मचारियों को देशी भाषाओं का ज्ञान कराना था, किंतु अप्रत्यक्षतः इस कालेज की स्थापना से भारतीय भाषाओं, मुख्यतः हिंदी, उर्दू व बंगला का विशेष विकास हुआ। इस कालेज में पूर्वी तथा पश्चिमी साहित्य, कानून, नीति विज्ञान, राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, भूगोल, गणित, वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि विविध विषयों की शिक्षा दी जाती थी, साथ ही अरबी, फारसी, संस्कृत, हिंदुस्तानी, बंगला, गुजराती, मराठी, तेलुगु, कन्नड, तमिल, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं एवं यूरोप की अनेक आधुनिक भाषाओं तथा ग्रीक व लैटिन आदि की पढ़ाने की व्यवस्था थी। इस कालेज के द्वारा भारत की अनेक भाषाओं, मुख्यतः बंगला, फारसी, अरबी तथा हिंदुस्तानी के विविध ग्रंथ प्रकाशित हुए। सन 1800 से 1854 के बीच कालेज के मुंशियों तथा पंडितों द्वारा विविध भाषाओं में अनेक ग्रंथों की रचना हुई। कालेज द्वारा प्रकाशित इन ग्रंथों में साहित्यिकता का अभाव भले ही रहा हो, पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि इनके द्वारा भारतीय भाषाओं में अनेक नवीन विषयों का प्रारंभ हुआ, उनके शब्द भंडार में वृद्धि हुई। संस्कृत तथा हिंदी आदि के अनेक प्राचीन ग्रंथ सर्वप्रथम प्रकाशित हुए।[4]

हिंदुस्तानी विभाग के प्रथम अध्यक्ष गिलक्राइस्ट थे। गिलक्राइस्ट के अनुसार हिंदुस्तानी की तीन शैलियां थीं—(1) दरबारी फारसी शैली, (2) विशुद्ध हिंदुस्तानी शैली, एवं (3) हिंदवी शैली। वे फारसी शैली को दुरूह तथा हिंदवी शैली को गंवारू मानते थे। इन तीनों में वे विशुद्ध हिंदुस्तानी शैली को प्राथमिकता देते थे।[5] गिलक्राइस्ट की इस हिंदुस्तानी की वाक्य-रचना, क्रियापद आदि तो हिंदी (हिंदवी) पर आधारित थे, परंतु उसमें अरबी, फारसी के संज्ञा एवं विशेषण शब्दों का भरमार रहा करती थी। इसे यों कहा जा सकता है कि कालेज में गिलक्राइस्ट साहब ने हिंदुस्तानी के नाम पर उर्दू को ही प्रोत्साहन दिया, लोक प्रचलित हिंदी (खड़ी बोली) को नहीं। मौलाना अब्दुल हक साहब के निम्नलिखित कथन के साक्ष्य में यदि गिलक्राइस्ट की भाषा नीति की समीक्षा की जाए, तो उपर्युक्त कथन की सार्थकता में किसी भी प्रकार का संदेह नहीं रह जाएगा

'मैं डा० गिलक्रिस्त को उर्दू जबान का बहुत बड़ा मोहसिन खयाल करता हूं। वह न सिर्फ एक तरह से फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता के कयाम के बायस हुए जिसने उर्दू की बहुत बड़ी खिदमत की बल्कि उन्होंने उर्दू की तौसीअ व अशाअत्

के लिए बहुत कारमद और मुफीद किताबें लिखी।'[6]

डा० रामकुमार वर्मा ने गिलक्राइस्ट साहब की भाषा नीति की स्वस्थ दृष्टि से समीक्षा करते हुए लिखा है :

'रोमन लिपि और फारसी लिपि में विश्वास रखने वाले, अरबी और फारसी से आक्रांत खड़ी बोली को ही (जिसे वे हिंदुस्तानी कहते हैं) देश की शिष्ट भाषा समझने वाले एवं संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्दों से मिश्रित खड़ी बोली को (जिसे वे हिंदवी कहते हैं) गवारू समझने वाले जान गिलक्राइस्ट ने वास्तव में हिंदुस्तानी नाम से उर्दू का प्रचार किया।'[7]

गिलक्राइस्ट रोमन तथा फारसी लिपि के पक्षपाती थे। उनके विचार में हिंदुस्तानी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए फारसी भाषा एवं लिपि का ज्ञान बहुत जरूरी था। वे स्वयं अरबी फारसी भाषाओं के विद्वान थे। इसलिए उन्होंने तत्कालीन हिंदी को अरबी फारसी की ओर झुका दिया। उन्हीं के प्रयास से उर्दू परिपूर्ण हो बाद में कचहरी की भाषा बनने योग्य हुई।

गिलक्राइस्ट के हिंदुस्तानी विभाग में हिंदी तथा नागरी लिपि से परिचित मुंशियों की संख्या नहीं के बराबर थी। जब हिंदवी (हिंदी) के अध्ययन की विशेष आवश्यकता होती थी तो उसके लिए अस्थायी प्रबंध कर लिया जाता था। इसी प्रबंध विशेष के अंतर्गत लल्लू जी लाल और सदल मिश्र की नियुक्ति कॉलेज में हुई थी। 'भाखा मुंशी तथा पंडितों का वेतन सदैव कम रखा जाता था तथा कॉलेज की व्यवस्था में उनका सदैव स्थान गौण रहता था। उनकी नियुक्ति तथा उपस्थिति भी आवश्यक नहीं समझी जाती थी। अनिश्चित दशा तथा आवश्यकता न रहने पर वे पद से अलग कर दिये जाते थे।'[8]

जान गिलक्राइस्ट की इस भाषा नीति का प्रभाव हिंदी पर बहुत बुरा पड़ा। उसे यथेष्ट रूप से विकसित होने में पर्याप्त कठिनाइयां झेलनी पड़ीं और सन् 1837 से तो उर्दू के साथ संघर्ष ही छिड़ गया। इस नीति से हिंदुस्तानी के नाम पर उर्दू को जो प्रश्रय मिला, उससे भविष्य में भाषा के प्रश्न को लेकर साम्प्रदायिकता की अभेद्य दीवार खड़ी हुई। इन सबके बावजूद खड़ी बोली हिंदी का इस कॉलेज से कुछ लाभ न हुआ हो, ऐसी बात नहीं, खड़ी बोली गद्य की प्रतिष्ठा हुई। हिंदी की प्रकाशित अनेक पुस्तकों द्वारा हिंदी प्रचार में कुछ-न-कुछ सहायता अवश्य मिली।

26 फरवरी सन 1804 ई० को कॉलेज से गिलक्राइस्ट के त्याग पत्र देकर चले जाने के बाद भी भाषा संबंधी यह भ्रमपूर्ण नीति वर्षों तक चलती रही। सन 1823 ई० में हिंदुस्तानी विभागाध्यक्ष के रूप में विलियम प्राइस की नियुक्ति हुई। 'वे अपने को हिंदी प्रोफेसर कहते थे और हिंदी और हिंदुस्तानी में लिपि तथा शब्दों

का मुख्य अंतर मानते थे।'[9] इनके समय कॉलेज में हिंदुस्तानी (उर्दू) के स्थान पर हिंदी का अध्ययन प्रारंभ हुआ। प्राइस की इस भाषा नीति के कारण कालेज के सचालकों को भी अपनी भाषा-नीति बदलनी पडी। प्राइस के बाद दिनों-दिन कालेज अवनति की ओर ही गया और सन 1854 में इसे तोड देना पडा।

फोर्ट विलियम कालेज की इस भाषा नीति का बहुत गहरा प्रभाव कपनी की भाषा-नीति पर पडा। किंतु इसे कपनी की आम नीति मानना स्वस्थ दृष्टि का परिचायक नहीं होगा। प्रारंभ में भाषा के मामले में कपनी काफी उदार थी, हा, यह दूसरी बात है कि परिस्थितियों के अवरोध अथवा राजनीति सबधी अपने दृष्टिकोण विशेष के कारण कपनी को अपनी भाषा-नीति में समय-समय पर परिवर्तन करना पडा हो।

जिस समय कपनी ने भारत का शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया, उस समय उसके सामने चार प्रमुख भाषाए थी

1 अंग्रेजी कपनी सरकार की अपनी निजी भाषा थी, जिसका प्रचार करना तथा जिसे राजभाषा का पद दिलाना कपनी अपना परम कर्तव्य समझती थी।
2 फारसी राजभाषा थी अवश्य, किंतु सर्वसाधारण में इसका प्रचलन नाममात्र के बराबर था।
3 हिंदी लोक भाषा के रूप में सर्वत्र बोली और समझी जाती थी।
4 बगला कपनी सरकार की केन्द्र की भाषा थी।

यहा पर इस तथ्य का उल्लेख कर देना नितांत जरूरी है कि समय की इस सीमा तक 'उर्दू' नाम की कोई अलग से भाषा नहीं थी। सपूर्ण हिंदी प्रदेश में सिर्फ एक लोक भाषा (जिसे अंग्रेजों ने हिंदुस्तानी कहना ही उचित समझा था) हिंदी ही प्रचलित थी।

कपनी और राजभाषा

किसी भी सरकार के लिए राजभाषा का विशेष महत्त्व होता है। इसलिए कपनी की भाषा-नीति की समीक्षा करते समय सर्वप्रथम उसकी राजभाषा सबधी नीति का विवेचन आवश्यक है। कपनी सरकार की अपनी भाषा अंग्रेजी थी, जिसे इस देश की राजभाषा बनाना, कपनी की हार्दिक इच्छा थी। किंतु कपनी ऐसा कर पाने में असमर्थ थी। प्रथम कारण यह कि उस समय जनमत अंग्रेजी के अनुकूल न था, जनता में अंग्रेजी का कोई विशेष प्रचार नहीं हो पाया था। द्वितीय यह कि लबे अर्से से फारसी राजभाषा बनती चली आ रही थी। अत कपनी को भी उसी नीति का अनुसरण करना पडा। मुगल-शासन के पतन के बाद फारसी का महत्त्व व प्रचलन दिन-प्रतिदिन घटता जा रहा था, फिर भी सन 1836 तक फारसी

कपनी सरकार के दफ्तरो की भाषा बनी रही और सहभाषा के रूप मे लोकभाषा हिंदी का प्रयोग भी पूर्ववत होता रहा। इस सबध मे श्री चद्रबली पाण्डेय का निम्नलिखित कथन वस्तुस्थिति का परिचायक है

'कपनी सरकार शाही जबान अर्थात् फारसी के लिए बचनबद्ध हो चुकी थी, फिर भी 'भाषा' से उसका कोई परम्परागत द्वेष न था। फारसी के साथ ही साथ 'भाषा' भी बढ रही थी। इसलिए कोई कारण न था कि कपनी सरकार 'भाषा' का विरोध करती। निदान उसने निश्चय किया कि सरकारी कामकाज मे शाही जबान के साथ ही साथ 'लोकभाषा' को भी टकसाली रखा जाये।'[10]

कपनी के राजकीय आदेश, सूचना तथा सरकारी कागजात पहले फारसी और नीचे हिंदी भाषा मे लिखे रहते थे। इन कामो के लिए दोनो लिपियो फारसी व नागरी का प्रयोग होता था। हिंदी भी उन दिनो राजकाज की भाषा के रूप मे प्रयुक्त होती थी, इसका प्रमाण सन 1803 का आईन दे रहा है

'किसी को भी इस बात का उजुर नही होये के ऊपर के दफै का लिखा हुकुम समसे वाकीफ नहीं हैं हरी ऐक जिले के कलीकटर साहेब को लाजीम है के इस आईन के पावने पर ऐक ऐक केता इसतहारनामा निचे के तरह से फारसी वो नागरी भाषा के अछर में लिखायें के अपने मोहर वो दसखत से अपने जिला के कचहरी मे भी तमामी आदमी के बुझने के वासते लटकावहि।'[11]

कपनी ने अपने सिक्को तथा स्टेम्पो पर भी फारसी लिपि के साथ साथ नागरी लिपि को स्थान दिया था।[12] नागरी लिपि के जारी रहने के कारणो पर प्रकाश डालते हुए डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है कि 'इतन दिनो तक कपनी नागरी लिपि इसलिए अपनाये रही, क्योकि आधुनिक उत्तर प्रदेश और बिहार की जनता मे उसका सबसे अधिक प्रचार था, वह सरलतापूर्वक सीखी जा सकती थी, मरहठो के और नेपाल राज्य तथा कुमायू, गढवाल, राजपूताना आदि के लगभग सभी कार्य उसमे होते थे और कैथी और महाजनी लिपिया उसके अत्यधिक समीप और रूपान्तर मात्र थी।'[13]

फारसी भाषा के प्रयोग से बहुत सी कठिनाइयो का सामना करना पड़ता था। जनता को इसके कारण उचित न्याय नही मिल पाता था। अग्रेज इन तथ्यो से अवगत थे। अग्रेजी को राजभाषा बनाने की उनकी मशा भी थी। किंतु फारसी को हटाकर उस स्थान पर अग्रेजी को बिठाना अभी खतरे से खाली न था, इस बात की जानकारी भी उन्हे थी। कारण यह है कि लोक' जनमत देशी भाषाओ

के पक्ष में था, साथ ही सन 1830 ई० में बोर्ड के डाइरेक्टरों ने यह कह भी दिया कि 'जनता को न्यायाधीशों की भाषा सीखने की अपेक्षा न्यायाधीशों को जनता की भाषा सीखना सरल है।'[11] फिर भी सन 1830 से 37 तक शासन और शिक्षा के माध्यम के संदर्भ में अंग्रेजी और देशी भाषाओं को लेकर काफी विवाद चलता रहा। अततः सन 1837 ई० में फारसी की जगह देशी भाषाओं को दे दी गयी। बंगाल में तो बंगला भाषा व लिपि को अधिकार मिला, किंतु पश्चिमोत्तर प्रदेश (उत्तर प्रदेश, बिहार एवं मध्य प्रदेश) में हिंदी व नागरी लिपि के स्थान पर 'उर्दू' कचहरी की भाषा नियुक्त हुई।

'उर्दू' को अदालत की भाषा बनवाने का मुख्य श्रेय अदालती कर्मचारियों को ही था, जिनमें फारसी लिखने में अभ्यस्त मुसलमानों एवं कायस्थों की संख्या बहुत ज्यादा थी।[12] यदि अदालत की भाषा हिंदी व लिपि नागरी बना दी जाती तो इन अदालती अमलों के सर पर मानों पहाड़ गिर पड़ता। इसलिए इन लोगों ने सरकार के समक्ष यह दलील रखी कि यदि सरकार एक मात्र नागरी को लागू करना चाहती है तो उसके लिए नये कर्मचारियों की नियुक्ति करनी पड़ेगी और ऐसी हालत में नये सिरे से कर्मचारियों की नियुक्ति संभव नहीं है। अतः उर्दू को अपनाने से सरकार का प्रयोजन अधिक सुगमता से पूरा हो जायेगा। उस हालत में भाषा देशी हो जायेगी और लिपि का कोई प्रश्न न उठेगा। मजे की बात तो यह रही कि जब तक फारसी न्याय भाषा थी तब तक मुस्लिम शासकों की परंपरा का अनुसरण होता रहा, देश की भाषा हिंदी और लिपि नागरी को भी स्थान मिलता रहा। परंतु जब फारसी का स्थान उर्दू ने लिया तो अदालत में हिंदी व नागरी का नामोनिशान भी मिटा दिया गया।

उर्दू के अधिकांश समर्थक मुसलमान थे। उनके लिए भाषा का सवाल कोरा प्रशासकीय प्रश्न ही न था, वह भावनोत्पादक तथा एक हद तक धार्मिक भी था। मुस्लिम संस्कृति की प्रतीक फारसी के हट जाने के कारण मुसलमानों में बड़ा असंतोष व्याप्त हो गया था। कोई रास्ता न देख उन लोगों ने अरबी-फारसी से लदी हुई उर्दू का ही जी जान से समर्थन करना शुरू किया और हिंदी को दफ्तरों एवं कचहरियों से ही नहीं, बल्कि शिक्षण-संस्थाओं से भी निकलवाने की जबर्दस्त कोशिश की। हिंदी प्रेमियों के द्वारा हिंदी के प्रति ध्यान दिलाये जाने पर यदा-कदा सरकार द्वारा एकाधिक भाषा संशोधन-आदेश निकलते रहे, किंतु अमलों की मेहरबानी कहिये कि वे फाइल में दबे रह जाते थे, व्यावहारिक जगत की हवा उन्हें नहीं लग पाती थी। पश्चिमोत्तर प्रदेश की सरकार ने 5 जनवरी 1854 के आदेश द्वारा क्लिष्ट उर्दू के स्थान पर सरल हिंदुस्तानी के प्रयोग को उचित बताया, परंतु इसका भी पालन न हो सका। 'परिणामतः कचहरी की भाषा जनता के लिए दुर्बोध और महंगी हो गई। कचहरी में मुसलमान तथा हिंदू अमलों ने अपना

स्वार्थ सिद्ध करने के लिए उर्दू को फारसी लिपि का जामा पहनाकर उसे जनता से और भी दूर कर दिया।'[16]

कंपनी की शिक्षा नीति और हिंदी

ईस्ट इंडिया कंपनी की शासन व्यवस्था से पहले इस देश की शिक्षा-व्यवस्था में शासकों का हस्तक्षेप नहीं होता था। शिक्षार्थी स्वतंत्र रूप से ब्राह्मणों तथा मौलवियों द्वारा शिक्षा ग्रहण करते थे। आरंभ में कंपनी के डाइरेक्टरों को भी हमारी भाषा, संस्कृति, रीति रिवाज, धर्म आदि में हस्तक्षेप करने में काफी हिचकिचाहट हुई। अतः आरंभ में कंपनी ने शिक्षा के क्षेत्र में उसे प्रभावित करने वाला कोई ठोस कदम नहीं उठाया। शिक्षा व्यवस्था परंपरानुमोदित पथ पर चलती रही। सन 1771 के संशोधित अधिनियम के अनुसार कंपनी ने हिंदुओं और मुसलमानों के लिए उनके धर्म, रीति रिवाज, रहन-सहन आदि के अनुकूल उच्च शिक्षा-केन्द्र स्थापित करने की योजना बनायी। सन् 1781 में कलकत्ता मदरसा तथा सन 1791 में बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना हुई। कलकत्ता मदरसा का उद्देश्य मुसलमानों को मुस्लिम धार्मिक सिद्धांतों के साथ कानून की शिक्षा देकर उन्हें अंग्रेज शासकों की सहायता करने योग्य बनाना था। इसी प्रकार के उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिंदू धर्मशास्त्र के सिद्धांतों के अनुरूप बनारस संस्कृत कालेज की भी स्थापना हुई थी। इन शिक्षण संस्थानों में अरबी-फारसी, तथा संस्कृत के अध्ययन पर ही बल दिया जाता था। किंतु इनका उद्देश्य बड़ा छोटा, दूषित एवं संकुचित घेरे में आबद्ध था। थामस मुनरो, एलफिन्स्टन, लार्ड विलियम बैंटिंग जैसे उदारवादी अंग्रेजों ने भारत की शिक्षा-व्यवस्था को प्रगतिशील कदमों पर ले चलने के लिए कंपनी को सुझाव दिया। किंतु इनके सुझावों का कोई व्यावहारिक स्वरूप सामने आता हुआ दिखाई न पड़ा।

देश की साधारण जनता देशी भाषाओं के पक्ष में थी। इसलिए कंपनी को उनकी ओर भी ध्यान देना पड़ा। हिंदुस्तानी के प्रबल समर्थक लार्ड वैलेजली के द्वारा 1800 ई० में 'फोर्ट विलियम कालेज' की स्थापना, इस दिशा में कंपनी के प्रयास का पहला कदम था। अंग्रेजों को भारतीय भाषाएं सीखने के लिए सन 1818 में 'फोर्ट सेण्ट जार्ज' नामक एक दूसरे कालेज की स्थापना मद्रास में हुई। स्पष्ट है कि लार्ड वैलेजली के समय में देशी भाषाओं की महत्ता कंपनी को अच्छी तरह से समझ में आने लगी थी। यहां पर यह बात कह देना निहायत जरूरी है कि 'फोर्ट विलियम कालेज' की स्थापना से भारतीय भाषाओं को कम लाभ नहीं हुआ, किंतु गिलक्राइस्ट के 'हिंदुस्तानी' संबंधी भ्रमपूर्ण नीति का परिणाम हिंदी के लिए तो बहुत ही दुखद एवं देश के लिए बड़ा ही खतरनाक साबित हुआ। गिलक्राइस्ट के 'हिंदुस्तानी' भाषा नीति का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में कंपनी

की भाषा नीति पर गहरा प्रभाव पड़ा। 'कंपनी के शासनकाल में 'हिंदुस्तानी' शब्द के सामान्यतया दो अर्थ लिए जाते थे। उसके पहले अर्थ में हिंदुस्तानी से उस भाषा से तात्पर्य था, जिसमें ठेठ हिंदी के शब्दों का प्रयोग होता था। न तो उसमें शुद्ध संस्कृत के शब्दों की प्रचुरता थी और न ही वह अरबी फारसी के शब्दों से बोझिल रहती थी। इस अर्थ में 'हिंदवी' अथवा 'हिंदुई' शब्द ही प्रायः हिंदुस्तानी के अंतर्गत आते थे। यही हिंदुस्तानी सबसे अधिक समझी तथा बोली जाती थी। हिंदुस्तानी के दूसरे अर्थ में हिंदुस्तानी' से उस भाषा से तात्पर्य था, जिसका मूलाधार ठेठ हिंदी था, परन्तु उसमें अरबी-फारसी के शब्दों का बाहुल्य था और वह साधारणतया फारसी लिपि में लिखी जाती थी।'[17] कहना न होगा कि कंपनी भी हिंदुस्तानी के इसी दूसरे अर्थ को लेने लगी थी।

अब इस हिंदुस्तानी के प्रचार-प्रसार के लिए कंपनी द्वारा समय समय पर सघन प्रयास किए गए, जिससे सिर्फ अरबी, फारसी की खोल ओढ़ने वाली ही नहीं, वरन उनके अखिल गुणों को आत्मसात करने वाली हिंदुस्तानी के नाम पर उस उर्दू को बढ़ावा मिला, जो भविष्य में अराष्ट्रीय तत्वों की साकार मूर्ति सिद्ध हुई। वस्तुतः शिक्षा के क्षेत्र में कंपनी की ऐसी नीति थी जिसके जरिए हिंदी और उर्दू के बीच दूरी पैदा कर अंग्रेजी भाषा व रोमन लिपि को स्थापित किया जा सके। इस संदर्भ में यह तथ्य तो सर्व विदित ही है कि अंग्रेजी को राजभाषा के पद पर देखना कंपनी की दिली तमन्ना थी। शिक्षा का क्षेत्र भी इसी दूषित नीति से प्रभावित एवं आक्रांत था, जिसका पर्दाफाश करते हुए सुप्रसिद्ध इतिहासकार 'गार्सां द-तासी' ने लिखा है

'ईस्ट इण्डिया कंपनी की यह हिकमत असली रही थी कि उर्दू को हिंदी से अलहदा तसव्वर किया जाए। चुनांचे उर्दू का जो जदीद अदब इस जमाने में पैदा हुआ उसमें अरबी फारसी के अल्फाज को तरजीह दी जाती थी। इस जदीद अदब की सरकारी मदारिस में भी हिम्मत अफजाई की गयी।'[18]

वस्तुतः कंपनी ने जिस भाषा नीति को अपनाया, वह भाषा के क्षेत्र में विभिन्न विरोधी तत्वों को जन्म देने एवं हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी का विवाद खड़ा करने में सहायक सिद्ध हुई। कंपनी की इस भाषा नीति के दुष्परिणाम की बात डा० सरनाम सिंह शर्मा के ही शब्दों में सुनिए

अंग्रेजी शासन की स्थापना से भाषा के क्षेत्र में एक विस्फोट भावना का प्रजनन हुआ। धर्म की आड़ में कूटनीतिक चालों को घोषित करने का अवसर लेकर शासकों ने अपना उल्लू सीधा करने की चेष्टा की। उन्होंने 'हिंदुस्तानी'

शब्द से एक ऐसे विष का प्रादुर्भाव किया, जो बढ़ता और फैलता गया। हिंदी और उर्दू के संबध में उससे एक निश्चित भेद दृष्टि हो गई।'[19]

यदि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के इतिहास पर नजर डाली जाए तो दिखाई पड़ेगा कि कंपनी की शिक्षा नीति समय-समय पर बदलती रही है। सन 1814 में उसने प्राच्य शिक्षा प्रणाली एवं संस्कृत के अध्ययन पर विशेष बल दिया, तो सन 1824 में पाश्चात्य ज्ञान और विज्ञान के प्रसार पर और सन 1828 में मुनरो की भारतीय भाषाओं द्वारा जन शिक्षा की योजना पर"[0] सन 1834 में लार्ड मैकाले भारत आए। उन्होंने अंग्रेजी द्वारा भारतीयों को शिक्षा देने पर बल दिया। उसी वर्ष से कंपनी की शिक्षा संबंधी नीति ने एक नया मोड़ लिया। फलस्वरूप कंपनी सरकार ने अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार का कार्य अपने हाथ में लिया। सरकार की कामना फलवती हो उठी। अब क्या था, बड़े धूम धाम के साथ अंग्रेजी भाषा व रोमन लिपि का प्रचार शुरू हुआ। सन 1856 तक अंग्रेजी का खूब प्रचार होता रहा। इस प्रकार भारत में अंग्रेजों का प्रभुत्व कायम करने तथा उसे भारतीय शिक्षा का सशक्त माध्यम बनाने का पूरा का पूरा श्रेय लार्ड मैकाले को ही मिलना चाहिए।

सन 1835 तक पश्चिमोत्तर प्रदेश बंगाल प्रेसीडेंसी का एक अंग रहा। किंतु सन 1836 में इस प्रदेश का एक स्वतंत्र इकाई के रूप में गठन हुआ। सन 1843 तक इस समूचे प्रान्त के अन्तर्गत सिर्फ तीन सरकारी कालेज (दिल्ली, आगरा और वाराणसी में) तथा 9 वर्नाक्यूलर स्कूल थे। इसी साल इस प्रदेश के गवर्नर जेम्स थामसन (सन 1843-1853) ने यहां शिक्षा-प्रसार की एक विस्तृत योजना बनाई, जिसके अनुसार हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं में पाठ्य विषयों की पढ़ाई की जाने लगी। किंतु ध्यान रहे कि यह व्यवस्था नीचे की कक्षाओं में ही लागू हुई थी, क्योंकि मैकाले की नीति के अनुसार ऊंची कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम अंग्रजी था।

सन 1854 ई० में 'चार्ल्सवुड' की प्रसिद्ध शिक्षा योजना लागू की गई, जिसके अनुसार हर एक प्रान्त के लिए अलग-अलग प्रांतीय शिक्षा विभाग, उनके डायरेक्टर तथा सहायक निरीक्षकों की नियुक्तियां हुईं, अनेक प्रारंभिक पाठशालायें स्थापित की गयी। इन पाठशालाओं में शिक्षा का माध्यम देशी भाषाओं को रखा गया। इस प्रकार शिक्षा क्षेत्र में देशी भाषाओं के प्रवेश से हिंदी का भी पर्याप्त लाभ हुआ। हिंदी में भी अनेक विषयों की छोटी-मोटी पुस्तकें तैयार कराई गयी। शिक्षा के क्षेत्र में ईसाई मिशनरियों द्वारा जो कार्य हुआ, उससे भी हिंदी के विकास में काफी सहायता मिली।

ईसाई मिशनरिया और हिंदी

ईसाई धर्म प्रचारको का भारत से काफी पुराना परिचय रहा है। ब्रिटिश व्यापारिक कपनियो के भारत आगमन के बहुत पहले से ही ईसाई धर्म प्रचारक इस देश मे मौजूद थे। किंतु इनके धर्म-प्रचार की गति उस समय काफी तेज हुई, जब ईस्ट इण्डिया कपनी के डाइरेक्टरो द्वारा ईसाई मिशनरियो को धर्म-प्रचार की पूर्ण छूट दे दी गई। अब क्या था, सारे देश मे मिशनरियो का जाल-सा बिछ गया। इनका मूल उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार तथा भारतीयो को इस धर्म मे दीक्षित करना था। किंतु इस कार्य की सफलता के लिए जनता का शिक्षित होना आवश्यक समझा गया। शिक्षा-कार्य प्रारभ करने वालो मे जीजेन बाल्ग तथा प्लूट जैसे पादरियो का नाम सर्वप्रथम आता है। इन दोनो पादरियो ने सन 1706 मे मद्रास को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। इनके स्कूलो मे सभी लोगो को नि शुल्क शिक्षा दी जाती थी। इन्होने देशी भाषाओ मे पुस्तको के प्रकाशनार्थ सन 1713 मे एक प्रेस की भी व्यवस्था की थी।

शिक्षा के क्षेत्र मे कपनी सरकार एव ईसाई मिशनरियो की भाषा नीति मे पर्याप्त अतर था। जहा कपनी सरकार ने एकाधिक समृद्ध भाषाओ के अतिरिक्त मुख्य रूप ■ अग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाया, वहा इन मिशनरियो ने जन भाषाओ के जरिए यहा की अशिक्षित जनता को शिक्षित करने का प्रयास किया। उदाहरणार्थ हिंदी प्रदेश मे कपनी सरकार शिक्षा के मामले मे अग्रेजी एव हिंदुस्तानी के रूप मे उर्दू के पक्ष मे थी, परतु मिशनरियो ने सर्वप्रचलित लोकभाषा हिंदी मे यहा की जनता को शिक्षा देने का प्रबध किया।[21] भाषा नीति मे इस पार्थक्य का स्वाभाविक और स्पष्ट कारण भी था और वह यह कि जहा कपनी सरकार अपनी कल बल छल सबधी कूटनीतियो के द्वारा इस देश मे अपना स्थायी शासन जमाना चाहती थी, वहा ईसाई-धर्म-प्रचारकों का मुख्य उद्देश्य यहा की सामान्य निरीह जनता को अपने धर्म का गलत-सही महत्व समझाकर उन्हे ईसाई धर्म मे दीक्षित करना था। एक का कार्य क्षेत्र प्रमुखता की दृष्टि से नगर था, जबकि दूसरे ने भारतीय गावो को अपना कार्यक्षेत्र चुना था। एक का विशेष सबध पढे-लिखे उच्च श्रेणी के नागरिको से था तो दूसरे का अपढ गरीब एव ग्रामीण जनता से।

ईसाई मिशनरियो के द्वारा देश के विभिन्न अचलो मे शिक्षा-प्रसार के लिए बहुत से स्कूल तथा कालेज खोले गए, जहा पर नि शुल्क शिक्षा के साथ भोजनादि की भी व्यवस्था रहती थी। आचार्य प० रामचद्र शुक्ल के शब्दो मे—'अनेक नगरो मे बालको की शिक्षा के लिए ईसाइयो के छोटे-मोटे स्कूल खुलने लगे और शिक्षा सबधिनी पुस्तकें भी निकलने लगी। इन पुस्तको की हिंदी भी वैसी ही सरल और विशुद्ध होती थी जैसी 'बाइबिल' के अनुवाद की थी।'[22] मिशनरी पाठशालाओ मे

साहित्य, इतिहास, धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि विभिन्न विषयो के साथ विविध भारतीय भाषाओ एव अग्रेजी आदि की शिक्षा इन भाषाओ के माध्यम से दी जाती थी। ईसाई पादरियो ने अनेक अनाथालय तथा विविध महिला-सस्थाए स्थापित कर स्त्री शिक्षा का भी प्रचार किया। चार्ल्स ग्राट, विलियम केरे, डा० डफ आदि पादरियो ने आधुनिक शिक्षा के लिए कई योजनाए चालू की। चार्ल्स ग्राट ने सन 1792 मे ही अग्रेजी ढग की शिक्षा के लिए विशेष प्रयास किया। आगे चलकर सन 1821 मे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'कलकत्ता यूनिटेरियन कमेटी' की स्थापना हुई। पाश्चात्य विचारक हेम्प्टन के शब्दो मे 'इस कमेटी का चरम लक्ष्य शिक्षा, तर्क तथा पुस्तको के प्रकाशन द्वारा जनता का अविश्वास दूर करना था।'[23]

जिस समय ईसाई मिशनरियो ने अपना धर्म-प्रचार प्रारभ किया, उस समय उनके पास भारतीय भाषाओ मे अनूदित ऐसा साहित्य न था, जिसके जरिए व धर्म-प्रचार करते। इसलिए सर्वप्रथम उनका ध्यान इस ओर गया। डा० विलियम केरे ने श्रीरामपुर मे बैप्टिस्ट मिशन की स्थापना की तथा भारत की विभिन्न भाषाओ और हिंदी की बोलियो म 'बाईबिल' का अनुवाद कराया।[24] सन 1805 म हेनरी मार्टिन भारत आए। इन्होने बाइबिल का अनुवाद हिंदी तथा उर्दू मे किया। अन्य धर्म प्रचारको मे विलियम बाडले, विलियम बैंटम, लैसली तथा स्नाइटर आदि के नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने विभिन्न धार्मिक ग्रथो का भारतीय भाषाओ, मुख्यत सार्वदेशिक सपर्क भाषा हिदी मे अनुवाद किया। बाडले द्वारा सन 1826 मे 'ओल्ड टेस्टामेंट' का धर्म पुस्तक नाम से किए गए अनुवाद की यह भाषा दखने योग्य है

'लोन अच्छा है परतु यदि लोन अपनी लोनाई खोवे तो तुम उसको किससे स्वादित करोगे, आपस लोन रखो और आपुस मे मिले रहो।'[25]

शिक्षा सबधी पुस्तको की माग की पूर्ति के लिये ईसाई मिशनरियो द्वारा 'कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी' (सन 1817), 'आगरा स्कूल बुक सोसाइटी' (सन 1833), तथा 'नार्दर्न ट्रैक्ट बुक सोसाइटी, इलाहाबाद' आदि की स्थापना की गयी। साथ ही कई कालेज, नार्मल स्कूल आदि की भी स्थापना हुई। इन सोसाइटियो तथा शिक्षण सस्थाओ मे अग्रेजी के साथ (हिंदी-शिक्षा) पर विशेष बल दिया जाता था। ईसाई धर्म प्रचारक हिंदी को ही जनसाधारण की भाषा मानते थे तथा उसके सरल रूप के पक्ष मे थे। इस सबध मे डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है

'शिक्षा क्षेत्र के संबध मे तो इतना कह देना ही काफी होगा कि लोक भाषाओं मे अंग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद प्रकाशित कराने और उनके माध्यम द्वारा देश के विभिन्न भागों मे शिक्षा का प्रचार कार्य श्रीरामपुर मिशनरियो, कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी और आगरा स्कूल बुक सोसायटी द्वारा हुआ। उन्होंने हिंदी मे (आधुनिक अर्थ मे) अनेकानेक उपयोगी साहित्य तथा ज्ञान विज्ञान की पुस्तकें प्रकाशित की और हिंदी को ही प्रधानता दी।[26]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ईसाई पादरियों ने अपने धार्मिक विचारों एव सिद्धातो को बोधगम्य तथा सरल बनाने के लिये सरल हिंदी व नागरी का आश्रय लिया।[27] पादरियों द्वारा किये गये शिक्षण कार्य से शिक्षा के क्षेत्र मे पर्याप्त प्रगति हुई। देशी भाषाओं का भी महत्व बढा। साथ ही खडी बोली हिंदी गद्य का यथेष्ट विकास हुआ। पाठ्य पुस्तको के अलावा ईसाई धर्म प्रचारको ने खडी बोली गद्य मे खडन-मडन, उपदेश तथा भजन सबधी अनेक छोटी मोटी पुस्तकें तथा पैम्पलेट आदि भी प्रकाशित किये। इनके द्वारा सन 1840 मे एक मासिक पत्र 'लोकमित्र' भी प्रकाशित किया गया। ईसाई मिशनरियो के इन कार्यों से भी खडी बोली हिंदी गद्य को विकसित होने का प्रशस्त मार्ग मिला।

इस प्रकार एक ओर तो खडी बोली हिंदी गतिशील थी, किंतु दूसरी ओर फोर्ट विलियम कालेज एव कपनी की भाषा नीति के फलस्वरूप उर्दू के द्वारा किय जाने वाले विरोध से इसकी प्रगति म शिथिलता आने लगी थी। यह विरोध मुख्य रूप से शिक्षा एव अदालत के क्षेत्र में मूर्तिमान हो उठा था, जिसने हिंदू और मुसलमानो के बीच साम्प्रदायिकता की अग्नि जला दी।

भाषा के क्षेत्र मे साम्प्रदायिकता

कपनी ने सन 1827 मे राजभाषा फारसी के साथ लोक भाषा हिंदी एव नागरी को कचहरी से हटाकर उर्दू को पनाह दिया। इससे हिंदुओं के हृदय म विक्षोभ होना स्वाभाविक था। सन 1857 की क्रांति के बाद अंग्रेजो ने अपनी नीति मे काफी परिवर्तन कर दिया। अब वे 'फूट डालो तथा राज करो' वाली नीति मे विश्वास करने लगे। इस दृष्टि से परीक्षा करने पर मुसलमानो को ही उन्होंने अपने पास पाया।[28] अत मुसलमानो के प्रति उनकी दृष्टि उदारवादी हो गयी। अंग्रेजों को सर सैयद खा जैसे जी हजूरी करने वाले जीव मिल गये, जिन्होंने मुसलमानो को समझाया कि 'मुसलमान इस देश के रहने वाले नहीं हैं। वे जहा जहा गए अपने साथ अपनी जबान और अपना इल्म अदब साथ ले गये। जबान उर्दू और खत फारसी मुसलमानो की निशानी है।'[29] खा साहब की इस अराष्ट्रीय नीति एव अंग्रेजो के प्रोत्साहन का परिणाम यह हुआ कि जन जीवन मे सुलगती

हुई साम्प्रदायिकता की अग्नि बड़े जोरों से भड़क उठी। इससे हिंदुओं एवं मुसलमानों के बीच जो गहरी खाई बनी, उसे भारत के सौ वर्षों का इतिहास भी न पाट सका।

अंग्रेजों द्वारा मुसलमानों को प्रोत्साहन देने की जो नीति अपनायी गयी, उसने जीवन के सभी पहलुओं को प्रभावित किया। भाषा का क्षेत्र भी उससे अछूता न रहा। अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता को उभारने के लिये उर्दू को विशेष प्रश्रय दिया। अरबी पाठशालाओं तथा उर्दू स्कूलों को विशेष सुविधा प्रदान की,[30] साथ ही हिंदी को हिंदी भाषी प्रदेश के जन जीवन से दूर कर भाषा के प्रश्न को पूर्णतः साम्प्रदायिक एवं राजनीतिक बना दिया। अंग्रेजों की इस खतरनाक नीति का पर्दाफाश करते हुए डा० राम विलास शर्मा ने लिखा है

'यह अनुमान किया जा सकता है कि सन सत्तावन के बाद अंग्रेजों ने हिंदी-उर्दू समस्या को जिस तरह उभारा, वह उनकी 'फूट डालो राज करो' नीति का अभिन्न अंग थी।'[31]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि अंग्रेजों द्वारा हिंदी और उर्दू का संबंध हिंदू और मुस्लिम इन दो संप्रदायों से जोड़ दिया गया और इस प्रकार साम्प्रदायिक स्तर पर हिंदी-उर्दू विवाद खड़ा हो गया, जिसकी जड़ें सुदूर भविष्य तक फैलती गयी।

ब्रिटिश शासन और हिंदी-उर्दू विरोध की समस्या

सन 1857 के बाद देश के अंतर्गत 'हिंदी उर्दू' विरोध की जिस समस्या ने एक आतंकपूर्ण खींचे हुए वातावरण की सृष्टि की, उसके मूल में अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' वाली नीति काम कर रही थी। दूसरी ओर विदेशी विद्वान तथा आफिसर अंग्रेजी भाषा व रोमन लिपि को न्यायालयों में भी प्रचलित करने के लिये हिंदी-उर्दू तथा नागरी व फारसी का विवाद उपयोगी समझते थे। जब कभी एकाध विदेशी विद्वानों के द्वारा हिंदी भाषा व नागरी लिपि की लोकप्रियता एवं महत्ता के कारण न्याय भाव से उनका समर्थन भी किया गया, तो तीव्र विरोधी स्वर ने उन्हें खामोश बना दिया।

भाषा और लिपि को लेकर सर्वप्रथम हिंदी व उर्दू तथा नागरी व फारसी को तो ताक पर रख दिया गया, और उठाया गया अंग्रेजी भाषा व रोमन लिपि का प्रश्न। इस विदेशी भाषा व लिपि के पक्षधरों में एक ओर मैकाले, ट्रेवेलियन, डा० डफ और बीम्स आदि थे, तो दूसरी ओर भारतीय भाषाओं के समर्थकों में जेम्स, विल्सन, ग्राउस आदि। इन द्विपक्षी विद्वानों का वाद-विवाद काफी दिनों तक चलता रहा, जिसका निष्कर्ष यह निकला कि भारतीयों को अपना सभी कार्य

अपनी भाषा व लिपि में करने की छूट होनी चाहिए, किंतु जहां तक कचहरी के 'हिंदुस्तानी' का प्रश्न है, जिसे हिंदू नागरी और मुसलमान फारसी लिपि में लिखते हैं, अवश्य रोमन लिपि में लिखा जाना चाहिए। स्पष्ट है कि अंग्रेजी भाषा का सवाल सिर्फ सवाल ही बनकर रह गया, अदालती क्षेत्र में उसका कोई जवाब नहीं निकल पाया। रोमन लिपि का इस क्षेत्र-विशेष के लिये उत्तर अवश्य निकाला गया, किंतु अंग्रेज यहां के निवासियों को उस प्रश्न का हल समझा न पाये। परिणामतः रोमन का भी व्यावहारिक रूप में प्रयोग न हो सका।

अब इन अंग्रेजी समर्थक विद्वानों ने कोई रास्ता न देखा। हिन्दी-उर्दू विवाद को पुनः आगे बढ़ाने के उद्देश्य से 'उर्दू' का दामन पकड़ा और उसे काफी उछाला। इन उर्दू समर्थकों ने हिंदी को बराबर हेय, गवारू कहकर कचहरी तथा राजकाज के लिये उर्दू को ही सर्वथा उपयुक्त बतलाया। दूसरी ओर हिंदी समर्थकों की आवाज भी सुनायी पड़ने लगी, जो न्यायोचित होने के कारण काफी सशक्त थी।

कहना यह है कि हिंदी-उर्दू को भी लेकर विद्वानों में दो दल हो गये। एक तरफ हिंदी के समर्थकों में ग्राउस साहब प्रमुख थे, तो दूसरी ओर उर्दू के पक्षपातियों का नेतृत्व बीम्स साहब के हाथ में था। इन दोनों विद्वानों के मध्य हुए हिंदी उर्दू विवाद का पूरा विवरण सन 1865 से सन 1868 तक 'जनरल रायल एशियाटिक सोसायटी' में प्रकाशित होता रहा। बीम्स साहब अंग्रेजी के समान उर्दू को एक सभ्य तथा प्रगतिशील जीवित भाषा मानते थे, साथ ही उसे तातार तथा अन्य कबीलों की महान तथा विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई भाषा की सबसे प्रगतिशील एवं शिष्ट शैली समझते थे।[3] जबकि हिंदी उनकी दृष्टि में गवारू तथा अनिश्चित दस बारह ठेठ बोलियों का समूह मात्र थी। दूसरी ओर ग्राउस साहब के अनुसार उर्दू का पचास-साठ साल पहले अस्तित्व ही न था, जबकि हिंदी जनभाषा के रूप में सदियों से चली आ रही थी।[33] इस प्रकार यह विवाद प्रत्येक क्षेत्र में दिनोदिन बढ़ता ही गया। यहां तक कि बीसवीं शताब्दी में भी इसकी आवाज मंद न हुई।

प्रादेशिक अदालत और नागरी का आंदोलन

सन 1837 में कंपनी सरकार द्वारा उत्तर प्रदेश, बिहार एवं मध्य प्रदेश की अदालतों में उर्दू भाषा व फारसी लिपि को स्थान प्रदान करने से हिन्दी भाषा व नागरी लिपि का तत्कालीन प्राप्त होने वाला एकाधिकार तो छीन लिया ही गया, साथ ही मुस्लिम शासन से चला आता हुआ उनका सहभाषा व सहलिपि का अस्तित्व भी समाप्त हो गया। इस प्रकार हिंदी व नागरी पूर्ण रूप से अदालती क्षेत्रों से बहिष्कृत हो गयी। कंपनी शासन के मध्य यह एक ऐसी घटना थी, जिससे हिंदी व नागरी प्रेमियों का हृदय आंदोलित हो उठा। सन 1857 के बाद

साम्राज्ञी विक्टोरिया के शासन में तो इस क्षेत्र में और भी अधिक पक्षपातपूर्ण नीति का सहारा लिया गया। शिक्षा संस्थाओं से भी हिंदी व नागरी को निकाल फेंकने की साजिशें चलने लगीं और व्यवहार में भी उनका रूप दिगामी पहले गया। ग्राउस[31] जैसे एकाधिक विद्वानों द्वारा व्यापक रूप से नागरी व हिंदी की वैज्ञानिकता एवं महत्व का प्रतिपादन करने के बावजूद सरकार ने अपनी पक्षपातपूर्ण नीति के कारण इस ओर बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया। उसका मुसलमानों के साथ-साथ उर्दू को महत्व देना दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया। परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण हिंदी प्रदेश में मुख्यतः हिंदुओं के द्वारा 'नागरी का आंदोलन' प्रारंभ हो गया, जो इन परिस्थितियों में स्वाभाविक भी था।

इस आंदोलन की भूमिका राजा शिव प्रसाद के प्रयत्नों से पूरी हुई। यद्यपि राजा साहब की भाषा नीति समय के साथ बदलती गई, बाद में वे उर्दू के समर्थक सिद्ध हुए, फिर भी आरंभ में हिंदी भाषा व नागरी लिपि के लिए उन्होंने जो प्रयत्न किया वह हिंदी साहित्य के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा। इस दृष्टि से राजा शिव प्रसाद को 'नागरी-आंदोलन' का सूत्रपातकर्ता मानना अनुचित न होगा।

जिस समय कीन्स और सर सैयद अहमद खां उर्दू भाषा व फारसी लिपि की वकालत कर एक जमाव करने लगे थे, उसी समय राजा शिवप्रसाद हिंदी भाषा व नागरी लिपि के पक्ष में बड़ी दृढ़ता के साथ खड़े हुए। उर्दू भाषा व फारसी लिपि के विरोध में सन 1868 का उनका मेमोरेंडम इस दिशा में उनके प्रयास का प्रथम महत्वपूर्ण चरण था। इस मेमोरेंडम में राजा साहब ने स्पष्ट कहा था कि फारसी के अध्ययन से हमारी भावनाएँ दूषित एवं राष्ट्रीयता नष्ट हो जाती है। उस दिन का बुरा हो जिस दिन मुसलमानों ने हिंद पर वार किया। हमारे अंदर सारी बुराइयाँ इन्हीं लोगों के कारण आयी हैं। [illegible] फारसी शौक है जो इनके कारण इस देश में प्रचलित हो गयी।[33] राजा साहब ने 'इतिहास तिमिरनाशक'[34] में सरकार का ध्यान हिंदी भाषा व नागरी लिपि की ओर आकृष्ट किया। इस पर सर सैयद अहमद खां ध्यान के बाहर हो गये। सैयद साहब ने कहा कि यह एक ऐसी तस्वीर है जिससे हिंदू-मुसलमानों में किसी तरह इत्तफाक नहीं हो सकता।[35] किंतु राजा साहब के ऊपर इस प्रकार धमकियों का कोई असर नहीं पड़ा। वे अपने पथ पर बढ़ते रहे। उन्होंने नागरी लिपि व हिंदी भाषा की खूबियों पर प्रकाश डाला, साथ ही उर्दू भाषा व फारसी लिपि की अवैज्ञानिकता का वर्णन कर[36] सरकार की इस नीति की कड़ी आलोचना की, जिसके द्वारा इस विदेशी लिपि व उर्दू भाषा को हिंदुओं के ऊपर जबर्दस्ती लादा जा रहा था।[37] अंत में राजा साहब ने सरकार से कहा था कि जिस प्रकार अब फारसी भाषा हटायी गयी, उसी प्रकार फारसी लिपि का भी हटाया जाय और उसके स्थान पर हिंदी भाषा व नागरी

लिपि चलायी जाय। किंतु राजा साहब के इस मेमोरडम का सरकार के ऊपर कोई भी प्रभाव पड़ता न देखा गया।

किन्तु मुसलमानो के लगातार विरोध एव सरकार की हठधर्मी नीति के साथ उसके विशेष राजनीतिक दवाव के फलस्वरूप राजा शिव प्रसाद की भाषा नीति समय के साथ दिन प्रतिदिन बदलती गयी।[40] उन्होंने भाषा का आदर्श निश्चित करते हुए लिखा 'हम लोगो को जहा तक बन पड़े चुनने मे उन शब्दो को लेना चाहिए जो कि आमफ्हम और खास पसन्द हो। अर्थात् जिनको जियादा आदमी समझ सकते है। और जो यहा के पढे लिखे आलिम फाजिल पडित, विद्वान् की बोलचाल म छाडे नही गए हैं और जहा तक बन पड़े हम लोगो को हरगिज गैर-मुल्क के शब्द काम म न लाने चाहिए और न सस्कृत की टकसाल कायम करके नये नये ऊपरी शब्दो के सिक्के जारी करने चाहिए जब तक कि हम लोगो को उसको जारी करने की जरूरत साबित न हो जाय।'[41]

'हम उस अवस्था का ध्यान करते हैं जब गाव गाव मे पाठशाला बैठ जावेंगे और हमारे सारे स्वदेशी अपनी बोली मे सुगम रीति स समस्त विद्या उपार्जन कर भारतवर्ष की उन्नति मे होंगे। राजा साहब के इस सन 1855 के कथन के उत्साह एव ऊपर के 'भाषा आदर्श' की आवाज म कितना फर्क पड गया है यह कहने की आवश्यकता नही। बात इसी सीमा तक रहती तो भी गनीमत थी। सन 1875 म हिन्दी व्याकरण की भूमिका मे हिन्दुस्तानी नाम पर उर्दू का समर्थन उन्होने इन शब्दो मे किया हिन्दुस्तानी हमारे अग्रज अधिकारियो की रुचि के अनुकूल होगी, जो उत्तर भारत के हिन्दू मुसलमानो की भाषा मे योग्यता प्राप्त करना चाहते हैं।'[42]

इतना ही नही, सन् 1883 मे उन्होने 'इतिहास तिमिर नाशक' की भूमिका लिखते हुए कहा 'उर्दू हम लोगो की न केवल कचहरी जबान बल्कि मादरी जबान होती जा रही है और पश्चिमोत्तर प्रदेश म थोडा बहुत उसे सभी लोग बालते हैं।[43] इस प्रकार राजा साहब ने उर्दू को मातृभाषा तक कहने मे जरा सा भी सकोच नही किया। सच है लोकेषण जो चाहे सो करा दे।

हिन्दी भाषा व नागरी लिपि के परम हितैषी राजा शिव प्रसाद को इस कदर बदलते हुए देखकर उनकी इस भाषा नीति एव अरबी फारसी के शब्दो से हिन्दी को बोझिल करने वाली प्रवृत्ति का राजा लक्ष्मण सिंह ने खुलेआम जबरदस्त विरोध किया। उन्होंने अरबी फारसी स युक्त शैली को हिन्दी मानने से साफ इनकार किया। उनकी दृष्टि में हिन्दी व उर्दू दो अलग अलग भाषाए थी, हिन्दी उर्दू मे अन्तर न मानना एव सरल सुबोध नागरी जैसी वैज्ञानिक लिपि का त्याग कर फारसी का सहारा लेना महान् मूर्खता एव चापलूसी का द्योतक था।

उर्दू भाषा व लिपि के प्रचलन से अदालतो मे निरीह जनता को मूर्ख बनाकर

उनसे पैसा ऐंठने का दृश्य तो रोजाना देखने को मिलता ही था, साथ ही पाठशालाओं में विद्यार्थियों की परेशानियों की भी कोई सीमा न थी। कठोर श्रम करने के बाद भी छात्रों का शैक्षणिक स्तर नित्य प्रति गिरता ही जा रहा था। हिन्दुओं में ही नहीं, फारसी लिपि के कारण मुसलमानों में भी शिक्षा का प्रतिशत बहुत घट गया।[41]

शिक्षा और सामाजिक उन्नति की इस बाधा को दूर करने के लिए सभी विचारशील व्यक्ति चिन्तित थे। फलस्वरूप हिन्दी भाषा व नागरी लिपि के लिए राजा शिव प्रसाद ने अपने प्रारम्भिक प्रयासों द्वारा जिस भूमिका का निर्माण किया था उसी की पृष्ठभूमि पर 'नागरी-आन्दोलन' गतिशील हुआ। नागरी के पक्ष एवं उर्दू के विपक्ष में तमाम अर्जियां दी गयीं। प्रचारात्मक साहित्य रचा गया और सोई हुई जनता में चेतना का संचार किया गया।

इस मैदान में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पदार्पण से तो सारा वातावरण ही बदल गया, चेतना की एक नई लहर दौड़ पड़ी। मालूम हुआ कि सारा का सारा हिन्दी प्रदेश नागरी के लिए उमड़ पड़ा है। जहां देखिये, जहां सुनिये सर्वत्र उर्दू विरोधी दृश्यों एवं नारों के साथ नागरी की ही धूम मची हुई थी। भारतेन्दु जी के नेतृत्व में लेखकों एवं पत्रकारों का एक बड़ा दल इस कार्य के लिए चल पड़ा। जून सन् 1874 के 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में भारतेन्दु जी का प्रसिद्ध 'उर्दू का स्यापा' निकला, जिसमें उर्दू व उर्दू के समर्थकों पर तीखा व्यंग किया गया है।[45] सर सैयद अहमद खां साम्प्रदायिक भावनाओं का परिचय पहले ही दे चुके थे, साथ ही हिन्दी का न्यायोचित स्थान अन्यायपूर्ण तरीके से उर्दू ने हड़प लिया था, इसलिए उस समय हिन्दुओं की राष्ट्रीय भावना जातीय भावना के धरातल पर उतर पड़ी थी। हिन्दुत्व के साथ हिन्दी भाषा व नागरी लिपि के सम्मान की भावना बढ़ रही थी। पं० प्रताप नारायण मिश्र ने तो 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' का नारा ही लगाना शुरू किया।[46] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विविध पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन सम्पादन होने लगा।[47] हिन्दी-उर्दू विवाद एवं नागरी आन्दोलन पर विविध मौलिक निबन्ध निकलने प्रारम्भ हुए अथवा अंग्रेजी पत्रों से उद्धृत किए गए।

बंगाल के तत्कालीन गवर्नर कैम्पबेल साहब ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में हिन्दी को भी स्थान देने का प्रयत्न किया था, परन्तु अधिकारियों के द्वारा उर्दू के कारण इसका विरोध किया गया। इसी विरोध के प्रत्युत्तर में सन् 1874 में बंगाल मैगजीन से 'कामन हिन्दुस्तानी' नामक निबंध 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के प्रथम अंक में उद्धृत किया गया। इस निबन्ध में कहा गया था कि यह विरोध हमारे राष्ट्रीय जीवन की हत्या है। जब हिन्दी द्वारा रायपुर और बिलासपुर में सरकारी कामकाज हो सकता है तो किस आधार पर यहां के सरकारी कर्मचारी और कचहरी के अमले कहते हैं कि हिन्दी सरकारी कामकाज के उपयुक्त

नही है। इस लेख मे राजा शिवप्रसाद पर भी तीखे व्यग का प्रहार किया गया था और वह यह कि स्वदेशी इन्स्पेक्टर भी उर्दू मे पुस्तकें लिखकर उन्हें पाठशालाओं मे प्रचलित करते हैं और इस प्रकार हिन्दी की हत्या करते हैं। लेख के अन्त मे हिन्दी को राजभाषा का पद देने के लिए गवर्नर कैम्पबेल और लार्ड नार्थब्रुक से साग्रह निवेदन किया गया था।

'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के इसी अक मे काशीनाथ खत्री ने नागरी लिपि के लिए अग्रेजी मे एक निबन्ध लिखा था, जो अलीगढ गजट में प्रकाशित नागरी के विरुद्ध एक निबध का मुहतोड जवाब था। इस सम्बन्ध मे खत्री जी ने कहा था कि किसी भी भाषा ने विदेशियो की लिपि के लिए कभी भी अपनी लिपि नही छोडी। जिस तरह हिन्दी को आज फारसी लिपि मे लिखने की माग हो रही है, उसी तरह आज से कुछ वर्ष बाद रोमन मे भी लिखने की माग होगी। लिपि के विषय मे खत्री जी की यह भविष्यवाणी अक्षरश सत्य भी निकली, जिसका आज तक की बीसवी शती गवाह है। लेख के अन्त मे नागरी लिपि का प्रयोग करने से सर्वाधिक लोगो का सर्वोत्तम लाभ होगा, इस बात की पुष्टि की गई थी।

इसी समय बलिया की सभा मे भारतेन्दु जी ने 'हिन्दी भाषा' पर एक सशक्त भाषण दिया था। वही पर 'देवाक्षर चरित्र' नामक एक प्रहसन भी अभिनीत किया गया, जिसमे उर्दू लिपि की गडबडी के दृश्य दिखाए गए थे, साथ ही बलिया के कलक्टर रोज साहब से वहा की जनता ने नागरी लिपि के चलन के लिए इन शब्दो मे अर्ज किया था

हमनी के देश के कुदसा दुख देखि देखि,
हमनी का देसे देव नागरी चलावता।

'उर्दू बदलि देव नागरी अछर चले, इहै एगो साहेब से ए धरी अरज बा।'[48]

भारतीय इतिहास की यह वह घडी थी जिसमे हिन्दी व नागरी प्रचार तथा गौरक्षा जैसे विषयो पर तमाम प्रकार के साहित्य लिखे गए, जातीय गीत रचे गए। इस सम्बन्ध मे बलिया के प्रसिद्ध लावनीकार मन्नीलाल की निम्नलिखित पक्तिया द्रष्टव्य हैं:

'अब जगहु बीरबर भारतवासी कोऊ।
करती विलाप गौ और नागरी दोऊ।'[49]

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी आगे चलकर आश्वासनपूर्ण वाणी मे यो कहा.

'कल्याणि नागरी इती बिनती सुनीजै,
माता दयावति, दया न कभी करीजै।
हूजै अधीर जानि, यद्यपि होति देरी,
सेवा अवश्य करिहैं, अब सर्व तेरी।'[50]

सन् 1882 ई० में 'हण्टर कमीशन' के सामने हजारों हस्ताक्षरों से युक्त एक पत्र पेश किया गया, जिसमें नागरी में कामकाज करने के लिए जोरदार माग की गई थी। किन्तु सैयद साहब,[51] जो कमीशन के प्रभावशाली सदस्यों में से थे, के कारण जनता की यह वाजिब माग ठुकरा दी गई। इससे भी आक्रोश से भरी हुई जनता के द्वारा 'नागरी-आन्दोलन' को विशेष बल मिला। 'हण्टर-रिपोर्ट' को लक्ष्य करके प्रसिद्ध लावनीकार शिवराम पाण्डेय इलाहाबादी ने हिन्दी व नागरी प्रचार-विषयक विविध लावनियां एव गजलें लिखी। यहा पर इनकी एक लावनी की कुछ पक्तिया उद्धृत की जा रही हैं

'हटर ने जो हिन्दी को हटर मारा।
बस टूट गया दिल टुकडे हुआ हमारा।
× × ×
हिन्दी को नही क्या कोई देगा सहारा। बस टूट गया।'[52]

सन् 1885 ई० मे राम गरीब चौबे द्वारा 'नागरी बिलाप' नामक करुण रस प्रधान रूपक लिखा गया, जिसमे नागरी की दुर्दशा का अपूर्व चित्र खीचा गया था। लेखक ने इसकी भूमिका मे लिखा 'अब विलाप सुनियेगा तो स्वय आपको बल हो जाय गा।' वास्तव मे 'नागरी विलाप' कुछ ऐसा बिलाप रहा, जिसका जनता पर बडा ही गहरा असर हुआ, नागरी के लिए हजारो की सख्या म लोग निकल पडे।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास म नागरी के प्रति मेरठ निवासी गौरीदत्त द्वारा की गई सेवाए चिरस्मरणीय रहेगी। गौरीदत्त जी ने नागरी का झडा लेकर गाव-गाव, घर घर उसका प्रचार किया, साथ ही सर्वस्व समर्पण व अथक प्रयास के द्वारा नागरी प्रचारिणी सभा मेरठ' की स्थापना की। इस सभा के माध्यम से उन्होंने नागरी लिपि म उसकी अच्छाइयो पर प्रकाश डालने वाली विविध पुस्तिकाओं एव पैम्फलैटो आदि का प्रकाशन कराया। उनके द्वारा रचित 'नागरी और उर्दू का स्वाग', 'नागरी का दफ्तर', 'अक्षर दीपिका', 'गौरी नागरी कोष', आदि पुस्तकें अति प्रसिद्ध हैं। 'स्वाग' की तो देश की जनता द्वारा बडी प्रशसा हुई, जिसमें महारानी नागरी ने उर्दू के विरुद्ध दावा दाखिल कर अपना न्यायोचित अधिकार मागा है।

भारतेन्दु जी की मृत्यु के बाद 'नागरी आन्दोलन' का नेतृत्व प० मदनमोहन मालवीय ने बडी सफलता के साथ सभाला। इसी समय नागरी प्रचार एव हिन्दी की समृद्धि के लिए 'नागरी प्रचारिणी सभा, काशी' (सन् 1893) की स्थापना हुई। सर्वप्रथम सभा ने नागरी का अदालतो मे प्रवेश कराना ही अपना मुख्य लक्ष्य निश्चित किया। मार्च, सन् 1898 ई० म मालवीय जी के नेतृत्व मे सभा की ओर

से 17 व्यक्तियों का एक प्रभावशाली प्रतिनिधि मण्डल प्रान्त के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर एण्टोनी मेक्डानेल के काशी आगमन पर उनसे मिला, साथ ही नागरी के समर्थन में साठ हजार हस्ताक्षरों से युक्त एक याचिका भी उसने प्रस्तुत की। मालवीय जी ने स्वतन्त्र रूप से एक विद्वत्तापूर्ण पुस्तक इसके पहले ही (सन् 1897 में) 'कोर्ट करेक्टर एण्ड प्राइमरी एजूकेशन'[13] नाम से लिखी थी। सरकार पर इसका भी नैतिक दृष्टि से बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इन तमाम प्रयत्नों के फल-स्वरूप, एक लम्बे वर्षों के संघर्ष के बाद सन् 1900 में सर मेक्डानेल के द्वारा नागरी को भी फारसी लिपि के साथ कचहरी व दफ्तरों में समानाधिकार प्रदान किया गया। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से नागरी का प्रयोग बहुत दिनों तक नहीं हुआ।

इस समानाधिकार से हिंदी व नागरी प्रेमियों के हृदय में कोई विशेष हर्ष दिखाई न पड़ा। किंतु बाद में जब उर्दू के पक्षपातियों द्वारा सरकार की इस आंशिक छूट का भी खुले आम विरोध होने लगा, नाना प्रकार की साजिशें की जाने लगी, तो वे सरकार के इस समानाधिकार संबंधी नीति के समर्थन में लग गये और उन्हें इतने ही से संतोष करना पड़ा। इस संबंध में 17 मई सन 1900 में 'अवधपंच' में प्रकाशित 'उर्दू की अपील' का श्री बालमुकुन्द गुप्त 'उर्दू को उत्तर' शीर्षक से बड़ा तीखा उत्तर दिया। उन्होंने उर्दू की चुटकी लेते हुए कहा

'यह सरकार ने जो दी है नागरी—
इसे तुम न समझो तिरी घाघरी।
तुम्हारी यह हरगिज नहीं सौत है।
न हक में तुम्हारे कभी मौत है।
समझ लो अदब की यह पोशाक है।
हया और इज्जत की यह नाक है।'[14]

बिहार की अदालतों में हिंदी का प्रवेश

ब्रिटिश सरकार की गलत नीति के कारण बिहार प्रांत में भी अरबी फारसी के जटिल शब्दों से परिपूर्ण उर्दू भाषा व शैली का प्रचलन वहां की शिक्षण संस्थाओं एवं अदालतों में अपनी चरम सीमा को छूने लगा। फलस्वरूप उर्दू से अपना पिंड छुड़ाने के लिए वहां की जनता ने सरल सुबोध नागरी लिपि में लिखित हिंदी की जोरदार मांग करनी शुरू की। इसके लिए सार्वजनिक सभाएं की गयी, सरकार को अनेक प्रपत्र दिए गए। सन 1870 के आसपास इस मांग ने एक व्यापक आंदोलन का रूप धारण कर लिया।

बिहार की अदालतों एवं शिक्षण संस्थाओं में हिंदी भाषा व लिपि को प्रवेश

दिलाने वालो मे बाबू गोविंद चरण तथा भूदेव मुखर्जी का नाम सादर लिया जाता है।[55] इन विद्वानो के प्रयत्नस्वरूप सन् 1870 मे बिहार के स्कूलो मे हिंदी को प्रवेश मिला, जिससे अदालतो मे भी उसे उचित स्थान दिलाने के लिए सशक्त आदोलन का मार्ग प्रशस्त हुआ। दिनोदिन यह आदोलन जोर पकडता गया। फलस्वरूप बगाल के लैफ्टिनेंण्ट गवर्नर (उन दिनो बिहार बगाल प्रेजीडेंसी के अतर्गत था) कैम्पबेल ने 4 दिसम्बर 1871 की एक घोषणा मे कहा कि प्रान्त की भाषा हिंदी है, उसे ही प्रात मे उचित स्थान मिलना चाहिए।[56]

कैम्पबेल साहब ने बेलारी के कलक्टर की हैसियत से सन् 1824 मे ही शिक्षा प्रचार का कार्य किया था और तत्कालीन गवर्नर थामस मुनरो को एक रिपोर्ट मे लिखा था कि शिक्षा और साहित्य की भाषा यहा की बोलचाल की भाषा से भिन्न है। यह शिक्षा प्रचार के लिए अभिशाप है।[57] आज भी (सन 1871-72) वे जन सामान्य मे शिक्षा प्रचार का प्रयत्न करते हुए यह अनुभव कर रहे थे कि जब तक इस मुल्क की भाषा हिंदी का प्रचलन अदालतो एव दफ्तरो मे नहीं होता है, तब तक शिक्षा प्रचार सभव नही। भाषा के अतिरिक्त फारसी लिपि के अनर्थकारी स्वरूप का दर्शन भी आये दिन करना पडता था। कहा जाता है कि एक बार कैम्पबेल साहब को फारसी लिपि की गडबडी के कारण मोकामा घाट पर किश्तियो की जगह कस्विनिया तैयार मिली। अत तत्क्षण इस अव्यावहारिक लिपि को हटाने का आदेश दिया गया।

उर्दू की अव्यावहारिकता एव हिंदी व नागरी-आदोलन का फल यह हुआ कि सन् 1873 मे बगाल की प्रेजीडेंसी सरकार ने एक आदेश जारी किया, जिसके अनुसार दो साल के अदर सभी अदालती कर्मचारियो को नागरी लिपि सीखने की आज्ञा दी गई ताकि सन् 1875 से पटना, भागलपुर, छोटा नागपुर आदि की सभी अदालतो एव सरकारी दफ्तरो का सभी कामकाज हिंदी मे किया जा सके। किंतु अदालत के मुसलमान एव कायस्थ कर्मचारियो के विरोध के कारण इसका कुछ भी नतीजा न निकला।

सन् 1875 मे पटना, भागलपुर आदि के नागरिको ने एक याचिका के जरिये पटना के कमिश्नर से अदालतो मे हिंदी प्रयोग के लिए अनुरोध किया। कमिश्नर साहब भी हिंदी के पक्ष मे थे। उन्होंने इस याचिका को अपनी ठोस सिफारिश के साथ प्रेसीडेंसी सरकार के पास भेज दिया। तदनुसार जुलाई सन् 1875 मे सरकार ने एक आदेश पुन जारी किया, जिसमे कहा गया था कि सन् 1873 के भाषा सबधी आदेशो का सख्ती के साथ पालन किया जाये। इसका भी कोई सही नतीजा न निकला। अत मे सन् 1880 मे सरकार द्वारा एक कडी आज्ञा मिली, जिसमे स्पष्ट रूप से कहा गया कि 1 जनवरी 1881 से प्रात की अदालती भाषा एकमात्र नागरी लिपि मे लिखित हिंदी होगी।[58] यदि सरकारी कर्मचारी जनवरी सन् 1881

तक हिंदी नहीं सीखते हैं तो उन्हें नौकरी से अलग कर दिया जायगा। इस प्रकार निरंतर प्रयास एवं कठोर परिश्रम के बाद कहीं जाकर पहली जनवरी सन 1881 में बिहार की अदालतों में हिंदी का प्रवेश हुआ। इसी प्रकार आंदोलन एवं जनता के अथक प्रयास के फलस्वरूप मध्यप्रदेश की अदालतों में भी इसी समय (सन् 1881) नागरी में लिखित हिंदी को स्थान मिला। किंतु संयुक्त प्रांत की अदालतों की स्थिति इनसे भिन्न रही।

संयुक्त प्रांत की अदालतें और हिंदी

जिस प्रकार बिहार तथा मध्य प्रांत की अदालतों में हिंदी के लिए तमाम आंदोलन व संघर्ष करना पड़ा, उसी प्रकार संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश, दिल्ली, व कुछ मध्य प्रदेश का भाग) में भी इसके लिए एक व्यापक आंदोलन चला। सन् 1854 तक अदालतों में उर्दू का एकछत्र राज्य था। किंतु सन् 1854-56 में सरकार ने प्रांत के जिला अधिकारियों को यह आदेश दिया कि ग्रामों के राजस्व विभाग के सभी कागजात नागरी में लिखित हिंदी में होने चाहिए। इस प्रकार हिंदी को भी प्रांत की राजस्व विभाग की अदालतों में स्थान प्राप्त हुआ। परंतु इस थोड़े से अधिकार की प्राप्ति से हिंदी प्रेमी जनता को कोई खुशी न हुई, उनकी हृदय कली मुरझाई की मुरझाई ही रह गई।

संयुक्त प्रांत की अदालतों में हिंदी के प्रवेशार्थ आंदोलन होता रहा, जो 1874 तक आते-आते एक व्यापक पैमाने पर आ गया। इन्हीं दिनों इस आंदोलन का संचालन बाबू भारतेन्दु के हाथों में आया। भारतेन्दु जी के नेतृत्व में इस आंदोलन को सब तरह से बल मिला। सन् 1873-74 की प्रांतीय शिक्षा की वार्षिक रिपोर्ट में यह तथ्य सामने रखा गया कि प्रांत के 71 प्रतिशत विद्यार्थी हिंदी माध्यम से पढ़ने के इच्छुक हैं। इससे हिंदी के प्रति उदासीन, अभी सोई हुई जनता सजग हो उठी। फिर भी सरकार के ऊपर इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा। उसने उक्त रिपोर्ट की अवहेलना करते हुए सन् 1877 में एक आदेश निकाला। इस आदेश में कहा गया था कि सरकारी नौकरियां सिर्फ उन्हीं को उपलब्ध होंगी जो उर्दू अथवा फारसी भाषा के साथ वर्नाक्युलर अथवा एंग्लो वर्नाक्युलर मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण होंगे। इससे हिंदी के समर्थकों को एक बड़ा आघात लगा।

सन् 1880 तक आते आते हिंदी आंदोलन को प्रांत के सभी लब्ध प्रतिष्ठित व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त हो गया। इस आंदोलन को सम्प्रदायवादी करार देने की बड़ी साजिशें की गई। किंतु तत्कालीन कुछ मुस्लिम विद्वानों, जिनमें हैदराबाद के शम्सुल उलमा मौलवी व सैयद अली बिलग्रामी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है द्वारा हिंदी आंदोलन के समर्थन के कारण विपक्षियों की दाल न गल सकी। प्रत्युत हिंदी-समर्थकों का उत्साह दूना होता गया। सन् 1881 में बिहार

एवं मध्यप्रदेश की अदालतों में हिंदी के प्रवेश से तो यह उत्साह कई गुना और आगे बढ़ गया। बाबू भारतेन्दु जी ने सन् 1882 के शिक्षा आयोग की एक प्रश्नावली के उत्तर में बड़े ही प्रभावशाली ढंग से कहा -

'सभी सभ्यदेशों की अदालतों में उनके नागरिकों की बोली और लिपि का प्रयोग किया जाता है। यही ऐसा देश है, जहां अदालती भाषा न तो शासकों की मातृभाषा है और न प्रजा की। यदि आप दो सार्वजनिक नोटिस एक उर्दू में तथा एक हिंदी में लिखकर भेज दें तो आपको आसानी से मालूम हो जायेगा कि प्रत्येक नोटिस को समझने वाले लोगों का अनुपात क्या है जो सम्मन जिलाधीशों द्वारा जारी किये जाते हैं, उनमें हिंदी का प्रयोग होने में रैयत और जमींदार को हार्दिक प्रसन्नता प्राप्त हुई है। यदि नागरी लिपि को सरकारी मान्यता मिल जाये तो पेशकार, सरिश्तेदार, मुहर्रिर आदि उस अवसर से पूर्णतया वंचित हो जायेंगे, जिसके द्वारा वे लूट खसोट करते हैं। वे अनभिज्ञ व्यक्तियों को कुछ का कुछ पढ़कर सुना देते हैं और इस युक्ति से लिखित बात का तथ्य बदल देते हैं।'[58]

फिर भी इन प्रयासों, प्रयत्नों एवं दिन-प्रतिदिन नागरी के लिए दिये गये प्रपत्रों आदि का कुछ भी प्रभाव न देखा गया। अदालती क्षेत्र में सरकार की हठधर्मी की नीति अपरिवर्तित रही। इससे जनता का मानस और भी अधिक आक्रोश से पूर्ण एवं आंदोलित हो उठा, जिसका व्यावहारिक स्वरूप उग्र आंदोलन के रूप में 1890 के आस पास प्रकट होने लगा। इधर सरकार ने एक नई चाल चलनी प्रारंभ की, वह यह कि सन् 1893 में उसने भारतीय भाषाओं के लिए रोमन लिपि को अपनाने का प्रश्न बीच में लाकर खड़ा कर दिया। प्रथम दो-तीन वर्ष तक इस प्रस्ताव की चर्चा मात्र ही रही। परन्तु 1896 में यह बात बड़ी दृढ़ता के साथ फैली कि संयुक्त प्रांत में फारसी लिपि के स्थान पर रोमन लिपि अपनायी जायेगी। इससे उर्दू के पक्षपातियों को भी गहरा धक्का लगा। महान भय की आशंका हिंदी-प्रेमियों के अंतःकरण को विचलित करने लगी।

'नागरी प्रचारिणी सभा, काशी' ने रोमन लिपि के विरोध की एक व्यापक योजना बनायी। इस योजना के अंतर्गत सर्वप्रथम 'नागरी करेक्टर' नामक एक पुस्तिका अंग्रेजी में तैयार की गई, जिसमें भारतीय भाषाओं के लिए रोमन की अनुपयुक्तता पर प्रकाश डाला गया। देश की सक्रिय जनता ने जमकर रोमन लिपि का विरोध किया। इससे ब्रिटिश सरकार को भारतीयों की रोमन विरोधी भावना का पूर्ण आभास मिला। अततोगत्वा रोमन लिपि का मामला खटाई में पड़ गया। सरकार की रोमन लिपि संबंधी कूटनीति सफल न हो सकी। इस समय तक हिंदी आंदोलन का नेतृत्व पं० मदनमोहन मालवीय के हाथों में आ चुका था। मार्च सन् 1898 में मालवीय जी के नेतृत्व में 'नागरी प्रचारिणी सभा' की ओर से 17

व्यक्तियों का एक प्रतिनिधि मंडल प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर मैकडानेल से मिला तथा उन्हें नागरी समर्थकों के साठ हजार हस्ताक्षरों से युक्त एक याचिका भी दी। गवर्नर ने उस याचिका की पूरी जांच तथा उस पर विचार करने का आश्वासन दिया, साथ ही यह भी कहा कि यद्यपि वे अदालतों की भाषा के शीघ्र परिवर्तन के पक्ष में नहीं है, फिर भी वे यह मानते हैं कि यदि नागरी लिपि के प्रयोग की छूट दे दी जाय तो इससे जनता का विशेष कल्याण होगा।[60]

उर्दू के पक्षधरों ने भी सार्वजनिक सभाओं आदि के माध्यम से उर्दू का पक्ष बड़ी सबलता से पकड़ा तथा सरकार के पास एकाधिक प्रतिनिधि मंडल भी भेजे। सरकार भी राजनीतिक दृष्टि से हिंदी उर्दू के प्रश्न को विवादास्पद बनाना ही उपयुक्त समझती थी। इस अवसर को यों ही गवा देना उसके लिए नामुमकिन था। उसने सर सैयद अहमद खां जैसे हिंदी विरोधी मुस्लिम नेताओं को और अधिक भड़काया, जिससे हिंदी-उर्दू का विवाद उग्र हो चला। अब सरकार समझौता कराने चली। गनीमत तो यह हुई कि दो बिल्लियों के झगड़े के बीच में बंदर वाली नीति भला न अपनाई गई और 18 अप्रैल सन् 1900 में उर्दू की ओर ही झुकती हुई उसने अपने निर्णय द्वारा उर्दू के साथ नागरी को भी समानाधिकार प्रदान किया।[61] इस निर्णय के अंत में यह भी कहा गया था कि ये सभी निर्णय दीवानी, माल व राजस्व अदालतों पर ही लागू होंगे। इस फैसले से हिंदी भाषा व नागरी लिपि को यथेष्ट अधिकार तो नहीं मिला, फिर भी इतना हुआ कि अदालतों में हिंदी के प्रवेश पर सरकारी मुहर लग गयी। प्रारंभ में इस निर्णय से हिंदी के समर्थक असंतुष्ट ही रहे। किंतु जब मुस्लिम नेताओं को नागरी का यह समानाधिकार भी खलने लगा और वे सरकार के उक्त निर्णय का जमकर विरोध करने लगे, तब कुसमय विचार हिंदी प्रेमियों को इतने में ही संतोष करना पड़ा।

निष्कर्ष यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी हिंदी भाषा व लिपि के संघर्ष की शताब्दी है। कंपनी सरकार तथा ब्रिटिश सरकार की गलत एवं पक्षपातपूर्ण नीति तथा सांप्रदायिक स्तर पर मुसलमानों द्वारा उर्दू के अंध समर्थन एवं कट्टरता के साथ हिंदी विरोध के फलस्वरूप इस पूरे के पूरे सौ वर्षों के मध्य हिंदी भाषा व लिपि को पग-पग पर विविध विरोधों एवं नाना संघर्षों का सामना करना पड़ा। फिर भी हिंदी अपने विकास के प्रशस्त मार्ग पर सतत गतिशील रही। तमाम आपत्तियों एवं संघर्षों के बावजूद आत्मविश्वास एवं असीम आंतरिक शक्ति के कारण उसका सर्वांगीण विकास हुआ।

संदर्भ

1 उत्तर भारत की रेख्ता हिंदी का व्यवहार करने वाले औरंगाबाद के कवि वली 'दकनी' का आदर्श लेकर सन् 1740 ई० में दिल्ली आकर रहने लगे। इसी समय से दिल्ली शहर में वास्तव में उर्दू साहित्य की प्रतिष्ठा या स्थापना हुई।' डा० चटर्जी 'भारत की भाषाएं और भाषा संबंधी समस्याएं', पृ० 80।

2 डा० शितिकंठ मिश्र ने अपने शोध-प्रबंध 'खड़ी बोली का आंदोलन' में दक्खिनी के कवियों की चर्चा करते हुए वली के दिल्ली आगमन की प्रामाणिकता यों सिद्ध की है

'इन लोगों ने स्वयम् अपनी भाषा को 'दखिनी' या 'दखिलनी हिंदी' कहा है। कहीं भी उर्दू का नाम नहीं लिया। शाह मीरन जी के पुत्र बुरहानुद्दीन ने कहा है 'ऐब न राखे हिंदी बोल।' शाह मीरन जी ने स्वयं कहा 'यह बोलूं हिंदी सब इन अर्थों के सबब। शाह मलिक ने लिखा 'दखिलनी में बोल्या है सब'। 'वली' तक हिंदीपन बना रहा, परंतु सन 1740 में वह दिल्ली आया और यहां शाह सादुल्ला ने हिदायत दिया कि—'ये इतने फारसी के मजमून बेकार पड़े हैं इन्हें काम में ला।' फिर तो वली ने अपना रुख ही बदल दिया और लिखने लगा 'जब सनम को खयाले बाग हुआ, तालबे वशये फराग हुआ।'—'खड़ी बोली का आंदोलन', पृ० 39।

3 'खड़ी बोली का आंदोलन', पृ० 68।

4 इस विषय में डा० शितिकंठ मिश्र लिखते हैं 'फोर्ट विलियम का महत्व पुस्तकों के प्रकाशन तथा टाइप संबंधी सुधारों के लिए अधिक है।'—'खड़ी बोली का आंदोलन', पृ० 69।

5 दृष्टव्य 'फोर्ट विलियम कालेज' डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० 168।

6 'कचहरी की भाषा और लिपि', पं० चंद्रबली पांडेय, पृ० 36 से साभार उद्धृत।

7 'खड़ी बोली का आंदोलन', पृ० 69 से साभार अवतरित।

8 'आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका' डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० 361।

9 'खड़ी बोली का आंदोलन', पृ० 71।

10 'कचहरी की भाषा और लिपि', पृ० 24।

11 वही, पृ० 27 से साभार उद्धृत।

व्यक्तियों का एक प्रतिनिधि मंडल प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर मैकडानेल से मिला तथा उन्हें नागरी समर्थकों के साठ हजार हस्ताक्षरों से युक्त एक याचिका भी दी। गवर्नर ने उस याचिका की पूरी जांच तथा उस पर विचार करने का आश्वासन दिया, साथ ही यह भी कहा कि यद्यपि वे अदालतों की भाषा के शीघ्र परिवर्तन के पक्ष में नहीं हैं, फिर भी वे यह मानते हैं कि यदि नागरी लिपि के प्रयोग की छूट दे दी जाय तो इससे जनता का विशेष कल्याण होगा।[80]

उर्दू के पक्षधरों ने भी सार्वजनिक सभाओं आदि के माध्यम से उर्दू का पक्ष बड़ी सबलता से पकड़ा तथा सरकार के पास एकाधिक प्रतिनिधि मंडल भी भेजे। सरकार भी राजनीतिक दृष्टि से हिंदी-उर्दू के प्रश्न को विवादास्पद बनाना ही उपयुक्त समझती थी। इस अवसर को यों ही गवा देना उसके लिए नामुमकिन था। उसने सर सैयद अहमद खां जैसे हिंदी विरोधी मुस्लिम नेताओं को और अधिक भड़काया, जिससे हिंदी-उर्दू का विवाद उग्र हो चला। अब सरकार समझौता कराने चली। गनीमत तो यह हुई कि दो बिल्लियों के झगड़े के बीच में बंदर वाली नीति भला न अपनाई गई और 18 अप्रैल सन् 1900 में उर्दू की ओर ही झुकती हुई उसने अपने निर्णय द्वारा उर्दू के साथ नागरी को भी समानाधिकार प्रदान किया।[81] इस निर्णय के अंत में यह भी कहा गया था कि ये सभी निर्णय दीवानी, माल व राजस्व अदालतों पर ही लागू होंगे। इस फैसले से हिंदी भाषा व नागरी लिपि को यथेष्ठ अधिकार तो नहीं मिला, फिर भी इतना हुआ कि अदालतों में हिंदी के प्रवेश पर सरकारी मुहर लग गयी। प्रारंभ में इस निर्णय से हिंदी के समर्थक असंतुष्ट ही रहे। किंतु जब मुस्लिम नेताओं को नागरी का यह समानाधिकार भी खलने लगा और वे सरकार के उक्त निर्णय का जमकर विरोध करने लगे, तब कुसमय विचार हिंदी प्रेमियों को इतने से ही संतोष करना पड़ा।

निष्कर्ष यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी हिंदी भाषा व लिपि के संघर्ष की शताब्दी है। कंपनी सरकार तथा ब्रिटिश सरकार की गलत एवं पक्षपातपूर्ण नीति तथा सांप्रदायिक स्तर पर मुसलमानों द्वारा उर्दू के अंध समर्थन एवं कट्टरता के साथ हिंदी विरोध के फलस्वरूप इस पूरे के पूरे सौ वर्षों के मध्य हिंदी भाषा व लिपि को पग-पग पर विविध विरोधों एवं नाना संघर्षों का सामना करना पड़ा। फिर भी हिंदी अपने विकास के प्रशस्त मार्ग पर सतत गतिशील रही। तमाम आपत्तियों एवं संघर्षों के बावजूद आत्मविश्वास एवं असीम आंतरिक शक्ति के कारण उसका सर्वांगीण विकास हुआ।

संदर्भ

1 उत्तर भारत की रेख्ता हिंदी का व्यवहार करने वाले औरंगाबाद के कवि वली 'दकनी' का आदर्श लेकर सन् 1740 ई० मे दिल्ली आकर रहने लगे। इसी समय से दिल्ली शहर मे वास्तव मे उर्दू साहित्य की प्रतिष्ठा या स्थापना हुई।' डा० चटर्जी 'भारत की भाषाए और भाषा सबधी समस्याए', पृ० 80।

2 डा० शितिकंठ मिश्र ने अपने शोध-प्रबंध 'खडी बोली का आदोलन' म दक्खिनी के कवियो की चर्चा करते हुए वली के दिल्ली आगमन की प्रामाणिकता यो सिद्ध की है

'इन लोगो ने स्वयम् अपनी भाषा को 'दक्खिनी' या 'दक्खिनी हिंदी' कहा है। कही भी उर्दू का नाम नही लिया। शाह मीरन जी के पुत्र बुरहानुद्दीन ने कहा है 'ऐब न राखे हिंदी बोल।' शाह मीरन जी ने स्वय कहा 'यह बोलू हिंदी सब इन अर्थों के सबब'। शाह मलिक ने लिखा 'दक्खिनी मे बोल्या हूँ सब'। 'वली' तक हिंदीपन बना रहा, परंतु सन् 1740 मे वह दिल्ली आया और यहा शाह सादुल्ला ने हिदायत दिया कि—'ये इतने फारसी के मजमून बेकार पडे हैं इन्हे काम मे ला।' फिर तो वली ने अपना रुख ही बदल दिया और लिखने लगा 'अब सनम को खयाले बाग हुआ, तालबे वक्ष्ये फराग हुआ।'—'खडी बोली का आदोलन', पृ० 39।

3 'खडी बोली का आदोलन', पृ० 68।

4 इस विषय मे डा० शितिकंठ मिश्र लिखते हैं 'फोर्ट विलियम का महत्व पुस्तको के प्रकाशन तथा टाइप सबधी सुधारो के लिए अधिक है।'—'खडी बोली का आदोलन', पृ० 69।

5 द्रष्टव्य 'फोर्ट विलियम कालेज' डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० 168।

6 'कचहरी की भाषा और लिपि', प० चद्रबली पाडेय, पृ० 36 से साभार उद्धृत।

7 'खडी बोली का आदोलन', पृ० 69 से साभार अवतरित।

8 'आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका' डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० 361।

9 'खडी बोली का आदोलन', पृ० 71।

10 'कचहरी की भाषा और लिपि', पृ० 24।

11 वही, पृ० 27 से साभार उद्धृत।

12 जो सीटामप समके दावे वो जवाब वगैर कागज के ऊपर किया जाएगा उसके ऊपर नीचे का मजबून फारसी भाखे वो अच्छर वो हीनदवी जुबान वो नागरी अच्छर में खोदा जाएगा।'
—'कचहरी की भाषा और लिपि', पृ० 25 पर उद्धृत।
13 'आधुनिक हिंदी साहित्य', पृ० 28।
14 " and it is easier for the Judge to acquire the language of the people than for the people to acquire the language of the Judge '—'Kharibolı Andolan', p 72
15 'कचहरी के सभी प्राणी फारसी मे अभ्यस्त थे। फारसी लिपि मे लिखते रहने की उन्हे आदत हो गई थी। अस्पष्ट और भ्रमपूर्ण होने के कारण वह मसिजीवियो के अधिक काम की साबित हुई। उससे पैसा भी हाथ मे आने लगा और शान भी बढ गई।'—'बिहार म हिंदुस्तानी', पृ० 24।
16 'खड़ी बोली का आंदोलन', पृ० 74।
17 'आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका', डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० 304।
18 'कचहरी की भाषा और लिपि', पृ० 48 से साभार अवतरित।
19 हिंदी भाषा की आधुनिक समस्याए', पृ० 5।
20 द्रष्टव्य 'भारतीय शिक्षा का इतिहास', पृ० 77।
21 'जिस भाषा म साधारण हिंदू जनता अपने कथा पुराण सुनती आती थी, उसी भाषा का अवलम्बन ईसाई उपदेशको को आवश्यक दिखाई पडा। 'हिंदी साहित्य का इतिहास', आचार्य शुक्ल, पृ० 388।
22 वही, पृ० 389।
23 'The objective of society was' 'removal of superstition by education, rational discussion and the publication of books.'
—'Biographical studies in Modern Indian Education' H V Hampton p 31
24 देखिए 'आधुनिक हिंदी साहित्य', पृ० 44-45।
25 'आधुनिक हिंदी साहित्य', पृ० 467 से साभार उद्धृत।
26 'आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका', पृ० 302।
27 'व्यक्तिगत रूप से ईसाई पादरियो ने शिक्षा के लिए सरल हिंदी को अपनाया तथा शिक्षा प्रचार और हिंदी गद्य की पुष्टि मे स्तुत्य योग दिया।'
—'खड़ी बोली का आंदोलन', पृ० 74।
28 'मुसलमान जाति कई कारणों से प्रगति के क्षेत्र म काफी पीछे थी। वहाबी

आंदोलन और गदर के कारण सरकार उन पर शंका करने लगी थी। ऐसे विपरीत वातावरण में मुसलमानों की नव-जागृति का बीणा सर सैयद अहमद खां ने उठाया। उन्होंने अनुभव किया कि मुसलमानों के हृदय में पाश्चात्य विज्ञान और शिक्षा के द्वारा सामाजिक सुधार, जातीय गौरव तथा अधिकार की भावना भरी जा सकती है। उन्होंने ग्राहम को एक पत्र लिखा था कि मुसलमानों की संपूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक बीमारियां शिक्षा द्वारा दूर की जा सकती हैं।'—'खड़ी बोली का आंदोलन', पृ० 84।

29 वही, पृ० 85 से साभार उद्धृत।

30 'ब्रिटिश सरकार की इस पक्षपातपूर्ण नीति की विवेचना करते हुए सिरमा के काशीनाथ खत्री ने 15 मार्च, 1874 के 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में एक संक्षिप्त लेख गवर्नमेंट गिविंग अण्ड्यू इपार्टेंस टू मोहम्मडन्स' में लिखा कि 'सर सैयद के प्रयत्न से सरकार ने अरबी पाठशालाओं को 10000 रुपये का अनुदान दिया है, यह तो खैर ठीक है पर उनके लिए नौकरी सुरक्षित रखना, उन्हें सर्वत्र प्राथमिकता देना और संस्कृत पाठशालाओं को अरबी मक्तबों के समान सुविधा न देना सिद्ध करता है कि सरकार मुसलमानों के प्रति अनुचित पक्षपात करती है।'—'खड़ी बोली का आंदोलन', पृ० 98 से साभार अवतरित।

31 'भाषा और समाज', पृ० 337।

32 'I consider it as the most progressive and civilized form of great and wide spread language of the horde' —'Outlines of a plea for the Arbic element in official Hindustani'—Beams
'Journal Royal Asiatic Society' 1866 Pt 1, Article No 1

33 विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य
'Some objections to the new modren style of official Hindustani', F S Growse
'Journal Royal Asiatic Society', 1866, Pt 1, p 180-81

34 'इस विषय में ग्राउस साहब का कहना था कि— कचहरी के लिए फारसी की यह शैली स्वीकार कर लेने पर विवश होकर नागरी लिपि भी छोड़ देनी पड़ेगी, जो एक सर्वोत्तम वैज्ञानिक लिपि है। फारसी लिपि में ध्वनियों का उच्चारण नष्ट ही नहीं होता बल्कि कभी-कभी उलट तक जाता है। इस बनावटी शैली के प्रोत्साहन से हिंदू अपने गौरवशाली साहित्य से वंचित हो जाएंगे और चूंकि पढ़े-लिखे लोग तक इस भाषा से पूर्णतया परिचित नहीं हैं, अतः व्यावहारिक रूप से भी बड़ी असुविधा

12 'जो सीटामप समके दावे वो जवाब वगैर कागज के ऊपर लिया जाएगा उसके ऊपर नीचे का मजबून फारसी माखे वो अच्छर वो हीनदवी जुबान वो नागरी अच्छर में खोदा जाएगा।'
—'कचहरी की भाषा और लिपि', पृ० 25 पर उद्धृत।

13 'आधुनिक हिंदी साहित्य', पृ० 28।

14 ' and it is easier for the Judge to acquire the language of the people than for the people to acquire the language of the Judge '—'Kharibolı Andolan', p 72

15 'कचहरी के सभी प्राणी फारसी में अभ्यस्त थे। फारसी लिपि में लिखते रहने की उन्हें आदत हो गई थी। अस्पष्ट और भ्रमपूर्ण होने के कारण वह मसिजीवियों के अधिक काम की साबित हुई। उससे पैसा भी हाथ में आने लगा और शान भी बढ गई।'—'बिहार म हिंदुस्तानी', पृ० 24।

16 'खडी बोली का आंदोलन', पृ० 74।

17 'आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका', डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय पृ० 304।

18 'कचहरी की भाषा और लिपि', पृ० 48 से साभार अवतरित।

19 हिंदी भाषा की आधुनिक समस्याएं', पृ० 5।

20 द्रष्टव्य 'भारतीय शिक्षा का इतिहास', पृ० 77।

21 'जिस भाषा में साधारण हिंदू जनता अपने कथा-पुराण सुनती आती थी उसी भाषा का अवलम्बन ईसाई उपदेशको को आवश्यक दिखाई पडा।
'हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृ० 388।

22 वही, पृ० 389।

23 'The objective of society was removal of superstition by education, rational discussion and the publication of books '
—'Biographical studies in Modern Indian Education' H V Hampton, p 31

24 देखिए 'आधुनिक हिंदी साहित्य', पृ० 44-45।

25 'आधुनिक हिंदी साहित्य', पृ० 467 से साभार उद्धृत।

26 'आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका', पृ० 302।

27 'व्यक्तिगत रूप से ईसाई पादरियों ने शिक्षा के लिए सरल हिंदी को अपनाया तथा शिक्षा प्रचार और हिंदी गद्य की पुष्टि म स्तुत्य योग दिया।'
—'खडी बोली का आंदोलन', पृ० 74।

28 'मुसलमान जाति कई कारणों से प्रगति के क्षेत्र म काफी पीछे थी। वहाबी

आंदोलन और गदर के कारण सरकार उन पर शंका करने लगी थी। ऐसे विपरीत वातावरण में मुसलमानों की नव-जागृति का बीणा सर सैयद अहमद खां ने उठाया। उन्होंने अनुभव किया कि मुसलमानों के हृदय में पाश्चात्य विज्ञान और शिक्षा के द्वारा सामाजिक सुधार, जातीय गौरव तथा अधिकार की भावना भरी जा सकती है। उन्होंने ग्राहम को एक पत्र लिखा था कि मुसलमानों की संपूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक बीमारियां शिक्षा द्वारा दूर की जा सकती हैं।'—'खड़ी बोली का आंदोलन', पृ० 84।

29 वही, पृ० 85 से साभार उद्धृत।

30 'ब्रिटिश सरकार की इस पक्षपातपूर्ण नीति की विवेचना करते हुए सिरमा के काशीनाथ खत्री ने 15 मार्च, 1874 के 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में एक संक्षिप्त लेख 'गवर्नमेंट गिविंग अण्ड्यू इंपारटेंस टू मोहम्मडन्स' में लिखा कि 'सर सैयद के प्रयत्न से सरकार ने अरबी पाठशालाओं को 10000 रुपये का अनुदान दिया है, यह तो खैर ठीक है पर उनके लिए नौकरी सुरक्षित रखना, उन्हें सर्वत्र प्राथमिकता देना और संस्कृत पाठशालाओं को अरबी मक्तबों के समान सुविधा न देना सिद्ध करता है कि सरकार मुसलमानों के प्रति अनुचित पक्षपात करती है।'—'खड़ी बोली का आंदोलन', पृ० 98 से साभार अवतरित।

31 'भाषा और समाज', पृ० 337।

32 'I consider it as the most progressive and civilized form of great and wide spread language of the horde'—'Outlines of a plea for the Arbic element in official Hindustani'—Beams
'Journal Royal Asiatic Society' 1866 Pt 1, Article No 1

33 विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य
'Some objections to the new modren style of official Hindustani', F S Growse
'Journal Royal Asiatic Society', 1866, Pt 1, p 180-81

34 'इस विषय में ग्राउस साहब का कहना था कि—कचहरी के लिए फारसी की यह शैली स्वीकार कर लेने पर विवश होकर नागरी लिपि भी छोड़ देनी पड़ेगी, जो एक सर्वोत्तम वैज्ञानिक लिपि है। फारसी लिपि में ध्वनियों का उच्चारण नष्ट ही नहीं होता बल्कि कभी-कभी उलट तक जाता है। इस बनावटी शैली के प्रोत्साहन से हिंदू अपने गौरवशाली साहित्य से वंचित हो जाएंगे और चूंकि पढ़े-लिखे लोग तक इस भाषा से पूर्णतया परिचित नहीं हैं, अतः व्यावहारिक रूप से भी बड़ी असुविधा

होगी। अज्ञान का पोषण होगा और पूर्व सभ्यता मिट जाएगी तथा राष्ट्रीय साहित्य कभी भी विकसित नहीं हो सकेगा।'
'सम आब्जेक्शन्स टू द न्यू माडर्न स्टाइल आफ आफिशियल हिंदुस्तानी', 'जे० आर० ए० एस०', 1866, भाग 1, पृ० 181।

35 'To read persian is to become persianized, all our ideas become corrupt and our nationality is lost, cursed be the day, which saw the Muhammadanse crese the indus, all the evils which we find amongst us we are indepted for our 'beloved brethern' the Mohammadans Manliness is the first thing which they have entirely extinguished from the land'
—'Memorandum Court Character in the upper provinces of India', 1868 Shiva Prasad, p 1

36 अलीगढ़ में स्थापित यह संस्था मुसलमानी भाषा तथा संस्कृति आदि की प्रबल पोषक थी, जिसकी स्थापना सर सैयद खां ने सन 1864 में गाजीपुर में 'ट्रांसलेशन सोसायटी' के नाम से की थी।

37 सैयद साहब ने एक पत्र लिखा था, जिसमें ये मनसूबे बांधे गए थे
'एक और मुझे खबर मिली है जिसका मुझको कमाल रंज और फिक्र है कि बाबू शिवप्रसाद साहब की तहरीक से अमूमन हिंदू लोगों के दिल में जोश आया है कि जबान उर्दू और खत फारसी को जो मुसलमानों की निशानी है मिटा दिया जाए। मैंने सुना है कि उन्होंने साइण्टिफिक सोसायटी के हिंदू मेंबरों से तहरीक की है कि बजाय अखबार उर्दू हिंदी हो, सरजुम: कुतुब भी हिंदी हो। यह एक ऐसा तदबीर है कि हिंदू मुसलमान में किसी तरह इत्तफाक नहीं रह सकता। मुसलमान हरगिज हिंदी पर मुत्तफिक न होंगे और अगर हिंदू मुस्तैद हुए और हिंदी पर इसरार हुआ तो वह उर्दू पर मुत्तफिक होंगे और नतीजा इसका यह होगा कि हिंदू अलहदा मुसलमान अलहदा हो जावेंगे।'—'खड़ी बोली का आंदोलन', पृ० 85 में साभार गृहीत।

38 राजा शिव प्रसाद ने सन 1861 ई० में ही कहा था कि 'उर्दू को उसी तरह अटकल से सोच समझकर पढ़ना पड़ता है कि जिस तरह पर महाजन लोग मुड़िया, अर्थात बिना मात्रा के हिंदी हरफों को अटकल से जोड़-जोड़कर पढ़ लेते हैं।'
—'स्वयबोध उर्दू', पृ० 15।

39 'The language of the Court is not the language of the country'

The Government voting that English is not the language for Masses, are thus unconsciously forcing another foreign language namely Persian, or I may say Semi-Persian, the Urdu, in persian character, upon the helpless masses, in fact doing what ever the Mohummadan Emperors of Delhi never thought to do'

—'Memorandum Court Character', 1868 by Shiva Prasad, p 1

40 इतिहास तिमिर नाशक की भाषा, जो तीनो भागो मे क्रमश उर्दू ग्रस्त होती गई है, भाषा के क्षेत्र मे राजा साहब की बदलती हुई मनोवृत्ति का अच्छा परिचय देती है।

41 'भाषा का इतिहास', राजा शिवप्रसाद, पृ० 59।

42 'It may be serving the interest of English Officers who desire to attain excellence in the use of the common speach of Hindu and the Musiman of Upper India'

—'Hindi Vyakaran' Shiva Prasad, Preface

43 इस विषय मे मौलाना सैयद अली बिलग्रामी का कथन है कि—'हमारी पाठशाला के बालकों का केवल शुद्धतापूर्वक पढना सीखने मे दो वर्ष लग जाते हैं। पढे लिखे आदमियो की अधिक सख्या उन्ही मुसलमानो मे है जिन्होने अपने को इस दूसरी जाति के अक्षरो के बधन से निर्मुक्त कर लिया है, अर्थात सिन्ध, बबई और बगाल के मुसलमानो मे, जो अपनी भाषा को सिन्धी, गुजराती और बगला के आर्य अक्षरो मे पढते हैं।'

—'सरस्वती' जून, सन 1900, सख्या 6, भाग-1।

44 'Urdu is now becoming our mother tongue and is spoken more or less and well or badly, by all in the North-Western Provinces'—'Itihas Timir Nashak' by Shiva Prasad, Pt 1, Preface

45 द्रष्टव्य

'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (उर्दू का स्यापा), खड 19, जून, 1874।

46 'चहहुँ जसाचो निज कल्यान, तो सब मिलि भारत सतान।
जपो निरतर एक जबान, 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान।'
'प्रताप पीयूष' (स०) प्रताप नारायण मिश्र, पृ० 218।

47 निम्नलिखित पत्र प्रकाशित हुए :
'सदादर्श' (सन 1874 ई० दिल्ली) —स० लाला श्रीनिवास दास,
'भारतबन्धु' (सन 1876 ई०)—स० तोताराम,
'हिंदी प्रदीप' (सन 1877 ई०)—स० प० बालकृष्ण भट्ट,
'मित्रविलास' (सन 1877 ई०)—स० कन्हैयालाल,
'आनंद कादम्बिनी' (सन 1881 ई०)—स० चौधरी प्रेमघन,
'ब्राह्मण' (सन 1883 ई०, कानपुर)—स० प्रतापनारायण मिश्र,
'भारतेन्दु' (सन 1884 ई०)—स० राधाचरण गोस्वामी;
'पीयूषप्रवाह' (सन 1884 ई०)—स० प० अम्बिकादत्त व्यास।

48 'खड़ी बोली का आंदोलन', पृ० 91 से साभार अवतरित।

49 'भारत जीवन', 18 अगस्त, सन 1884 ई०।

50 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (नागरी तेरी यह दुर्दशा) सन 1899।

51 सैयद साहब ने कमीशन को समझाया कि— यह मसलह एजुकेशन कमीशन से कुछ एलाक़ह नहीं रखता, बल्कि एक बहुत बड़ा पोलिटिकल मसलह है। जिसके साथ गवर्नमेंट के मसालह मुल्की वाबस्तह है। पर इसकी बहस एजुकेशन कमीशन से कुछ एलाक़ह नहीं रखती।'
'हयात जावेद' (प्रथम भाग) सर सैयद अहमद खां, पृ० 142।

52 'भारत जीवन', 26 मई, सन 1884 ई०।

53 'इस पुस्तक में उर्दू भाषा तथा फारसी लिपि के दोषों को युक्तिपूर्वक बड़े ही प्रभावशाली ढंग से दिखाया गया है। अपने कथन की पुष्टि में मालवीय जी ने सर मोनियर विलियम, ब्लाकमैन, डा० ग्रिम्स, डा० डाउसन, राजा शिवप्रसाद, डा० राजेन्द्रलाल मित्र और बाबू हरिश्चन्द्र आदि के प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। नागरी लिपि की वैज्ञानिकता, सर्व जन सुलभता एवं सरलता आदि के पक्ष में भी विलियम जोन्स, सर आइजक पिटमैन और सर बैरी आदि के कथन उद्धृत किए गए हैं।'
द्रष्टव्य
'कोर्ट करेक्टर एंड प्राइमरी एजुकेशन इन नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज' प० मदन मोहन मालवीय, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, 1897।

54 'स्फुट कविता' बाल मुकुन्द गुप्त, पृ० 177।

55 सन् 1876-77 में बिहार के शिक्षा विभाग के प्रधान अधिकारी के रूप में बिहार की तत्कालीन भाषा स्थिति का जिक्र करते हुए भूदेव मुखर्जी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है 'मुसलमानों को अपनी भाषा पर ममता है। कायस्थ लोग उसी से प्रेम रखते हैं क्योंकि अनेक पीढ़ियों से वे इसके अध्ययन में परिश्रम करते चले आते हैं। कचहरी की भाषा अपने कन

पराक्रम के लिए फारसी का ही मुह जोहती है। बिहार म सस्कृत तो अनेक दिन पूर्व ही ऐसी बहिष्कृत हो गई जैसी बगाल से भी नही हुई, हिंदी है जीवित, क्योकि इसकी मृत्यु हो ही नही सकती।'
— साहित्य पत्रिका' ('गत पचास वर्षों मे बिहार की हिंदी की दशा, शिवनन्दन सहाय), अक 9, जनवरी, 1914 ई०, पृ० 7।

56 द्रष्टव्य
'बिहार मे हिंदुस्तानी' प० चन्द्रबली पाडेय, पृ० 24।

57 इतना ही नही कैम्पबैल साहब उर्दू की असलियत से भी अच्छी तरह वाकिफ थे, क्योकि उन्हे भारत मे रहकर बहुत दिनो तक सार्वजनिक काय करने का अनुभव था। उर्दू के विषय मे उनका कथन है कि— किताबो म चाहे इस जबान के मुतल्लिक कोई कुछ लिखे लेकिन हकीकत यह है कि यह उर्दू जबान अहलदरवार और देहली के तवायफो की जबान है। इसको मुल्क की मुरव्वज जबान नही कह सकते। मैंने पूरा इरादा कर लिया है कि जहा तक मेरा बस चलेगा इस जबान की तालीम को जो हमारे मदरसो मे दी जाती है, रोकने की कोशिश करूगा।'
—'उर्दू' जुलाई, सन 1938, पृ० 520।

58 द्रष्टव्य
'बिहार मे हिंदुस्तानी' प० चन्द्रबली पाडेय, पृ० 30।

59 'स्वतत्रता पूर्व हिंदी के सघर्ष का इतिहास', पृ० 38-39 से साभार उद्धृत।

60 See
'Linguistic Affairs of India', p 172

61 I 'All persons may present their petitions or complaints either in the Nagri or in the Persian character, as they shall desire

II All Summons, proclamations and the like in vernacular issuing to the publicfrom the courts or from Revenue officials, shall be in the persian and the Nagri character, and the portion in the latter invariably be filled up as well as that in the farmer

III No one shall be appointed, except in a purely English office, to any ministrial appointment after one year from the date of this Resolution unless he

knows both Hindi and Urdu and anyone appointed in the interval who knows one of these languages not the other, shall be required to qualify in the language, which he does not know within one year of his appointment' With Amendment 1900, 585/3343 C 68

— Swatantratapurva Hindi Sangharsh ka Itihas p 52

स्वाधीनता संघर्ष और निजभाषा का आंदोलन

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में पाश्चात्य सभ्यता के संदेशवाहक अंग्रेजों से भारतीयों का काफी नजदीक का संबंध स्थापित हुआ। इनकी सभ्यता में एक नयी स्फूर्ति तथा ताजगी दिखायी पड़ी। शताब्दियों के बोझ से दबे हुए शिथिल भारतीय समाज के लिये इससे प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। समाज का पतन अपने अंतिम बिंदु पर पहुंच चुका था। उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक थी, सिर्फ थोड़ी-सी जागृति अपेक्षित थी, जिसकी पूर्ति अंग्रेजों के संपर्क से हुई। अपनी राजनीतिक विजय को पूर्ण स्थायी बनाने के लिये अंग्रेजों ने भारतीयों पर सांस्कृतिक विजय का प्रयोग किया। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये ईसाई धर्म एवं अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार तथा वैज्ञानिक सुविधाओं का प्रसार साधन रूप में अपनाये गये। इसके अतिरिक्त विविध प्रकार की कूटनीतियों का सहारा लिया गया।[1] किंतु इस नीति का अंग्रेजों के पक्ष में कोई अच्छा नतीजा न निकला। अंग्रेजों के संपर्क और अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप कुछ प्रबुद्ध भारतीयों के अंतःकरण में नवीन चेतना का संचार हुआ, उनके मानस में भारत के पुनरुत्थान की आकांक्षा मचलने लगी। इस आकांक्षा को क्रियात्मक रूप देने से भारतीय इतिहास में पुनरुत्थान युग आया।

सन 1857 के 'प्रथम स्वाधीनता संग्राम' के बाद राजनीतिक स्थिति ने एक नया मोड़ लिया। भारत की शासन सत्ता कंपनी सरकार के हाथ से निकल कर इंगलैंड की महारानी विक्टोरिया के हाथ में चली गयी। अब समस्त भारत एक सुदृढ़ शासन की अधीनता में आ गया। देश विदेशी आक्रमण की आशंका से मुक्त हो गया। शताब्दियों से कठोर राजचक्र में पीसी हुई जनता को थोड़ा-सा सांस लेने का मौका मिला, अपनी दयनीय दशा पर सोचने-समझने का अवसर मिला। भारतीयों ने सर्वप्रथम अपना पहला आदर्श मध्ययुग के पिछड़ेपन से मुक्ति पाना

निश्चित किया। इसके लिये देश में अनेक सामाजिक तथा धार्मिक आंदोलन हुए, जो मूलतः आध्यात्मिक चेतना से अनुप्राणित थे।[2] सामाजिक जीवन इतनी तेजी से बदलने लगा था कि उसे एक विशिष्ट प्रकार की क्रांति कहना ही समीचीन होगा।[3] परिवर्तन की इस प्रगति पर श्री रमेश चंद्र दत्त जैसे इतिहासकार को भी आश्चर्य हुआ।[4] श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भी इसे "रक्तहीन क्रांति" की संज्ञा दी। इन आंदोलनों से भारतीय जीवन-दृष्टि को एक नयी दिशा मिली और जन जीवन को नव जीवन प्राप्त हुआ, जिससे हिंदू धर्म में प्रचलित अंधविश्वासों, रूढ़ियों तथा कुरीतियों को दूर करने एवं ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रचार को रोकने में अच्छी सफलता हासिल हुई। ये सामाजिक एवं धार्मिक आंदोलन आगे चलकर राष्ट्रीयता के पोषक सिद्ध हुए इनके वैशिष्ट्य का निरूपण करते हुए श्री सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है

'ये सब सुधार आंदोलन अपने देश के लुप्त गौरव की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करते थे, अपनी संस्कृति के प्रति गौरव की भावना उत्पन्न करते थे और भावी उन्नति के लिये प्रेरणा देते थे।' ये आंदोलन भारत में राष्ट्रीय जागृति का प्रादुर्भाव करने में सहायक सिद्ध हुए।'[5]

उन्नीसवीं शती में हुए इन धार्मिक व सामाजिक आंदोलनों के फलस्वरूप पहले पहल शिक्षित भारतीयों में राजनीतिक चेतना जगी, जो लगातार बढ़ती ही गयी। आगे चलकर इस चेतना का मुख्य लक्ष्य स्वाधीनता प्राप्ति हो गया और इसका पूर्ण विकास राष्ट्रीय क्रांति के रूप में साकार हो उठा।

इन आंदोलनों के अतिरिक्त देश में राजनीतिक चेतना के उदय के अनेक कारण थे। अंग्रेजों की कूटनीति, जिसका 'फूट डालो और राज करो' एक महत्व-पूर्ण पहलू था, असमानता का व्यवहार काले गोरे का भेदभाव आदि इसके मूल कारण कहे जा सकते हैं।

भारतीयों के अंतःकरण में राजनीतिक चेतना को प्रबल बनाने में अंग्रेजों की आर्थिक नीति का भी बहुत कुछ हाथ रहा है। इनकी आर्थिक नीति अंग्रेजी पूंजी-वाद के जितने ही अनुकूल थी, भारतीय उद्योग-धंधों के उतने ही प्रतिकूल। अर्थ के क्षेत्र में ऐसी नीति काम कर रही थी कि इंगलैंड की बनी वस्तुएं अधिक से अधिक कीमत पर यहां बिकती थीं तथा यहां का कच्चा माल घटिया दरों पर इंगलैंड जाता था। कच्चे माल एवं प्रशासनिक प्रोत्साहन के अभाव में भारतीय उद्योग धंधे ठप्प होने लगे और यहां के एक-से एक मशहूर कारीगर, शिल्पी आदि भूखे मरने लगे। ऐसी स्थिति में जनता में असंतोष की भावना का बढ़ना स्वाभा-विक ही था। असंतोष की इस व्यापक वृत्ति ने राजनीतिक चेतना को काफी

बढ़ावा दिया।

भारतीय राजनीतिक चेतना के विकास में आधुनिक शिक्षा का योगदान भी कम महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। राष्ट्रीयता, राजनीतिक स्वाधीनता तथा लोकतंत्र आदि के विचारों से परिपूर्ण पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से भारतीयों की आँखें खुलीं, जिससे वे स्वतंत्रता, समानता, जनतंत्र आदि के सिद्धांतों से पूर्ण अवगत हुए तथा स्वराज्य एवं राष्ट्रीयता का सही मूल्यांकन कर सके।

राजनीतिक चेतना के विकास में राष्ट्रीय भावनाओं से युक्त तत्कालीन भारतीय साहित्य ने भी यथेष्ट योगदान दिया। राष्ट्र को लेकर यथार्थ व आदर्शवादी रचनाएं की गयीं।[6] वर्तमान के प्रति विक्षोभ और दुखी राष्ट्र का दीन चित्र यथार्थ से तथा राष्ट्र का गौरवगान, उसका प्राचीन भव्य स्वरूप आदर्श से संबंधित रहता था। 'भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में भारतीय समाचार पत्रों का योगदान भी महत्वपूर्ण रहा है। इन्होंने भारतीय जनता को राष्ट्रीय चेतना, प्रजातंत्र, प्रतिनिधि सरकार, स्वशासन तथा स्वतंत्रता के संबंध में राजनीतिक शिक्षा दी।'[7]

यूरोप में होने वाले तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलनों से भी भारतीयों को राजनीतिक प्रेरणा मिली। एक ओर इनकी राजनीतिक चेतना को फ्रांस तथा अमरीका की क्रांतियों ने जगाया तो दूसरी ओर इंग्लैंड में सामंतशाही शासन के विरुद्ध होने वाले संघर्ष ने। एक ओर इनकी इस चेतना को विभिन्न यूरोपीय देशों के स्वाधीनता संघर्ष से प्रेरणा मिली तो दूसरी ओर रूस में जारशाही के खिलाफ होने वाली क्रांति से।

इसके अलावा डाक, तार, रेल, जहाज आदि विविध वैज्ञानिक साधनों से भी राजनीतिक चेतना की चिनगारी को अग्नि की भभकती हुई लपट में बदलने का पर्याप्त अवकाश मिला। समय और दूरी का बंधन मिट जाने से अखिल भारतीय स्तर पर राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना की संभावना भी यथार्थ में बदल गयी।

राष्ट्रीय आंदोलन और स्वदेशी वस्तुओं का स्वागत

मुस्लिम शासन तंत्र के अन्याय, अत्याचार एवं उत्पीड़न से संत्रस्त भारतीय जीवन के लिये प्रारंभ में अंग्रेजों का आगमन शांतिप्रद प्रतीत हुआ, किंतु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों उनकी शोषण नीति स्पष्ट होने लगी।[8] जीवन के विविध क्षेत्रों में उनके द्वारा अपनायी गयी कलुषित नीतियों का अकल्याणकारी प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा। धीरे-धीरे भारतीयों को यह विश्वास हो चला कि अंग्रेज हमारे शुभेच्छु नहीं, बल्कि हमारे शरीर के रक्त की अंतिम बूंद तक को चूसने वाले हैं। क्रूर मुस्लिम शासकों के अत्याचारों से पीड़ित जीवन से मृत्यु को ही बेहतर मानने वाली भारतीय जनता को इन्होंने स्वच्छ जीवन नहीं दिया, बल्कि पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति की ऐसी नशीली पेय वस्तु दी, जिसमें शताब्दियों तक

भारतीयों की निद्रा समाप्त न हो, ताकि वे मनमाने तरीके से लूट खसोट कर सकें।

भारतीय जनता के समक्ष अंग्रेजों की चालों का इस प्रकार भंडा फूटने पर उनके क्रोध की सीमा न रही, उनके अंतःकरण में असंतोष का ज्वार उठने लगा। दूसरी ओर उसे दबाने के लिये सरकार ने दमन का सहारा लिया। अंग्रेजों के कुशासन तथा दमन के खिलाफ सन 1857 में भयंकर विद्रोह हुआ, जिसे बड़ी निर्ममता के साथ दबा दिया गया। भारतीयों को इस विद्रोह का बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा, उन्हें अनेक यातनाएं सहन करनी पड़ीं, किंतु परिणाम यह हुआ कि विद्रोह के समय तथा उसके बाद भी अंग्रेजों द्वारा किये गये अत्याचारों की कटु-स्मृतियां भारतीयों के निश्छल हृदय में सदा के लिये पत्थर की लकीर-सी अंकित हो गयी, उनके मन में अंग्रेजों के प्रति व्यापक घृणा फैल गयी तथा सारे देश में राष्ट्रीयता की लहर-सी दौड़ पड़ी। इस विद्रोह का मूल्यांकन करते हुए डा० पट्टाभि सीता रमय्या ने लिखा है :

'इससे यह प्रतीत होता है कि यह आंदोलन 1757 के प्लासी युद्ध के बाद सौ वर्षों तक भारत में जो कुछ घटनाएं घटती रहीं, उसके परिणाम का द्योतक था। यही नहीं, बल्कि यह प्रत्येक प्रदेश और जाति के मानव-हृदय की इस प्राकृतिक अभिलाषा को भी सूचित करता था कि हम अपने ही लोगों द्वारा शासित हों, दूसरों द्वारा हर्गिज नहीं।'[9]

वस्तुतः सन 1857 का आंदोलन दासता के विरुद्ध स्वतंत्रता का पहला आंदोलन था। यह आंदोलन यद्यपि संगठन और एकता के अभाव के कारण असफल रहा, पर इसने भारतवासियों के हृदय में स्वतंत्रता की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न कर दी।[10] अब भारतवासियों के हृदय में अंग्रेजों के प्रति किसी भी प्रकार की श्रद्धा या सहानुभूति न रही, बल्कि प्रतिकार की एक विशिष्ट भावना पैदा हो गयी। यह भावना जितनी तीव्र होती गयी राष्ट्रीयता को उतना ही बल मिलता गया। परिणामस्वरूप अखिल भारतीय स्तर पर विविध आंदोलन शुरू हुए। स्वराज्य की मांग के साथ विदेशी सामानों के बहिष्कार तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग के लिये व्यापक आंदोलन चल पड़े। इन आंदोलनों की ध्वनि से भारत की संपूर्ण दिशाएं तो गुंजरित हो ही उठीं, साथ ही तत्कालीन भारतीय साहित्य और उनमें भी विशेषतः हिंदी साहित्य मुखरित हो उठा।

स्वदेशी आंदोलन के अंतर्गत सभी स्वदेशी वस्तुओं का स्वागत किया गया और उनकी मांग बढ़ती गयी। स्वदेशीपन की इस उत्कट अभिलाषा के प्रभाव से भाषा क्षेत्र भी आंदोलित हो उठा। उस समय देश के एक कोने से दूसरे कोने तक राष्ट्रीयता की ऐसी लहर दौड़ पड़ी थी कि दक्षिण से लेकर उत्तर भारत तक के

सभी प्रांतों के नागरिकों को स्वदेशी भाषाओं के प्रयोग में एक विशिष्ट प्रकार की राष्ट्रीय गरिमा दिखायी पड़ी। 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल'[11] जैसी भावना से उनका हृदय आह्लादित हो उठा था। अब अंग्रेजी भारतीय नेताओं व भारतीय जनता को वैसे ही काटने दौड़ती थी, जैसे अंग्रेजी शासन। राजनीतिक पराधीनता और अंग्रेजी की मानसिक गुलामी दोनों का मूल्यांकन एक ही तुला पर होने लगा था। पराधीनता के स्थान पर स्वाधीनता तथा अंग्रेजी की गुलामी के स्थान पर स्वदेशी भाषाओं की स्वच्छ व ताजी हवा भारतीयों के जीवन की अमूल्य मणि बन गयी थी। स्वाधीनता संघर्ष के साथ निज भाषा का आंदोलन दिनों दिन जोर पकड़ता गया और अंग्रेजी, जिसने विविध भारतीय क्षेत्रों पर अन्यायपूर्वक अधिकार जमा लिया था, क्रमश खिसकने लगी तथा भारतीय भाषाओं को यथेष्ट स्थान मिलने लगा। 'निज भाषा-आंदोलन' की क्रिया, प्रतिक्रिया, तंत्र आदि की विवेचना के पहले तत्कालीन भारत में भाषाओं की स्थिति की संक्षिप्त चर्चा अपेक्षित है।

ब्रिटिश शासनकालीन भारत में भाषा स्थिति

राजभाषा

भारतीयों की इच्छा के प्रतिकूल, उनके द्वारा कई बार विरोध करने के बावजूद अंग्रेजों की सफल भाषा नीति के कारण अंग्रेजी समस्त भारत में राजकाज तथा शिक्षा के माध्यम के रूप में छा गयी थी। यदि इससे राजभाषा का कोई क्षेत्र अछूता बच गया था, तो वह था सिर्फ भारत की निचली अदालतों का, जहां पर कुछ हद तक भारतीय प्रादेशिक भाषाओं का अधिकार था और यह भी अनेक आंदोलनों का ही परिणाम था। इस संदर्भ में यह भी कह देना आवश्यक है कि जहां अन्य प्रादेशिक भाषाओं को अपने प्रदेश की छोटी अदालतों में यह अधिकार प्राप्त था, वहीं हिंदी प्रदेश में हिंदी इस अधिकार से वंचित थी, इस पद पर उर्दू को अनधिकृत रूप में बिठाया गया था, जिसके खिलाफ हिंदी का आंदोलन जारी था।

संपर्क भाषा

अंग्रेजों की संपर्क भाषा अंग्रेजी थी। यदा-कदा अंग्रेजों को कम पढ़े-लिखे अथवा अंग्रेजी से अनभिज्ञ भारतीयों से बातचीत करनी पड़ती थी, तब वे टूटी फूटी हिंदी बोलकर काम चलाते थे। वे इस तथ्य से भलीभांति परिचित थे कि हिंदुस्तानी (हिंदी) ही एक ऐसी भाषा है, *जिसे कम या अधिक सभी भारतीय समझते हैं।*[12] अंग्रेजों के प्रशिक्षित सरकारी कर्मचारी तथा अंग्रेजी पढ़े-लिखे शिक्षित भारतीयों की संपर्क भाषा अंग्रेजी ही हो चली थी। फिर भी ये पढ़े लिखे लोग अपनी मातृ-भाषा को कम महत्व नहीं देते थे। एक भाषा-भाषी आपस के व्यवहार के लिए

अधिकतर अपनी ही मातृभाषा का प्रयोग करते थे। किन्तु इतर भाषा-भाषी भारतीयो अथवा अंग्रेजो आदि से विचार विनिमय करते समय अंग्रेजी का ही सहारा लेते थे।

इन शिक्षित भारतीयों के अतिरिक्त सामान्य जनता की अखिल भारतीय संपर्क भाषा, जिसे राष्ट्रभाषा भी कहा जा सकता है, हिंदी थी। एक प्रांत के लोग दूसरे प्रांत के लोगों से इसी भाषा के माध्यम से विचार-विमर्श तथा संपर्क स्थापित करते थे।

प्रादेशिक स्तर पर विभिन्न प्रादेशिक भाषाएं अपने-अपने प्रदेश में विचार-संपर्क का कार्य करती थीं।

साहित्यिक भाषा

साहित्य-भाषा के रूप में भी अंग्रेजी का विशेष मूल्य था। ज्ञान-विज्ञान संबंधी सभी जानकारी प्रायः इसी भाषा के जरिए प्राप्त होती थी। इसके अतिरिक्त हिंदी, बंगला, गुजराती, मराठी, आदि आर्य भाषाएं तथा दक्षिण की द्रविड़ भाषाएं सशक्त साहित्यिक भाषाएं थी। अपने व्यापक रूप में हिंदी हिंदी प्रदेश ही नहीं, अपितु समस्त भारत में मुस्लिम शासनकाल से ही साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयुक्त होती थी और यह क्रम आज भी जारी था। किन्तु जहां तक खड़ी बोली हिंदी का प्रश्न है, यह हिंदी प्रदेश में एक मात्र हिंदी गद्य की भाषा स्वीकृत हो चुकी थी, पर पद्य की भाषा के लिए ब्रजभाषा के साथ इसका संघर्ष चल रहा था।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अंग्रेजी भारत की राजभाषा, पढ़े-लिखे भारतीयो के बीच की संपर्क भाषा तथा साहित्यिक भाषा थी। विभिन्न प्रादेशिक भाषाएं अपने-अपने प्रदेशों की साहित्यिक भाषा, संपर्क भाषा एवं अदालती भाषा थी। परंतु हिंदी का क्षेत्र अपेक्षाकृत व्यापक था। वह अपने प्रदेश की साहित्यिक एवं संपर्क भाषा तो थी ही, साथ ही अखिल भारतीय संपर्क भाषा (राष्ट्रभाषा) के गौरव से मंडित थी। यह गौरव इसे मध्यदेशीय भाषा की महती भाषा परंपरा से प्राप्त था। इस पद पर मुगलों के शासनकाल में न तो फारसी ही प्रतिष्ठित हो पायी थी और न बहुत-कुछ चाहने पर अंग्रेजी ही इस पद को प्राप्त कर सकी।

निज भाषा आंदोलन : तात्पर्य और क्षेत्र

इस बात की चर्चा पहले ही की जा चुकी है कि स्वाधीनता संघर्ष के साथ निज भाषा का आंदोलन बड़ी तेजी से चल रहा था। किसी भी संघर्ष अथवा आंदोलन का सापेक्ष महत्व होता है। या यों कहें कि कोई भी संघर्ष आंदोलन किसी-न-किसी प्रतिक्रिया का द्योतक होता है। अब इस संदर्भ में सबसे स्वाभाविक प्रश्न उठाया जा सकता है या उठ सकता है वह यह कि किस सत्ता

अथवा किस भाषा के खिलाफ उक्त संघर्ष एवं आंदोलन चल रहे थे ? इसका सीधा सा उत्तर यह होगा कि यह संघर्ष ब्रिटिश शासन के विरुद्ध स्वशासन, परराज्य के विरुद्ध स्वराज्य, परतंत्रता के स्थान पर स्वतंत्रता अथवा पराधीनता के स्थान पर स्वाधीनता का संघर्ष था। इसी प्रकार निज भाषा का आंदोलन भी अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषा के खिलाफ स्वदेशी (भारतीय) भाषाओं का आंदोलन था। इसे मात्र हिंदी का आंदोलन कहना एकांगी दृष्टि का परिचायक होगा। हां, यह जरूर है कि हिंदी भाषा के माध्यम से इस आंदोलन को सबसे अधिक मुखरित होने का अवकाश मिला। इस संघर्ष अथवा आंदोलन को लेकर हिंदी साहित्यकारों ने राष्ट्रीयता की जो पावन धारा हृदय से लेकर सर्वांग भारतीय शरीर में प्रवाहित की, उस सीमा तक इतर भाषा भाषी साहित्यकार राष्ट्रीय चेतना जगाने में समर्थ न हो सके।

अंग्रेजी भाषा ने मुख्य रूप से भारतीय भाषाओं के दो क्षेत्रों को दबा लिया था। पहला था राजभाषा का और दूसरा संपर्क भाषा का। राज भाषा के अंतर्गत अंग्रेजी का प्राय एकाधिकार ही था। प्रांतीय प्रशासनिक एवं शैक्षणिक कार्यों से लेकर अखिल भारतीय शासन एवं शिक्षा तक इसकी पहुंच थी। यह सच्चे अर्थों में तत्कालीन भारत की राजभाषा हो चुकी थी। किन्तु संपर्क भाषा के रूप में इससे प्रभावित क्षेत्र अत्यंत सीमित था। अंग्रेजों जिनसे इस संदर्भ में कुछ लेना-देना नहीं है, के अतिरिक्त थोड़े से सरकारी कर्मचारी एवं मुट्ठी भर पढ़े-लिखे भारतीयों की यह संपर्क भाषा हो चली थी। शेष सब-का-सब अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा का क्षेत्र स्वदेशी भाषा हिंदी के कब्जे में था। इस रूप में यह बहुत पहले से ही भारत की राष्ट्रभाषा हो चुकी थी।

अत भारतीय नेताओं ने जब ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ स्वाधीनता संघर्ष छेड़ा, तब राष्ट्र गौरव की भावना ने उन्हें विदेशी भाषा के विरुद्ध स्वदेशी भाषाओं के आंदोलन की भी प्रेरणा दी। फलस्वरूप निज भाषा का आंदोलन साकार हो उठा। यह आंदोलन सिर्फ एक भाषा का आंदोलन नहीं था, बल्कि भारत की विविध प्रादेशिक भाषाओं का आंदोलन था। इतना अवश्य है कि सभी भारतीय भाषाओं का अपना क्षेत्र और अपना अधिकार अलग-अलग था। किसी भी प्रदेश के अंतर्गत प्रशासन, शिक्षा संपर्क आदि जिन जिन क्षेत्रों में अंग्रेजों ने अधिकार जमा लिया था, उन-उन क्षेत्रों में उस प्रदेश की भाषा का अधिकार दिलाने के लिए यह आंदोलन चलाया गया था। किन्तु निज भाषा के रूप में चलाया गया हिंदी का आंदोलन क्षेत्र और प्रभाव की दृष्टि से थोड़ा भिन्न था। भिन्नता इस बात में थी कि जहां हिंदी आंदोलन का उद्देश्य समस्त हिंदी प्रदेश में प्रशासनिक एवं शिक्षण आदि कार्यों के माध्यम के रूप में हिंदी को अपनाया जाना था, वहीं अखिल भारतीय प्रशासन एवं शिक्षा आदि क्षेत्रों में अंग्रेजी को हटाकर हिंदी को बिठाना तथा अंग्रेजी

पढ़े-लिखे भारतीयों के बीच अंग्रेजी के स्थान पर सपर्क भाषा के रूप में हिंदी को लाना भी था।

निष्कर्ष यह कि अन्य प्रादेशिक भाषाओं की तुलना में हिन्दी का उत्तरदायित्व व्यापक था। प्रादेशिक भाषाओं के संदर्भ में जहां यह आंदोलन उन-उन प्रदेशों की राजभाषा तक सीमित था, वहां हिंदी के संदर्भ में यह हिंदी प्रदेश के अतिरिक्त प्रादेशिक स्तर से ऊपर उठकर अखिलदेशीय अर्थात केंद्रीय राजभाषा एवं शिक्षित भारतीयों की सपर्क भाषा तक व्याप्त था। इस आंदोलन के सिलसिले में भारतीय नेताओं ने हिंदी को नाजायज महत्व दिया हो, ऐसी बात नहीं। हर-एक क्षेत्र में अंग्रेजी के स्थान पर स्वदेशी भाषाओं को लाना उनका उद्देश्य था, जो भारतीय भाषाएं जिस स्थान विशेष के लिए योग्य थी, उन्हें वह स्थान दिलाने का प्रयास किया गया। यह हिंदी की अपनी निजी योग्यता थी कि उसे प्रादेशिक राजभाषा के साथ अखिल देशीय (केंद्रीय) राजभाषा व विचार विनिमय के लिए अंग्रेजी का प्रयोग करने वाले भारतीयों की सपर्क भाषा बनाने के लिए व्यापक आंदोलन किया गया। यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाए तो हिंदी की यह योग्यता उसके अखिल भारतीय सपर्क भाषा के रूप में दिखायी पड़ेगी। अत स्पष्ट है कि स्वाधीनता संघर्ष के साथ 'निजभाषा' के रूप में 'हिंदी-आंदोलन' का क्षेत्र एवं उद्देश्य निम्नांकित रहा है।

प्रादेशिक राजभाषा

हिंदी प्रदेश में संपूर्ण प्रशासनिक कार्य अंग्रेजी के माध्यम से किया जा रहा था। इसलिए राष्ट्र गौरव से अनुप्राणित भारतीयों द्वारा हिंदी को समस्त प्रदेश की राजभाषा बनाने के लिए इस आंदोलन का श्रीगणेश किया गया।

केन्द्रीय राजभाषा

एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश का प्रशासनिक सम्बन्ध अंग्रेजी द्वारा स्थापित हो रहा था, साथ ही ब्रिटिश सरकार की अपनी केन्द्रीय राजभाषा अंग्रेजी थी। अतः इन कार्यों के लिए केन्द्रीय राजभाषा के रूप में हिन्दी का व्यवहार किया जाय, आन्दोलन का यह अन्यतम उद्देश्य था।

सम्पर्क भाषा

यों तो अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा हिन्दी थी, किन्तु कुछ भारतीय ऐसे थे जो अंग्रेजी पढ़े-लिखे तथा शिक्षित थे और आपस में अंग्रेजी माध्यम से ही विचारों का आदान-प्रदान करते थे। इसमें आत्म-गौरव एवं राष्ट्र गौरव की भावना को धक्का लगता था। अत हिंदी को इन शिक्षितों की भी सम्पर्क भाषा बनाना हिन्दी

आन्दोलन का लक्ष्य था।

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य प्रकाशित होता है कि स्वाधीनता संघर्ष के साथ ही हिन्दी के लिए जो आन्दोलन चलाया गया वह राजभाषा हिन्दी का आन्दोलन ठहरता है, राष्ट्रभाषा का नहीं। किन्तु अधिकांश विद्वानों ने इस आन्दोलन को राष्ट्रभाषा हिन्दी का आन्दोलन कहा है। अब बात यह उठती है कि आखिरकार सही क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान के वास्ते इतना ही कह देना पर्याप्त है कि विद्वानों के इस कथन का तात्पर्य हिन्दी के उस व्यापक रूप से है, जहां पर राष्ट्रभाषा व राजभाषा का अलग-अलग स्वरूप निर्धारित न किया गया हो। परन्तु यथार्थ की पृष्ठभूमि पर वैज्ञानिक तरीके से यदि राष्ट्रभाषा और राजभाषा को अलग अलग करके विचार किया जाएगा तो हिन्दी का यह आन्दोलन राजभाषा के सन्दर्भ में ही किया गया सिद्ध होगा। क्योंकि इसका क्षेत्र राजभाषा का क्षेत्र है, न कि राष्ट्रभाषा का, राजभाषा अंग्रेजी के विरोध में ही इस आन्दोलन की शुरुआत हुई है, किसी राष्ट्रभाषा के नहीं, और अन्ततोगत्वा स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद स्वतन्त्र भारत के संविधान में हिन्दी को राजभाषा का ही पद दिया गया है, राष्ट्रभाषा का नहीं। और यही स्वाभाविक भी है, क्योंकि किसी भी भाषा को राष्ट्रभाषा का पद सप्रयास नहीं दिया जा सकता। यदि ऐसी बात होती तो भला बताइये मुसलमान शासकों ने फारसी के लिए और अंग्रेजों ने अंग्रेजी के लिए क्या कम कोशिश की थी ? उन्होंने की थी और जी जान से की थी। पर कभी भी न तो फारसी अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा अर्थात् राष्ट्रभाषा हो सकी और न अंग्रेजी ही। हां, वे शासक थे, इसलिए फारसी व अंग्रेजी को भारत की राजभाषा कहलाने का गौरव जरूर मिला। राष्ट्रभाषा का पद तो ऐसा है जिसे किसी भाषा को दिया नहीं जा सकता, बल्कि किसी भी देश अथवा राष्ट्र की कोई भी भाषा अपनी आन्तरिक शक्ति के कारण स्वराष्ट्र में ही इस पद को स्वतः प्राप्त कर लेती है और वह भी तब, जब अखिल राष्ट्रीय सम्पर्क भाषा के रूप में व्यवहृत होने लगती है।

यदि राष्ट्रभाषा हिन्दी पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि हिन्दी को यह पद किसी के द्वारा दिया नहीं गया है, बल्कि मध्यदेश की महती भाषा परम्परा में जन्म लेने के कारण यह अपनी आत्मिक शक्ति द्वारा इस पद पर स्वतः प्रतिष्ठित हुई है।[13] अन्यथा जन्म से लेकर यौवन तक इस भाषा को जिन जिन संघर्षों का मुकाबला करना पड़ा है, उनके मध्य किसी भी भाषा का जीवित रहना ही बड़ा मुश्किल था। फिर यह भाषा मुस्लिम शासन काल में ही बोलचाल व दैनिक व्यवहार के रूप में अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा रही है हां, यह जरूर था कि उस समय अन्य भाषाओं की तुलना में साहित्यिक वैभव इसके पास नहीं के बराबर था।[14] और यह भी सत्य है कि स्वाधीनता संघर्ष के बीच राजभाषा के सन्दर्भ में किये गये आन्दोलन के मध्य साहित्यिक दृष्टि से यह अपूर्व समृद्धिशालिनी हुई।

निष्कर्ष यह कि अंग्रेजी के खिलाफ निज भाषा के रूप मे हिन्दी आन्दोलन 'राजभाषा हिन्दी का आन्दोलन था', इसे 'राष्ट्रभाषा का आन्दोलन' कहना समीचीन नही। चूकि इस आन्दोलन के मध्य हिन्दी की सर्वांगीण उन्नति हुई, वह एक सफल विचार विनिमय की भाषा के साथ साहित्यिक दृष्टि से अप्रतिम समृद्धिशालिनी भाषा बन गई और इस देश की राष्ट्रभाषा (अखिल देशीय सम्पर्क भाषा) हिन्दी ही थी, कोई दूसरी नही, इसलिए इस आन्दोलन को राजभाषा के सन्दर्भ मे हिन्दी अथवा राष्ट्रभाषा हिन्दी का आन्दोलन भी कहा जा सकता है।

हिन्दी आन्दोलन के आधार

स्वाधीनता सघर्ष के साथ 'पर' के स्थान पर 'स्व' को देखने की उत्कट अभिलाषा के फलस्वरूप अंग्रेजी के खिलाफ चल रहे हिन्दी-आन्दोलन को विभिन्न सस्थाओ द्वारा मदद मिली। जिन्हे हम सुविधा के लिए 'आधार' की सज्ञा दे सकते हैं। ऐसे आधारो को मुख्यत तीन वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है

1 धार्मिक एव सामाजिक सस्थाए,
2 राजनीतिक सस्थाए,
3 साहित्यिक सस्थाए।

धार्मिक एव सामाजिक सस्थाए

उन्नीसवी शती के दूसरे दशक के मध्य भारत म सरकारी तौर पर ईसाई पादरियो को ईसाई धर्म के प्रचारार्थ पूर्ण छूट मिल चुकी थी। उन दिनो ईसाई धर्म प्रचारक भारतीयों को अपने धर्म मे दीक्षित करने की कामना स अपने धर्म की उदारता के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन के साथ हिन्दू धर्म की निन्दा किया करते थे। पादरियो द्वारा हिन्दू धर्म की की गई निन्दा सारहीन रही हो, ऐसी बात नही। अति प्राचीन युग से चले आते हुए इस धर्म मे समय की गति के साथ विविध सस्कृतियो के मेल एव बदलते हुए सामाजिक मानदण्डो के फलस्वरूप जात पात, छुआछूत, परदा प्रथा, बाल विवाह, सती प्रथा आदि से सम्बन्धित अनकानेक विकृतिया आ गई थी। निरीह हिन्दू जनता स्वधर्म का परित्याग कर विजातीय धर्म स्वीकार करने लगी थी। ऐसे समय मे नई शिक्षा से प्रभावित, नवीन चेतना को आत्मसात् करने वाले अनेक भारतीय विचारको एव समाज सुधारको का हृदय आन्दोलित हो उठा। उन्होंने नैतिक मूल्यो के आधार पर धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया को रोकने एव हिन्दू धर्म की विकृतियो को दूर कर उसे स्वच्छ रूप प्रदान करने की आकाक्षा से विविध सामाजिक व धार्मिक आन्दोलनो का सूत्रपात किया और तत्सबन्धी सस्थाओ की स्थापना भी की। इनमे ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज आर्यसमाज, थियोसोफिकल सोसाइटी, रामकृष्णमिशन, सनातनधर्म सभा, राधास्वामी

सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं।

ब्रह्म समाज

आधुनिक भारत में नव चेतना के अग्रदूत, राजनीतिक जागृति के सूत्रधार राजा राममोहन राय को जब इस बात का पता चला कि ईसाई धर्म के प्रचार के फलस्वरूप भारतीयों की मनोवृत्ति बदलने लगी है, वे यूरोपीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति को उच्चतर तथा महान् मानकर धर्म परिवर्तन की दिशा की ओर बढ़ चले हैं, तब उन्होंने समसामयिक विचारों के प्रचारार्थ तथा समाज में पुनर्गठन के लिए सन् 1828 में कलकत्ते में 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना की। इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य हिन्दू धर्म में स्थानापन्न कुरीतियों को दूर कर उसे सर्वसुलभ तथा सुग्राह्य बनाना था। संस्था के उद्देश्यों का तत्कालीन अनेक विचारकों ने समर्थन किया तथा इसके प्रचार में योग दिया। इनमें महर्षि देवेन्द्रनाथ, प्रसन्न कुमार, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भूदेव मुखर्जी, नवीनचन्द्रराय आदि का नाम बड़े आदर के साथ लिया जा सकता है।

धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से ब्रह्म समाज का अति उच्च स्थान है। इसने सामाजिक समानता तथा स्त्रियों के उद्धार के लिए महान् कार्य किये। इसका तत्कालीन राजनीतिक वातावरण पर भी अक्षुण्ण प्रभाव पड़ा। इसने देश में राष्ट्रीय भावना को जगाने, राजनीतिक चेतना को गतिशील बनाने में विशेष सफलता प्राप्त की। अपने विचारों के प्रचार के लिए इस संस्था को अखिल देशीय सम्पर्क भाषा हिन्दी का आश्रय लेना पड़ा।

ब्रह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय (सन् 1774-1833) के व्यक्तित्व में पूर्व तथा पश्चिम दोनों का मणि-कांचन योग था। आरम्भ से ही उनका झुकाव प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं वेदों तथा उपनिषदों में सम्पादित दर्शन की ओर था। इसके साथ ही राजा राममोहन राय का दृष्टिकोण पश्चिम के बुद्धिवाद तथा आधुनिक विचारधारा से भी प्रभावित था।"'उनकी आधुनिकता ने उन्हें रूढ़िवाद, निरर्थक धर्मान्धता और कर्मकांड से ऊपर उठने की प्रेरणा दी और समयानुकूल पाश्चात्य विचारों का स्वागत करने को विवश किया। उधर उनके भारतीय संस्कारों ने अपने देश की संस्कृति पर गर्व करने के लिए प्रेरित किया।'[15] राजा साहब आधुनिक भारत के निर्माता तथा राष्ट्रीय चेतना के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। उन्हें नवयुग की प्रति मूर्ति तथा प्रतीक तो माना ही जाता है। यद्यपि वे अंग्रेजी भाषा के प्रबल समर्थक थे, फिर भी अपने राष्ट्रीय हित के कार्यों में हिन्दी को सर्वोपरि स्थान देते थे। भाषा के सन्दर्भ में उनका यह निर्विवाद मत था कि यदि अखिल भारतीय भाषा बनने की पूर्ण क्षमता किसी भी भाषा में है तो वह सिर्फ हिन्दी में ही है।[16] राजा राममोहन राय स्वयं हिन्दी

में लिखते थे और दूसरों को भी प्रोत्साहित करते थे। उन्होंने कलकत्ता से सन् 1826 ई० में 'बंगदूत' नामक एक पत्र निकाला था, जिसमें हिन्दी, बंगला, अंग्रेजी और फारसी इन चार भाषाओं में पृष्ठ रहा करते थे।

राजा राममोहन राय के जमाने में कट्टर पुरातन पंथियों का जोर था। इन कट्टर पुरातन पंथियों से उनका बराबर वाद विवाद होता रहता था। अपने विचारों के प्रतिपादनार्थ उन्हें ब्राह्मणों से कई बार शास्त्रार्थ भी करने पड़े थे, जिनके विज्ञापन तथा प्रकीर्णक आदि वे सदा हिन्दी में ही छपवाते थे। राजा राममोहन राय के इस हिन्दी प्रेम से हिन्दी के विकास के लिए ऐसा मार्ग प्रशस्त हुआ, जिस पर चलकर अन्य संस्थाओं एवं नेताओं ने देश में हिन्दी का व्यापक प्रचार किया।

ब्रह्म समाज के प्रसिद्ध नेता नवीनचन्द्र राय ने समाज के सिद्धान्तों एवं विचारों का प्रचार करते हुए हिन्दी की अमूल्य सेवा की। इनके द्वारा पंजाब में चलाये गए समाज सुधार सम्बन्धी आन्दोलन का माध्यम हिन्दी ही रही। इन्होंने लाहौर से हिन्दी में दो पत्रिकाएं भी निकाली थी, जिसमें 'ज्ञान प्रदायिनी' (सन् 1867) प्रथम थी। यद्यपि इन पत्रिकाओं का मुख्य उद्देश्य ब्रह्म समाज की विचारधारा को प्रवाहित करना तथा उसके प्रति लोगों का ध्यान आकृष्ट करना था, फिर भी इससे हिन्दी को बड़ा बल मिला। नवीन बाबू के प्रयास के फलस्वरूप पंजाब में नवीन जागरण की जो लहर दौड़ी, उसमें हिन्दी में पुनर्जीवन आ गया और उसने पंजाबी और उर्दू के साथ मिलकर आगे बढ़ना शुरू किया। इतना ही नहीं, उन्नीसवीं शती के हिन्दी-उर्दू-विवाद में भी उन्होंने हिन्दी का जमकर समर्थन किया।

भूदेव मुखर्जी की सेवाएं भी हिन्दी जगत में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। बिहार में हिन्दी में पाठ्य पुस्तकों के प्रचलन तथा वहां की अदालतों में हिन्दी नागरी के प्रवेश का बहुत कुछ श्रेय मुखर्जी साहब को ही है। आप हिन्दी के कट्टर समर्थक तो थे ही, साथ ही आपका यह दृढ़ विश्वास था कि हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो अखिल देशीय सम्पर्क भाषा होने की पूर्ण क्षमता रखती है। अपनी इस धारणा का अनुमोदन मुखर्जी साहब ने अपनी पुस्तक 'आचार प्रबन्ध' में बड़े प्रभावशाली ढंग से किया है।

ब्रह्म समाज के अन्यतम नेता केशव चन्द्र सेन भी हिन्दी के प्रबल समर्थकों में से थे। सन् 1875 के 'सुलभ समाचार' के अंक में केशव बाबू ने हिन्दी को भारत की सर्वाधिक प्रचलित भाषा स्वीकार किया, साथ ही उसे भारत की एकता के लिए परमावश्यक बतलाया। इन्हीं की प्रेरणास्वरूप महर्षि दयानन्द ने भी हिन्दी में व्याख्यान देना प्रारम्भ किया और हिन्दी में 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना की।

प्रार्थनासमाज

उन्नीसवी शताब्दी मे उदीयमान हिन्दी को प्रोत्साहन देने वाली धार्मिक व सामाजिक संस्थाओ मे प्रार्थना समाज भी एक है। इस संस्था का उदय सन् 1867 म बम्बई मे उन्ही उद्देश्यो को लेकर हुआ, जिन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए कलकत्ते मे 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना हुई थी। एकेश्वरवाद का प्रचार तथा तत्कालीन भारतीय समाज मे पाई जाने वाली कुरीतियो को दूर कर उसे स्वस्थ रूप प्रदान करना इस संस्था का अन्यतम उद्देश्य था। 'प्रार्थनासमाज' की स्थापना के पूर्व सन् 1949 म महाराष्ट्र मे 'परमहंस सभा' की स्थापना हुई थी, किन्तु इसे वांछित सफलता न मिल सकी। बाद म चलकर श्री केशवचन्द्र सेन के बम्बई आगमन पर इस संस्था तथा इसके नेताओ को बड़ा बल मिला। श्री सेन के व्यक्तित्व एव ओजस्वी भाषणो का यहा के शिक्षित लोगो पर बडा गहरा प्रभाव पडा। अब क्या था, पहले से ही विद्यमान सामाजिक चेतना को सुनिश्चित मार्ग मिल गया, समाज सुधार सम्बन्धी आन्दोलन की गति तेज हो गई। इस नवोदित आन्दोलन के फल-स्वरूप 'परमहंस सभा', 'प्रार्थनासमाज' के रूप मे बदल गई। श्री डी० एन० बनर्जी ने लिखा है

'वस्तुत प्रार्थना समाज पर केशव चंद्र सेन के धर्मगुरुत्व की छाप लगी है, क्योकि उन्होने ही विचारशील लोगो का ध्यान धर्म को उदार बनाने और उन लोगो मे सुधार के लिये उत्साह भरने की आवश्यकता पर जोर दिया, जो अंध रीति रिवाज, जात-पात और पंडा पुरोहितो म विश्वास रखते थे।'[17]

प्रार्थनासमाज के नेताओ मे महादेव गोविंद रानडे, नारायण चंदावरकर, आर० जी० भंडारकर बडे लोकप्रिय रहे हैं। हिंदू धर्म म आमूल सुधार, अछूतोद्धार, जात-पात के खंडन, स्त्रीशिक्षा, विधवा विवाह आदि उद्देश्यो की पूर्ति के लिय यह संस्था विशेष प्रयत्नशील रही। इसने अनेक अनाथालयो, कन्या पाठशालाओ, विधवाश्रमों की स्थापना की। आधुनिक शिक्षा के प्रचार एव राष्ट्रीय चेतना के प्रसार मे इन संस्थाओ को आशातीत सफलता मिली। यद्यपि क्रियात्मक रूप से हिंदी भाषा क विकास मे इसका कोई विशेष योगदान तो नही रहा, फिर भी साप्ताहिक प्रवचनो आदि के माध्यम से यत्र-तत्र हिंदी का प्रचार अवश्य हुआ। संस्था के प्रमुख नेता महादेव गोविंद रानाडे के भजन विचारो का तत्कालीन हिंदी-साहित्य पर अक्षुण्ण प्रभाव पडा।

आर्यसमाज

उन्नीसवीं शताब्दी में होने वाले धार्मिक व सामाजिक आंदोलनों में आर्य समाज का सर्वोपरि स्थान है। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती ने वैदिक धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति के प्रचारार्थ सन् 1875 में बंबई में इस संस्था की स्थापना की। इसकी स्थापना से हिंदी को अपूर्व बल मिला। आर्य समाज के पूर्व ब्रह्मसमाज के दो प्रसिद्ध समाज सुधारक राजा राममोहन राय तथा ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने समाज सुधार की दृष्टि से अतीव महत्वपूर्ण कार्य किये थे। किंतु इनका प्रचार क्षेत्र मुख्यतः बंगाल ही रहा। ब्रह्मसमाज के द्वारा जो सामाजिक क्रांति हुई, उसका प्रभाव जन साधारण के जीवन की अपेक्षा शिक्षित समुदाय पर ही अधिक पड़ा। यद्यपि ब्रह्मसमाज ने अखिल भारतीय संपर्क भाषा हिंदी को भी महत्व दिया, फिर भी उसकी अधिकांश कार्यवाही अंग्रेजी में हुआ करती थी। उसका बौद्धिक स्तर भी काफी ऊंचा था। यही कारण था कि उसके प्रचार में वह व्यापकता न आ पायी, जो आगे चलकर आर्य समाज में देखी गयी।

धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं में आर्य समाज ही वह सर्वप्रथम संस्था है जिसने अखिल भारतीय स्तर पर स्वभाषा, स्वधर्म, स्वदेश एवं स्वराज्य का व्यापक आंदोलन किया। उसके द्वारा स्वभाषा के लिये किया गया आंदोलन राजभाषा राष्ट्रभाषा हिंदी के विकास में एक महत्वपूर्ण कड़ी सिद्ध हुआ है। आर्य समाज का सारा कार्य हिंदी में ही होता था। इसके अनुयायी हिंदी को 'आर्यभाषा' के नाम से पुकारते थे। आर्यसमाज के 28 नियमों में से पांचवें के अनुसार समाज सदस्यों के लिये 'आर्यभाषा' का ज्ञान अनिवार्य था। दयानंद जी के वैदिक धर्म रक्षा एवं समाज सुधार संबंधी जो भी उपदेश हुआ करते थे, उनका जन सामान्य से सीधा संबंध रहता था तथा उपदेशों की वाणी जन साधारण की वाणी (हिंदी) हुआ करती थी। स्वामी जी की इस व्यावहारिक सूझबूझ का ही यह परिणाम था कि आर्यसमाज को अखिल भारतीय व्यापकता प्राप्त हुई और भारत के छोटे-से-छोटे नगरों, यहां तक कि कहीं-कहीं ग्रामीण अंचलों में भी आर्यसमाज की छोटी-बड़ी विविध शाखायें स्थापित हो गयीं। प्रांतीयता, जातीयता, वर्ग आदि सीमाओं को लांघकर जहां कहीं भी आर्यसमाज की स्थापना हुई, वहीं हिंदी प्रेम उमड़ पड़ा। हजारों नर-नारी इसके सदस्य बने और उन्होंने हिंदी को अपना कंठहार बनाया।

आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों तथा वार्षिक अधिवेशनों आदि में सारा-का-सारा कार्य हिंदी में ही होता था। हिंदी प्रचार के लिये उसने हिंदी पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन, हिंदी सम्मेलनों का आयोजन एवं हिंदी माध्यम से कुछ धार्मिक परीक्षाओं का संचालन जैसे महत्वपूर्ण कार्य किये। आर्य समाज द्वारा उत्तर भारत, विशेषतः पंजाब में हिंदी का कार्य अपेक्षाकृत अधिक व्यापक रूप में

किया गया।[18]

हिंदी को शिक्षा का माध्यम बनाने में भी आर्य समाज अग्रणी रहा है। राजकीय विद्यालयों पर निर्भर न रहकर इसने पंजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार आदि प्रांतों में सैकड़ों शिक्षण संस्थाओं को स्थापित किया। इन शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा का माध्यम प्रायः हिंदी ही रहती थी, जिससे हिंदी को स्वतंत्र फूलने-फलने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस विषय में श्री इंद्रविद्यावाचस्पति का कथन है कि :

'आगे चलकर भी राष्ट्रभाषा-संवर्धन के मैदान में आर्य समाज अग्रगामी बना [illegible] भी मिल गयी।'[19]

आर्य समाज को सबसे अधिक सफलता यदि किसी क्षेत्र में मिली तो वह था नारी-शिक्षा-जगत। स्त्रियों की सामाजिक दशा सुधारने तथा उनमें आत्म-गौरव की भावना जगाने के उद्देश्य से आर्य समाज ने स्त्री शिक्षा पर विशेष बल दिया और इसके लिये एक व्यापक आंदोलन चलाया।[20] फलस्वरूप समस्त भारत में स्त्री शिक्षा की पक्की नींव पड़ी। स्त्री शिक्षा को साकार रूप प्रदान करने के लिये इस संस्था की तरफ से विविध कन्या पाठशालाओं, गुरुकुलों एवं महिला विद्यालयों की स्थापना की गयी। इन शिक्षण संस्थाओं में हिंदी अनिवार्य विषय तो थी ही, साथ ही समस्त विषयों की शिक्षा इसी के माध्यम से दी जाती थी। शिक्षण-संस्थाओं की इस व्यवस्था के फलस्वरूप नारी जगत में हिंदी के विस्तृत प्रचार का अभूतपूर्व कार्य हुआ।

हिंदी प्रचार के क्षेत्र में आर्य समाज द्वारा संपादित पत्र-पत्रिकाओं का योगदान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। अपने विविध उद्देश्यों की पूर्ति के लिये आर्य समाज ने हिंदी के शताधिक पत्र-पत्रिकाओं एवं छोटी-मोटी पुस्तिकाओं का प्रकाशन कराया। प्रथमतः इसकी पत्रिकाएं साप्ताहिक एवं मासिक हुआ करती थीं, किंतु बाद में चलकर (बीसवीं शती के प्रथम चरण में) इस संस्था के द्वारा दैनिक हिंदी समाचार पत्र भी प्रकाशित होने लगे। इन समाचार पत्रों एवं पत्र-पत्रिकाओं द्वारा अपेक्षाकृत हिंदी का विशेष प्रचार एवं प्रसार हुआ।[21]

आर्य समाज ने सिर्फ भारत में ही नहीं, बल्कि भारत से बाहर विदेशों में भी धर्म-प्रचार के साथ हिंदी का प्रचार किया।[22] विदेशों में आर्य समाज के कार्यों का सबसे व्यापक क्षेत्र अफ्रीका रहा। अफ्रीका के विविध प्रदेशों में आर्य समाज द्वारा हिंदी तथा संस्कृत के अध्ययन के लिये अनेक विद्यालय भी खोले गये। केनिया, टांगानिका, डचगायना, ब्रिटिश गायना, फीजी, मारिशस, लंदन आदि में आर्य

समाज ने हिंदी प्रचार का स्तुत्य कार्य किया।

उन्नीसवीं शती के मध्य एक ओर ईसाई पादरियों ने आर्यसमाज से शत्रुता का साज सजाया था तो दूसरी ओर अपने को सनातनधर्मी कहलाने वाले हिंदू बड़ी कट्टरता के साथ इसका विरोध किया करते थे। फलस्वरूप विविध धर्मावलंबियों से आर्यसमाज के नेताओं का अक्सर वाद-विवाद हुआ करता था, जिसमें एक दूसरे के सिद्धांतों के खंडन एवं अपने सिद्धांतों के मंडन की प्रवृत्ति जागरूक रहा करती थी। कहना न होगा कि यह वाद-विवाद अथवा शास्त्रार्थ हिंदी माध्यम में ही सम्पन्न होता था। अतः खंडन-मंडन की इस प्रक्रिया से हिंदी-आंदोलन को बढ़ावा ही मिला।

आर्यसमाज के जिन नेताओं ने हिंदी की अमूल्य सेवा की उनमें स्वामी दयानंद सरस्वती का स्थान सर्वोपरि है। स्वामी जी के अतिरिक्त श्री भीमसेन शर्मा[23], भाई परमानंद[24], महात्मा हंसराज[25], लाला लाजपत राय[26], स्वामी श्रद्धानंद[27], पंडित पद्मसिंह शर्मा, श्री इंद्र विद्यावाचस्पति का नाम बड़े आदर के साथ लिया जा सकता है। इन सभी नेताओं ने अखिल देशीय संपर्क भाषा हिंदी के सर्वांगीण विकास के लिये अथक प्रयास किया। हिंदी प्रचार के कार्य में स्वामी

में मंडित है।

स्वामी दयानंद सरस्वती

आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानंद (सन 1824-1883 ई०) संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे। गुजरात प्रदेश के निवासी होने के नाते स्वामी जी का अपनी मातृभाषा गुजराती पर भी असाधारण अधिकार था। प्रथमतः स्वामी जी के मत-प्रचार एवं साहित्य का माध्यम संस्कृत थी, किंतु बाद में चलकर ब्रह्म समाज के नेता श्री केशवचंद्र सेन के आग्रह पर स्वामी दयानंद ने हिंदी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया।[28] स्वामी जी के समय प्रचलित हिंदू धर्म तथा सच्चे वैदिक धर्म के बीच एक गहरी खाई पैदा हो गई थी। इस खाई को पाटकर, हिंदू समाज एवं कर्मकांड की विकृतियों को दूर कर एवं विस्तृत ठोस पट पर भूमि पर स्वामी जी ने आर्य समाज की नींव डाली। आर्य समाज के सिद्धांतों के प्रचारार्थ अखिल देश का भ्रमण करते हुए उन्होंने यह अनुभव किया कि हिंदी ही एक ऐसी भाषा है जिसके माध्यम से देश के किसी कोने में आर्यसमाज का संदेश सुनाया जा सकता है। हिंदी के इस सत्य स्वरूप के दर्शन के पश्चात स्वामी जी ने यह घोषणा

की कि प्रत्येक आर्य समाजी को हिंदी की जानकारी रखना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है, आर्य समाज का सारा काम हिंदी में होना चाहिए और इसका समस्त साहित्य भी, क्योंकि हिंदी ही 'आर्यभाषा' (अखिल देश की भाषा) है।

वस्तुतः जिन आंतरिक प्रेरणाओं एवं सिद्धांतों के सहारे चलकर महात्मा बुद्ध एवं स्वामी महावीर ने संस्कृत के स्थान पर लोकभाषा पालि तथा अर्ध-मागधी को अपनी वाणी का परिधान बनाया, कुछ उसी प्रकार की प्रेरणा, कुछ वैसी ही विचारधारा से अनुप्राणित होकर महर्षि दयानंद ने हिंदी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम चुना। जिस प्रकार वल्लभाचार्य आदि आचार्यों एवं कृष्ण भक्तों द्वारा अपनायी जाने पर संपूर्ण भारत में ब्रजभाषा की प्रतिष्ठा हुई, उसी प्रकार जन-जागृति तथा आर्य धर्म के प्रचार के लिए स्वामी दयानंद तथा उनके अनुयायियों द्वारा अपनायी जाने पर हिंदी (खड़ी बोली) के सर्वांगीण विकास का पथ प्रदर्शित हुआ।[29] इतना ही नहीं, 'उस परोक्षदर्शी महर्षि ने लोक को उपदेश का साधन बनाकर न केवल अपने मिशन को लोकप्रिय और व्यापक बना दिया, भविष्य में राष्ट्रभाषा और राजभाषा बनने वाली आर्यभाषा को पुष्टि देकर राष्ट्र के स्वाधीनता-भवन की दृढ़ बुनियाद भी रख दी।'[30] सर्वप्रथम स्वामी जी ने ही देश के समक्ष स्वराज्य के इस मूलमंत्र का उद्‌घोष किया—'कोई कितना ही करे परंतु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है।'[31]

स्वामी जी का हिंदी के प्रति अपूर्व अनुराग था। उनका अद्वितीय वैदिक ज्ञान, प्रबल सुधारवादी ओजस्वी व्यक्तित्व तथा हिंदी के प्रति असाधारण उदारता आदि के द्वारा हिंदी को जो प्रोत्साहन मिला, वह हिंदी भाषा तथा साहित्य के इतिहास में अतुलनीय है। उन्होंने मन, वाणी और कर्म से हिंदी की जो सेवा की, उसमें हिंदी को एक नई गति, एक नई चेतना तथा एक नया स्पंदन व कंपन के साथ नव जीवन मिला। उसमें व्यापकता आई और सबसे बढ़कर उसे लोकप्रियता प्राप्त हुई। एक बार एक भक्त द्वारा स्वामी जी के समस्त ग्रंथों का अनुवाद करने की अनुमति मांगने पर स्वामी जी के हृद् तंत्री से जो ध्वन्यात्मक प्रवाह फूटा, उससे उनका हिंदी-प्रेम तथा उसके प्रति संजोये हुए सुमधुर स्नेहिल स्वप्न साकार हो उठे। अपने प्रिय भक्त को स्वामी जी ने इन शब्दों से संबोधित किया

'भाई, मेरी आंखें तो उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलने लग जायेंगे। जिन्हें सचमुच मेरे भावों के जानने की इच्छा होगी वे इस आर्य भाषा को सीखना अपना कर्त्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करते हैं।'[32]

थियोसोफिकल सोसाइटी

जिन धार्मिक तथा सामाजिक आंदोलनों का भारतीय जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा, उनमें थियोसोफिकल सोसाइटी एक है। इस सोसाइटी की स्थापना 'विश्व-बंधुत्व' की भाव शिला पर सन 1875 ई० में अमरीका में हुई। इसके संस्थापक मदाम ब्लावतस्की तथा कर्नल आलकोट भारतीय दर्शन तथा संस्कृति एवं तत्कालीन भारतीय धार्मिक आंदोलनों से विशेष प्रभावित थे। इन्होंने सन 1879 में सोसाइटी का केन्द्रीय कार्यालय बंबई में स्थापित किया। तत्पश्चात सन 1888 ई० में सोसाइटी का प्रधान अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय अड्यार (मद्रास) में तथा राष्ट्रीय कार्यालय काशी में स्थापित हुआ। तत्कालीन आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज के इस संस्था के सिद्धांतों, उद्देश्यों एवं कार्य प्रणाली में काफी समानता थी। फिर भी इस सोसाइटी पर आर्य समाज की प्रमुखतः स्वामी दयानंद के व्यक्तित्व की गहरी छाप पड़ी। इस सोसाइटी ने स्वामी जी को अपना आध्यात्मिक गुरु स्वीकार किया। प्रथमतः इसे भारत में यथेष्ठ सफलता न मिली। किंतु आगे चलकर सन 1893 में जब श्रीमती एनीबेसेंट ने इस संस्था के सिद्धांतों का प्रचार-कार्य अपने हाथ में लिया, तब संपूर्ण देश में इसका प्रभाव लक्षित होने लगा। अनेकानेक शिक्षित भारतीय इसकी ओर आकर्षित हुए।

शिक्षा के क्षेत्र में इस संस्था ने स्तुत्य कार्य किए। श्रीमती एनीबेसेंट ने सन 1898 में काशी में सेंट्रल हिंदू स्कूल की स्थापना की। इस शिक्षण संस्था में धार्मिक शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता था। इसके पश्चात सेंट्रल हिंदू कालेज तथा हिंदू बालिका विद्यालय की भी स्थापना की गयी। सोसाइटी ने दक्षिण भारत में भी विविध शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में सोसाइटी तथा उसके अनुयायियों द्वारा बहुत सी शिक्षण संस्थाओं, विद्यालयों एवं कालेजों की स्थापना की गई। सोसाइटी की इन शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा के साथ भारतीयता, भारतीय संस्कृति तथा भारतीय भाषाओं पर विशेष बल दिया जाता था। इससे शिक्षा के क्षेत्र में हिंदी को पनपने का अच्छा अवसर मिला। सोसाइटी का यह विश्वास था कि भारत अपनी संस्कृति के आधार पर ही उन्नत हो सकता है। इसकी प्रेरणा से सुशिक्षित भारतीय अपनी प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति को गौरव की दृष्टि से देखने लगे थे। इस संदर्भ में डा० राधाकृष्णनन का यह वचन द्रष्टव्य है

'ऐसे समय में जब राजनीतिक असफलताओं के कारण सभी ओर अंधकार छा गया था और भारत के लोग अपनी संस्कृति के मूल तत्वों में संदेह करने लगे थे, थियोसोफिकल आंदोलन ने उन मूल तत्वों में लोगों की आस्था पुनः दृढ़ करके राष्ट्र की महान सेवा की।'[33]

थियोसोफिकल सोसाइटी का राष्ट्रीय कार्यालय काशी में होने के कारण सोसाइटी आरंभ में ही शिक्षा और प्रकाशन के कार्य में हिंदी को यथेष्ठ स्थान देती रही। वह अपने सिद्धांतों के प्रचारार्थ जिस किसी भी साहित्य का प्रकाशन करती थी, वह अंग्रेजी के साथ साथ हिंदी में भी होता था।

सोसाइटी द्वारा हिंदी की जो सेवा हुई उसका बहुत कुछ श्रेय श्रीमती एनी-बेसेण्ट को है। श्रीमती एनीबेसण्ट भारतीय संस्कृति, दर्शन तथा चिंतन से विशेष प्रभावित थी। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि भारत की उन्नति इसके सांस्कृतिक आदर्शों पर ही बलकर की जा सकती है। भारत से उन्हें सच्चा प्रेम था। उनके हृदय में भारतीयता के प्रति गहरी संवेदना थी तथा स्वाधीनता संघर्ष के साथ उनका हार्दिक लगाव था। उन्होंने राष्ट्रीय भावनाओं के साथ राष्ट्र भाषा हिंदी का सदैव ध्यान रखा और समर्थन किया। सन 1918 से 1921 के मध्य उन्होंने गांधीजी के साथ दक्षिण भारत में घूम घूम कर हिंदी का व्यापक प्रचार किया। वे हिंदी प्रचार को राष्ट्रीयता का अभिन्न अंग मानती थी। उनके विचार से सारे देश की एकता के लिए हिंदी का ज्ञान अपेक्षित था। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक नेशन बिल्डिंग में हिंदी के प्रति उनके सरस उद्गार इन शब्दों में फूट पड़े हैं

भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागों में जो अनेक देशी भाषाएं बोली जाती हैं उनमें एक भाषा ऐसी है जिसमें शेष सभी भाषाओं की अपेक्षा एक भारी विशेषता है, वह यह कि उसका प्रचार सबसे ज्यादा है। वह भाषा हिंदी है। हिंदी जानने वाला आदमी संपूर्ण भारत में यात्रा कर सकता है और उसे हर जगह हिंदी जानने वाले मनुष्य मिल सकते हैं। हिंदी सीखने का कार्य ऐसा स्थान है जिसे दक्षिण भारत के निवासियों को राष्ट्र की एकता के हित में करना चाहिये।[30]

इतना ही नहीं मद्रास में हुए हिंदी सम्मेलन (सन 1928) का अपना संदेश भेजते हुए श्रीमती एनीबेसेण्ट ने हिंदी के प्रति अपना पूर्ण विश्वास निम्नांकित शब्दों में प्रकट किया था I do hope to see that Hindi becomes the common language of India and I do think that the teaching of Hindi should be made compulsory in Indian schools instead of the compulsory knowledge of English if you can not have both[31]

राजनीतिक संस्थाएं

उन्नीसवीं शताब्दी में हुए धार्मिक व सामाजिक आन्दोलन के मर्म से शिक्षित भारतीयों के मध्य राजनीतिक चेतना का उदय हुआ। इस चेतनाग्नि में अंग्रेजों की शोषण संबंधी कूटनीति ने घी का काम किया। फलस्वरूप राजनीतिक चेतना की जो दीपशिखा सर्वप्रथम बंगाल में प्रज्वलित हुई वह भभक उठी और आगे

चलकर उसने भारतीय अंतस्थल में खलबली मचा दी। समस्त देश सजग हो उठा। इस चेतना के अक्षुण्ण प्रकाश में उसने 'स्वाधीनता-प्राप्ति' अपना लक्ष्य निर्धारित किया। इस महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए समयानुकूल एकाधिक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना हुई, जिनमें 'अखिल भारतीय कांग्रेस' सर्वोपरि थी। इस संस्था को अपने महान उद्देश्य की पूर्ति में अपूर्व सफलता भी मिली।

कांग्रेस के उदय के पूर्व देश में छोटे-बड़े कुछ ऐसे संगठन भी थे, जिनका उद्देश्य शिक्षित वर्ग को संगठित करके शासन में सुधार लाना था। इस प्रकार का सबसे प्राचीन संगठन 'ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन' था, जिसकी स्थापना सन् 1851 में कलकत्ते में हुई थी। सन् 1876 में कलकत्ते में ही 'इंडियन एसोसिएशन' नामक एक अन्य संस्था की स्थापना हुई। यह संस्था अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय तथा सतर्क थी। इसका उद्देश्य सिर्फ शासन-सुधार ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय हित एवं राष्ट्रीयता संबंधी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर गंभीरता किंतु काफी स्पष्टता के साथ विचार विनिमय करना तथा उनके व्यावहारिक पक्ष पर सोचना विचारना भी था। इसके प्रमुख नेता श्री सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने कलकत्ता में सन् 1883 में एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया, जिसमें अखिल भारतीय स्तर पर राष्ट्रीय चेतना की वाहिनी एक संस्था की स्थापना पर काफी बल दिया गया। सन् 1880 में दादा भाई नौरोजी एवं उनके अनुयायियों के सहयोग से बंबई में 'बंबई एसोसिएशन' नामक एक नवीन संस्था का उदय हुआ। यह संस्था भी 'इंडियन एसोसिएशन' के उद्देश्यों को लेकर उदित हुई थी। इसके पश्चात 'मद्रास नेटिव एसोसिएशन' तथा 'पूना की सार्वजनिक सभा' (महाजन सभा) जैसी राजनीतिक संस्थाएं प्रकाश में आयीं। ये संस्थाएं भी अपनी पूर्वजाओं के सिद्धांतों एवं उद्देश्यों से अनुप्राणित थीं।

अखिल भारतीय कांग्रेस के पूर्व उदित होने वाली इन राजनीतिक संस्थाओं का मूल्यांकन करते हुए श्री के० नटराजन ने लिखा है कि इन संस्थाओं ने ही सन् 1885 में कांग्रेस की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। इन्हीं के कारण सुरेंद्र नाथ बनर्जी ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का सन् 1878-79 में विस्तृत दौरा किया और [illegible] वर्ष बाद एक अखिल भारतीय संस्था के लिए भूमि तैयार की।[34]

अखिल भारतीय कांग्रेस

उपर्युक्त संस्थाओं की स्थापना ही इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण तक आते-आते देश में राष्ट्रीय जागृति साकार हो उठी थी तथा अखिल भारतीय स्तर पर संगठन विशेष की स्थापना का विचार भारतीयों के मस्तिष्क में दृढ़ हो चुका था। यह संयोग की ही बात कही जाएगी कि इस अमूर्त विचार का मूर्तरूप देने का श्रेय श्री एलन आक्टेवियन ह्यूम नामक एक अंग्रेज सज्जन को मिला। श्री ह्यूम ने सन् 1884 में 'इंडियन नेशनल यूनियन'

नाम से एक राजनीतिक संस्था की स्थापना की, जिसका प्रथमतः उद्देश्य भारत में राष्ट्रीय विचारधारा के व्यक्तियों को संगठित करना था। दिसंबर 1885 में इस संस्था का अधिवेशन बंबई में हुआ, जिसमें इसका नाम बदलकर 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' कर दिया गया। धीरे धीरे कांग्रेस भारतीय जनता की प्रतिनिधि संस्था बन गयी और आगे चलकर तो इसने विशुद्ध रूप से भारत की एक मात्र राजनीतिक संस्था का रूप धारण कर लिया। इस विषय में डा० शितिकंठ मिश्र का कथन द्रष्टव्य है

'सन् 1885 ई० हरिश्चंद्र की मृत्यु के साल ही कांग्रेस की स्थापना हुई। प्रताप नारायण मिश्र ने इसे साक्षात् दुर्गा का अवतार माना, क्योंकि देश हितैषी प्रवृत्ति के लोगों की स्नेह शक्ति से यह आविर्भूत हुई थी।'[37]

और स्वदेशानुरागी चौधरी प्रेमघन ने लिखा

'नीके भारत के दिन आये, नेशनल कांग्रेस अब होय।
जागे भाग राजऋषि आये, लार्टरिपन छल खोय॥'[38]

प्रारंभ में (सन् 1905 तक) कांग्रेस के नेताओं ने अपने उदारवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया तथा अंग्रेजों की न्यायप्रियता में पूर्ण आस्था दिखायी। किन्तु शासकों की दृष्टि में उनकी उदारता एवं आस्था का कुछ भी मूल्य न रहा। फलस्वरूप बीसवीं शती के प्रथम दशक में ही भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में नयी प्रवृत्तियों ने जन्म लिया। अब कांग्रेस में दो दल हो गये—एक नरम और दूसरा गरम। एक का नेतृत्व श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने संभाला और दूसरे का श्री लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने। उस समय महाराष्ट्र, बंगाल तथा पंजाब आदि प्रदेश उग्र राष्ट्रीय आंदोलन के प्रबल समर्थक सिद्ध हुए। स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग और विदेशी के बहिष्कार की भावना प्रबल हो उठी। शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीयता तथा राष्ट्रीयकरण की भावना ने 'स्वराज्य' की अभिलाषा को और उत्कट बना दिया। सन् 1906 से सन् 1918 के बीच कांग्रेस की नीति स्वराज्य के मार्ग पर क्रमशः बढ़ती गयी।

देश में हो रहे इस राष्ट्रीय आंदोलन से भारत का समस्त वातावरण राष्ट्रीयतामय हो उठा। सर्वत्र देशोद्धार के साथ राष्ट्रीयता की धूम मच गई। अब कवियों एवं साहित्यकारों ने सशक्त हाथों से लेखनी उठाई और वे देश के अतीत गौरव के साथ मातृभूमि की महानता के गीत गाने लगे। साहित्य ही नहीं, समाज में भी वीर रस की धारा फूट चली। 'यदि धर्म रक्षा इष्ट है तो मान पर मरते रहो, सहते रहो संकट सहो पर देश दुख हरते रहो' की भावधारा में राष्ट्र हृदय डूबने और उतरने लगा।

दक्षिणी अफ्रीका से स्वदेश लौटने के बाद गांधी जी ने भी देश की राजनीति में हाथ बटाया। उन्होंने एक ओर गोखले को अपना राजनीतिक गुरु माना और

दूसरी ओर तिलक ने स्वराज्य मंत्र को बुलंद आवाज में दोहराया। उन्होंने कहा—'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार ही नहीं, कर्तव्य भी है।'[39] सन् 1920 में श्री लोकमान्य तिलक के स्वर्गवास के बाद गांधीजी ने देश का नेतृत्व अपने हाथों में लिया—नम्रता से, किंतु दृढ़ता से। सन् 1919 का रोलट ऐक्ट बनाये जाने के विरोध में पंजाब के जलियांवाले बाग में नर-नारियों की एक विशाल सभा हुई, जहां पर सरकार द्वारा भीषण नरसंहार का अमानवीय दृश्य प्रस्तुत किया गया। इस हत्याकांड के फलस्वरूप देश के कोने-कोने में क्षोभ की लहर दौड़ गई। गांधी जी की आत्मा चीख पड़ी। उन्होंने अंग्रेजी शासन को 'शैतानी शासन' की संज्ञा दी और उसे उखाड़ फेंकने का दृढ़ संकल्प लिया। किंतु उनकी कार्य शैली हिंसात्मक नहीं, बल्कि सत्य व अहिंसा के रूप में दुनिया के सामने प्रकट हुई।[40] गांधीजी में गोखले की सौजन्यता व नम्रता थी और तिलक की उग्रता व तीव्रता भी। एक प्रकार से वे दोनों के ही उत्तराधिकारी बने और देश को एक नए मार्ग पर ले चले।

गांधीजी ने अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध एक अहिंसात्मक युद्ध की घोषणा कर दी। सारे देश में असहयोग आंदोलन' शुरू हुआ। तत्कालीन राष्ट्रीय जीवन तथा महान् राष्ट्रव्यापी आंदोलन पर सर्वत्र गांधीजी का प्रभाव छा गया। सब जगह 'सत्याग्रह' जैसे अहिंसात्मक अस्त्र का अमिट प्रभाव दिखाई पड़ने लगा। सन् 1930 में उसने 'नमक सत्याग्रह और दांडीकूच का रूप धारण किया। सन् 1940 में 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' और फिर अगस्त सन् 1942 में तो 'भारत छोड़ो' नारे के साथ उसे 'खुला बलवा' की संज्ञा मिली। 'करो या मरो' के मंत्र से भारत की संपूर्ण दिशायें गूंज उठीं। फलस्वरूप 15 अगस्त सन् 1947 को अंग्रेजों ने ही 'यूनियन जैक' को स्वयं उतारकर 'वायसरीगल लाज' पर राष्ट्रीय तिरंगा झंडा फहरा दिया। इस प्रकार सर्वप्रथम भारत ने दुनिया के इतिहास में बेमिसाल उदाहरण पेश किया और वह था एक अपूर्व शक्तिशाली साम्राज्य के विरुद्ध अहिंसक युद्ध द्वारा भारत की स्वाधीनता प्राप्ति।

अखिल भारतीय कांग्रेस और हिंदी

राष्ट्रीय कांग्रेस और उसके नेताओं पर गांधीजी के अप्रतिहत व्यक्तित्व की अमिट छाप थी। इसलिए कांग्रेस की भाषा नीति गांधी जी की भाषा नीति से सदैव अनुप्राणित रहा करती थी। गांधी जी का हिंदी प्रेम स्वयं हिंदी सीख लेने और दूसरों को हिंदी पढ़ने का परामर्श देने तक ही सीमित नहीं था, बल्कि इनके हिंदी-प्रेम की सीमा सुदूर दक्षिण भारत के अहिंदी भाषी प्रांतों में हिंदी प्रचार तक विस्तृत थी। हिंदी प्रचार एवं अहिंदी भाषी प्रांतों में हिंदी पढ़ाने की समुचित व्यवस्था करना उनके सार्वजनिक जीवन का स्थायी कार्यक्रम बन चुका था। गांधी

जी के भाषा संबंधी इन सैद्धांतिक एवं तदनुरूप व्यावहारिक पहलुओं से कांग्रेस का प्रभावित होना कम स्वाभाविक न था। फलस्वरूप हिंदी का प्रचार-प्रसार करना देश की राजनीति का अभिन्न अंग बन गया।

जिस समय कांग्रेस का नेतृत्व गांधी जी के हाथ में आया, उस समय कांग्रेस में अधिकतर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का ही बोलबाला था। इतना ही नहीं, इस संस्था का प्राय सभी कार्य अंग्रेजी के माध्यम से ही संपन्न होता था। किंतु गांधी जी के आगमन से अंग्रेजी का जमा हुआ सिक्का उखड़ गया। भाषा स्थिति ने नया मोड़ लिया। कांग्रेस के अधिवेशनों में हिंदी के प्रयोग जैसे क्रांतिकारी प्रस्ताव पर सभी नेताओं ने सहमति प्रकट की। गांधी जी के प्रयत्नों के फलस्वरूप कानपुर में होने वाले कांग्रेस के चालीसवें अधिवेशन (सन् 1925) में हिंदी संबंधी निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया गया

'कांग्रेस की यह सभा प्रस्ताव पास करती है कि कांग्रेस, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, और वर्किंग कमेटी की कार्रवाई आमतौर पर हिंदुस्तानी में चलेगी। अगर कोई वक्ता हिंदुस्तानी न जानता हो या दूसरी आवश्यकता पड़ने पर अंग्रेजी या प्रांतीय भाषा इस्तेमाल की जा सकती है। प्रांतीय कमेटियों की कार्रवाई आमतौर पर प्रांतीय भाषाओं में चलेगी। हिंदुस्तानी भी इस्तेमाल की जा सकती है।'[12]

कांग्रेस जैसी राजनीतिक संस्था के द्वारा इस प्रकार का महत्वपूर्ण निर्णय लेना हिंदी के व्यापक प्रचार के लिए एक क्रांतिकारी कदम सिद्ध हुआ। अब हिंदी भाषी कार्यकर्त्ता और ऐसे अहिंदी भाषी भी जो हिंदी जानते रहे, मुक्तकंठ से हिंदी में भाषण देने लगे। इस संदर्भ में जो सबसे महत्व की बात हुई, वह यह थी कि कांग्रेस के अधिवेशनों का विवरण, जो अभी तक सिर्फ अंग्रेजी में ही तैयार तथा प्रकाशित होता था अब हिंदी तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओं में प्रकाशित होने लगा।

सन 1936 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन फैजपुर में हुआ। कांग्रेस अधिवेशन के विशाल मंडप में 28 दिसंबर सन् 1936 को डा० राजेंद्र प्रसाद की अध्यक्षता में 'राष्ट्रभाषा सम्मेलन' का भी आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में महात्मा गांधी, पुरुषोत्तमदास टंडन, काका साहब कालेलकर, प० जवाहरलाल नेहरू प्रभृति समाज सेवियों ने भाग लिया। सम्मेलन के मध्य सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पास हुआ जिसमें यह कहा गया था कि देश का अंतर्प्रादेशिक कार्य राष्ट्रभाषा हिंदी द्वारा ही होना उचित तथा हितकर है। अंतरप्रांतीय कार्यों में अंग्रेजी भाषा का व्यवहार हमारे गौरव के विपरीत और राष्ट्रीय भावना की जागृति तथा उनके प्रचार के लिए हानिकारक है। इस प्रकार कांग्रेस के अधिवेशनों में हिंदी का प्रबल समर्थन होता रहा। कांग्रेस के मंच से इस नीति का कभी भी जाने अनजाने विरोध नहीं हुआ। अतः हिंदी की राजनीतिक स्थिति दिन पर दिन मजबूत होती गई।

आगे चलकर सन् 1937 के आम चुनाव में कांग्रेस की बहुत बड़ी विजय हुई।

उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, मद्रास, मध्यप्रदेश एवं बंबई इन छः प्रांतों में कांग्रेस का मंत्रिमण्डल बना। इससे हिंदी को असाधारण बढ़ावा मिला। अब प्रांतीय विधान-सभाओं और राजनीतिक क्षेत्रों में हिंदी को विशेष स्थान प्राप्त हुआ। फल-स्वरूप पुराने हिंदी पत्रों को प्रोत्साहन मिला और विविध नई पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं। इन प्रांतीय सरकारों ने अपने-अपने प्रांतों के विद्यालयों में हिंदी को प्रवेश दिलाया।

राजनीतिक आंदोलन से वधू और वर जैसा घनिष्ठ संबंध रहने के कारण हिंदी का प्रभाव तथा प्रचार दोनों दिनों-दिन व्यापक होता गया। राष्ट्रीय कांग्रेस ने अहिंदी भाषी प्रांतों में इसका सिर्फ प्रचार ही नहीं किया, अपितु इस राजनीतिक संस्था के सहयोग से हिंदी की सर्वांगीण उन्नति भी हुई। राष्ट्रभाषा हिंदी की *प्रगति की संक्षिप्त, किंतु यथार्थ की ठोस भूमि पर गतिशील रूपरेखा खींचते हुए* पं० किशोरी दास वाजपेयी ने लिखा है

'सन् 1901 से 1910 तक जो राष्ट्रभाषा की प्रगति हुई थी, उसमें अत्यधिक प्रेरणा राजनीतिक आन्दोलन से मिली थी।···1910 से 1920 तक फिर हिंदी की प्रगति बड़े वेग से हुई जो उसी जागरण का फल थी। 1921 से 23-24 तक महात्मा गांधी के नेतृत्व में सत्याग्रह आंदोलन चला। इससे तो राष्ट्रभाषा की नींव पाताल तक चली गई और उस नींव पर अन्य प्रासाद की आधी इमारत भी खड़ी हो गई। फिर 1924 से 1930 तक का राष्ट्रभाषा का प्रचार विद्युत वेग से देश में *हुआ।···1931-34 के राष्ट्रीय आन्दोलन ने एक बार राष्ट्रभाषा की भावना में* शक्ति भर दी।···1942 से 44 तक जो राष्ट्रीय संघर्ष चला, उससे राष्ट्रभाषा का प्रवाह अत्यधिक वेगवान हो गया। अब तक भारत का कोई भी प्रदेश राष्ट्रभाषा *से शून्य न रहा था।*'[12]

कांग्रेस के सभी नेताओं ने हिंदी को देश की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया और इसे राजभाषा बनाने की भूमिका तैयार करते हुए इसके व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए यथाशक्ति प्रयास भी किया। कांग्रेस के अहिंदी भाषी नेता भी इस मामले में किसी से पीछे न रहे। इस संबंध में नेता सुभाषचन्द्र बोस के निम्नलिखित *उद्गार श्रवणीय हैं* -

'देश की एकता के लिए एक भाषा का होना जितना आवश्यक है, उससे अधिक आवश्यक है देश भर के लोगों में देश के प्रति विशुद्ध प्रेम तथा अपनापन होना। अगर आज हिंदी भाषा मान ली गई है तो वह इसलिए नहीं कि वह किसी प्रांत विशेष की भाषा है, बल्कि इसलिए कि वह अपनी सरलता, व्यापकता तथा क्षमता के कारण सारे देश की भाषा हो सकती है।'[13]

राजनीतिक नेता और हिंदी

यह एक निर्विवाद सत्य है कि हिंदी की राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने एवं उसके सर्वांगीण विकास में जो अमूल्य योगदान राष्ट्रीय कांग्रेस ने दिया, उसकी तुलना भारत की किसी भी संस्था चाहे वह धार्मिक व सामाजिक रही हो, या राजनीतिक अथवा साहित्यिक, द्वारा की गई सेवाओं से नहीं की जा सकती। कांग्रेस से इतर हिंदी पर यदि सबसे अधिक ऋण किसी संस्था का है तो वह है आर्य समाज। किंतु आर्य समाज द्वारा हिंदी की जो उन्नति हुई उसका जो विकास हुआ, वह यद्यपि तत्कालीन भारतीय परिवेश में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है, फिर भी उसमें कांग्रेस द्वारा किए गए हिंदी के प्रचार जैसी न तो व्यापकता देखी जा सकती है, न प्रभावोत्पादकता और न स्थायित्व ही। कांग्रेस एवं उसके नेताओं द्वारा हिंदी के प्रति किया गया त्याग, प्रेम, प्रयास आदि सबका-सब अपना सानी नहीं रखते।

स्वाधीनता संघर्ष के मध्य राष्ट्रीय चेतना की लहर इस कदर दौड़ गई थी कि कांग्रेसी नेताओं में ऐसा कोई हृदय नहीं था जो उससे प्रभावित न रहा हो। राष्ट्र-गौरव से अनुप्राणित राष्ट्रीय हृदय ने हिंदी पर दया, माया, ममता, अगाध विश्वास ही नहीं अपने जीवन की सारी की सारी मधुरिमा को भी लुटा दिया था। कांग्रेस के नेताओं और उनमें भी विशेष रूप से अहिंदी भाषी नेताओं के द्वारा हिंदी के प्रति किए गए त्याग का हिंदी जगत चिर ऋणी रहेगा। यों तो सभी राजनीतिक नेताओं ने अपने कार्यक्षेत्र में (सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक में से चाहे जो भी रहा हो) हिंदी को प्रमुख स्थान दिया, अपना अगाध प्रेम समर्पित किया, किंतु इस संबंध में गुजराती भाषी महात्मा गांधी की तपस्या, उदारता एवं उनका त्याग व प्रेम अनुपमेय है।

महात्मा गांधी

गांधी जी के सार्वजनिक जीवन का प्रारंभिक भाग दक्षिणी अफ्रीका में व्यतीत हुआ था। सार्वजनिक जीवन की प्रथम रश्मि की इस बेला में ही उन्होंने स्वराज्य, स्वभाषा जैसे राष्ट्रीय प्रश्नों के सभी पहलुओं का सूक्ष्म अवलोकन कर लिया था। इनके प्रति उनकी एक सुदृढ़ धारणा भी बन गई थी। फलस्वरूप स्वदेश लौटने पर जहां एक सुदृढ़ और देश का गांधी के रूप में हम जैसा नीर क्षीर विवेक वाला भारतीय तथा पाश्चात्य संस्कृतियों में निहित गुणों का पारखी, कुशल समाज सुधारक, सफल राजनीतिक, व्यावहारिक आदर्शवादी, महान संगठनकारी तथा सर्वप्रिय जननेता मिला, वहीं दूसरी ओर गांधी को भारत मां की ममता और अखिलदेशीय संपर्क भाषा हिंदी की आत्मीयता प्राप्त हुई। अब गांधी जी राज-

देखना नामुमकिन है।

परन्तु वस्तु स्थिति तो यह थी कि गांधीजी के समय हिंदी उन सभी लक्षणों से पूर्ण थी जो राष्ट्रभाषा के लिए वांछित है। यदि उसके पहुंच के बाहर कोई क्षेत्र था तो वह था राजनीति का। यदि हिंदी के आगे प्रश्नवाचक चिन्ह कहीं लगाया जा सकता था तो वह सिर्फ अंग्रेजी माध्यम से कार्य करने वाले अभ्यस्त राजकीय कर्मचारियों एवं अंग्रेजी के सहारे परस्पर विचार-विनमय करने वाले भारतीय नेताओं को लेते हुए। वस्तुतः गांधी जी तथा उनके अनुयायी अन्य कांग्रेसी नेताओं द्वारा हिंदी के प्रचार प्रसार संबंधी जो कार्य किया जा रहा था, वह हिंदी की इन्हीं राजनीतिक कमियों की पूर्ति का परिचायक था।

गांधी जी के मातृभाषा तथा भारतीय शिक्षा के माध्यम संबंधी विचारों में स्वदेशीपन की सहज अनुभूति एवं भारतीय भाषाओं के प्रति नैसर्गिक लगाव की झलक मिलती है। मातृभाषा के प्रति उनका वह लगाव, उनका वह प्यार इस वाक्य-धारा के रूप में उमड़ पड़ा है

'मेरी मातृभाषा में कितनी ही खामियां क्यों न हों, मैं उससे उसी तरह चिपटा रहूंगा, जिस तरह अपनी मां की छाती से।'[50]

शिक्षा के माध्यम की चर्चा करते हुए उन्होंने 2 सितंबर, सन् 1921 के 'हिंदी नव जीवन' में अपने मत को बड़े सशक्त शब्दों में इस प्रकार रखा

अगर मेरे हाथों में तानाशाही सत्ता हो, तो मैं आज से ही विदेशी माध्यम के जरिए हमारे लड़के लड़कियों की शिक्षा बंद कर दूं और सारे शिक्षकों और प्रोफेसरों से यह माध्यम तुरन्त बदलवा दूं।'[51]

एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं 'अब तो मैं यह मानता हूं कि भारतवर्ष के उच्च शिक्षण क्रम में मातृभाषा के उपरान्त राष्ट्रभाषा हिंदी के लिये भी स्थान होना चाहिए।'[52]

हिंदी का प्रचार प्रसार और गांधी जी

गांधी जी स्वभाषा को स्वदेशाभिमान का आधारभूत तत्व मानते थे। स्वदेशाभिमान को स्थिर रखने के लिए हम हिंदी सीखना आवश्यक है।[53] इस वाक्य को न जाने उन्होंने कितनी बार दोहराया होगा। सिर्फ दोहराया ही नहीं, इसके माध्यम से मात्र दूसरों को हिंदी सीखने का उपदेश ही नहीं दिया, अपितु गुजराती होते हुए भी उन्होंने हिंदी सीखी। सार्वजनिक सभाओं, कांग्रेस की परिषदों आदि में जहां कहीं भी उन्हें अवसर मिलता था, वे हिंदी की महत्ता प्रदर्शित करने में नहीं चूकते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि विदेशी भाषा की गुलामी से मुक्त हुए बिना सच्ची आजादी की न तो लड़ाई ही लड़ी जा सकती है और न उसे हासिल ही किया जा सकता है। गांधी जी के व्यक्तित्व और उनके अनन्य हिंदी

प्रेम का ही यह फल है कि उनके सम्पर्क में जो कोई भी आया, चाहे वह हिंदी भाषी रहा हो या अंग्रेजी पर पूर्ण अधिकार रखने वाले मराठी भाषी श्री लोकमान्य तिलक जैसा अहिंदी भाषी, सभी ने मुक्तकंठ से हिंदी का स्वागत किया और साथ ही हिंदी का ज्ञान प्राप्त कर उसका प्रचार और प्रसार भी।

सन् 1917 में 'गुजरात शिक्षा परिषद' के अधिवेशन के अवसर पर गांधी जी ने अंग्रेजी के समक्ष हिंदी की जो महत्ता प्रदर्शित की, उससे समस्त हिंदी जगत् में हलचल मच गयी। साथ ही 'हिंदी साहित्य सम्मेलन,' 'नागरी-प्रचारिणी सभा' जैसी संस्थाओं का ध्यान गांधी जी तथा उनके हिंदी प्रेम की ओर सहज ही आकर्षित हुआ। इन संस्थाओं ने गुजरात में हिंदी की जलती हुई एक अपूर्व ज्योति देखी। सन् 1918 में इंदौर में होने वाले 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' के आठवें अधिवेशन में गांधी जी को सम्मेलन का सभापति चुना गया। सभापति पद से व्याख्यान देते हुए उन्होंने मातृभाषा और मां की समकक्षता प्रदर्शित की तथा श्रोताओं से मातृभाषा के प्रति पूर्ण श्रद्धा व आस्था रखने का आग्रह किया। हिंदी के प्रति देशवासियों का क्या कर्तव्य है? इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा

'आप हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने का गौरव प्रदान करें। हिंदी सब समझते हैं। इसे राष्ट्रभाषा बनाकर हमें अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए।'[34]

इसी अधिवेशन में गांधी जी ने अहिंदी भाषी क्षेत्रों में हिंदी प्रचार की व्यापक योजना बनायी और उसे कार्यरूप में परिणत करने की समुचित व्यवस्था की। गांधी जी के आग्रह पर हिंदी साहित्य सम्मेलन ने हिंदी प्रचार का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। फिर भी इस योजना की सफलता के लिए गांधी जी का निर्देशन सर्वदा अपेक्षित रहा। गांधी जी के लिए हिंदी का प्रश्न स्वराज्य के प्रश्न से कम महत्व नहीं रखता था। इनका सम्मेलन के साथ मधुर संबंध होने से हिंदी आंदोलन को बड़ा बल मिला।

सन् 1918 से 1927 तक दक्षिण में हिंदी प्रचार का कार्य 'सम्मेलन' के माध्यम से गांधी जी के संरक्षण में होता रहा। सन् 1927 में गांधी जी के ही सुझाव पर 'दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार सभा' की स्थापना हुई और यह कार्य उसके जिम्मे सुपुर्द किया गया। 'हिंदी प्रचार सभा' ने तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम भाषी प्रदेशों में बड़ी सफलतापूर्वक हिंदी प्रचार का कार्य किया। दक्षिण में हिंदी प्रचार का कार्य आगे बढ़ता रहा। फिर भी गांधी जी इसकी प्रगति से पूर्ण संतुष्ट न थे। वे इसकी गति को तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतम बनाने की इच्छा रखते थे।[35] उन्होंने सन् 1935 में इस कार्य के निरीक्षण तथा आवश्यक सुधार के लिए काका कालेलकर को दक्षिण भारत भेजा, जिसके फलस्वरूप सन् 1936 में 'हिंदी-प्रचार

समिति' नामक दूसरी संस्था की स्थापना हुई। आगे चलकर सन् 1937 में इस संस्था का नाम 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' पड़ गया। तब से लेकर आज तक यह समिति अपना कार्य करती चली आ रही है। महात्मा गांधी द्वारा दक्षिण भारत में किए गए हिंदी प्रचार का मूल्यांकन करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है 'दक्षिण भारत में गांधी जी और उनके अनुयायियों-सहयोगियों ने जितना हिंदी प्रचार किया, उतना और किसी नेता, राजनीतिक पार्टी या सांस्कृतिक संस्था ने नहीं किया। इसलिए आज के विभिन्न दलीय नेताओं के अंग्रेजी प्रेम को देखकर कहना पड़ता है कि इन सबकी तुलना में गांधी जी देश की जनता के बहुत नजदीक थे।'[56]

सन् 1935 में हिंदी साहित्य सम्मेलन का चौबीसवां अधिवेशन इंदौर में संपन्न हुआ। गांधी जी को इस अधिवेशन का पुनः दूसरी बार सभापति चुना गया। सभापति पद से दिए गए अपने अभिभाषण में उन्होंने राष्ट्रीय एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से हिंदी के महत्व की चर्चा की। उन्होंने हिंदी प्रचार एवं उसके पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था को कांग्रेस के रचनात्मक कार्य का अभिन्न अंग बतलाते हुए कहा 'मैं हमेशा से यह मानता रहा हूं कि हम किसी भी हालत में प्रान्तीय भाषाओं को मिटाना नहीं चाहते। हमारा मतलब तो सिर्फ यह है कि विभिन्न प्रान्तों के पारस्परिक संबंध के लिए हम हिंदी भाषा सीखें। ऐसा कहने से हिंदी के प्रति हमारा कोई पक्षपात प्रकट नहीं होता। हिंदी को हम राष्ट्रभाषा मानते हैं। वह राष्ट्रीय होने लायक है। वही भाषा राष्ट्रीय बन सकती है, जिसे अधिसंख्यक लोग जानते, बोलते हों और जो सीखने में सुगम हो, ऐसी भाषा हिंदी ही है, यह बात यह सम्मेलन सन् 1910 से बता रहा है और इसका कोई वजन देने लायक विरोध आज तक सुनने में नहीं आया है। अन्य प्रान्तों ने इस बात को स्वीकार कर ही लिया है।'[57]

आगे उन्होंने घोषणा की कि 'अंग्रेजी का इससे आगे बढ़ना मैं असंभव समझता हूं, चाहे कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाए। अगर हिंदुस्तान को सचमुच एक राष्ट्र बनना है तो चाहे कोई माने या न माने, राष्ट्रभाषा तो हिंदी ही बन सकती है, क्योंकि जो स्थान हिंदी को प्राप्त है, वह किसी दूसरी भाषा को नहीं मिल सकता।'[58]

इसी अधिवेशन में हिंदी-हिंदुस्तानी को लेकर गांधी जी तथा सम्मेलन में मतभेद पैदा हो गया। सन् 1942 से 45 के मध्य मतभेद अपनी इस सीमा तक पहुंच गया कि प० जवाहरलाल नेहरू, डा० राजेन्द्र प्रसाद तथा मौलाना अब्दुल कलाम आजाद आदि कतिपय नेताओं के साथ गांधी जी को सम्मेलन से नाता तोड़ लेना पड़ा। और 'हिंदुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा' नामक एक नई संस्था की स्थापना करनी पड़ी।

वस्तुत गाधी जी की दृष्टि मे अखिल भारतीय सपर्क भाषा की शक्ति एव मात्र हिंदी मे ही निहित थी। उन्होंने अभिभाषण, प्रचार-प्रसार, साहित्य पत्र-पत्रिकाओ एव छोटी-बडी विविध सस्थाओ के माध्यम से हिंदी की आजीवन सेवा की और पूरे देश को स्वाभाषा से प्रेम करने की प्रेरणा दी। उनका राष्ट्रभाषा के रूप मे हिंदी को अपनाने का सुझाव निष्पक्ष तथा राष्ट्रानुकूल था। वे हिंदी को राष्ट्रीय एकता एव स्वाधीनता की प्राप्ति का साधन मानते थे। उनकी दृष्टि मे हिंदी का पठन पाठन अपने-आप एक आदर्श था, साथ ही राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति भी। इस दृष्टि से हिंदी साध्य और साधन दोनो थी। उनके लिए हिंदी प्रेम और देश प्रेम मे नाममात्र का भी अन्तर न था।[59]

हिंदी की सेवा करने वाले राजनीतिक नेताओं मे श्री लोकमान्य बाल गगाधर तिलक और पडित मदन मोहन मालवीय, पुरुषोत्तम दास टडन, विनायक दामोदर सावरकर और काका कालेलकर, डा० राजेन्द्र प्रसाद और प० जवाहर लाल नेहरू, विनोबा भावे और सेठ गोविंद दास का नाम बडी श्रद्धा के साथ लिया जा सकता है।[60]

'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है, जिसे मैं प्राप्त करके रहूगा' का नारा देने वाले, भारतीय राष्ट्रीयता के दृढ स्तभ श्री लोकमान्य तिलक भारतीय परपरा तथा राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के उच्च कोटि के समर्थक थे, तो स्वदेशीपन की आभा से मडित काग्रेस व हिंदू महासभा के वरिष्ठ नेता प० मदन मोहन मालवीय राष्ट्रभाषा व राष्ट्रीय शिक्षा के समर्थ पोषक। देवनागरी को राष्ट्रलिपि तथा हिंदी को राष्ट्रभाषा मानने वालो मे तिलक अग्रणी थे तो शिक्षा के क्षेत्र मे देशी भाषाओं के प्रबल समर्थको मे मालवीय जी।[61] महाराष्ट्र जैसे प्रदेश मे राष्ट्रभाषा हिंदी को राजनीतिक प्रतिष्ठा तिलक द्वारा हुई, तो हिंदी के प्रसार मे अपूर्व योग देने वाली शिक्षण सस्था के रूप मे 'काशी हिंदू विश्वविद्यालय' (सन् 1917) की स्थापना मालवीय जी द्वारा। एक ओर तिलक देवनागरी की उपयोगिता के बडे समर्थक थे तथा उनकी वाणी हिंदी भाषा के विकास के लिये सदा कर्मशील रही, तो दूसरी ओर मालवीय जी ने अध्यापक, पत्रकार प्रचारक, सार्वजनिक नेता और साहित्यिको के आश्रयदाता के रूप में आजीवन हिंदी की अपूर्व सेवा की।

प० मदन मोहन मालवीय के एकमात्र उत्तराधिकारी के रूप मे राजर्षि पुरुषोत्तमदास टडन द्वारा मनसा, वाचा, कर्मणा हिंदी की जो सेवा की गई, वह अप्रतिम है। वे राष्ट्रभाषा के प्रबल प्रहरी, कुशल साहित्यकार, सजग नेता तथा हिंदी साहित्य सम्मेलन के प्राण थे। उनके द्वारा हिंदी प्रचार व प्रसार को जो गति मिली, वह अमूल्य है।

टडन जी का हिंदी प्रचार तथा सेवा का प्रमुख क्षेत्र हिंदी साहित्य सम्मेलन था। वे सम्मेलन के जन्मदाताओं मे से थे। मालवीय जी के अन्यतम सहायक के

रूप मे उन्होंने सम्मेलन की स्थापना तथा उसके उद्देश्यो को कार्यान्वित करने मे बहुत ही सराहनीय कार्य किया। उनका सम्मेलन की हर-एक गतिविधि पर स्पष्ट प्रभाव था। गाधी जी का सम्मेलन के साथ मधुर सबध इन्ही की प्रेरणा का फल था। इनके व्यक्तित्व का समुचित मूल्याकन सेठ गोविंददास के शब्दो म इस प्रकार है 'टंडन जी का अतरग उस प्रकार का है, जो हिमालय के सदृश अडिग और गगा के सदृश निर्मल चरित्र का निर्माण करता है। वह उन व्यक्तियो म हैं, जिनका सारा जीवन किसी न किसी प्रकार की क्रांतिकारी सेवा मे व्यतीत हुआ है। इस देश के पराधीन होने के कारण इस सेवा का सर्वोत्कृष्ट और उच्चतम मार्ग था देश को स्वाधीन करने का प्रयत्न। इस प्रयत्न मे आवश्यकता थी बडी से बडी जोखिम उठाने की और बडे से बडे त्याग करने की। टंडन जी ने जीवन-भर यही किया। फिर वह अपने मतो पर इस प्रकार अडिग रहे कि महात्मा गाधी के सदृश नेता के सामने झुके नही।'

गाधी जी और टंडन जी म हिंदुस्तानी और हिंदी को लेकर गहरा मतभेद हो गया। फिर भी टंडन जी हिंदी और देवनागरी के प्रबल समर्थक बने रहे। गाधीजी के सम्मेलन से त्यागपत्र के बाद भी वे अपने पक्ष तथा नीति पर अडिग रहे।[63] वे हिंदी भाषा तथा नागरी लिपि के प्रश्न पर विशुद्धता के पक्षपाती थे। सम्मेलन का निरतर हिंदी प्रचार की ओर प्रवृत्त होना टंडन जी की दृढ नीति तथा अनवरत परिश्रम का ही परिणाम था। डा० ज्ञानवती दरबार के शब्दो मे 'हिंदी की सेवा करने वालो और इसके साहित्य की अभिवृद्धि करने वालो की सख्या काफी बडी है, किंतु टंडन जी का स्थान इस सूची म निराला है। उनके लिए यह कहना कि हिंदी प्रचार अथवा विस्तार म टंडन जी ने सहायता की हास्यास्पद-सा लगेगा, क्योकि वह इस शती के प्रथम दशक से इस समस्त आदोलन के प्रवर्तको में से है।'[64] वास्तव मे टंडन जी उस मच के निर्माता है, जिस पर आकर अनेक हिंदी-प्रेमियो ने अपनी-अपनी श्रद्धा और क्षमता के अनुसार हिंदी की सेवा और उसकी श्रीवृद्धि की है।

हिंदी की सेवा करने वाले अहिंदी भाषी नेताओ मे दो का स्थान अत्यत ऊचा है, एक विनायक दामोदर सावरकर और दूसरा काका कालेलकर। क्रांतिकारी कारनामो से पूर्ण-जीवन वाले सावरकर जी के सार्वजनिक जीवन का मूलाधार राष्ट्रभक्ति और हिंदुत्व रहा है तो राष्ट्रीयता काका साहब के जीवन की अमूल्य मणि रही है। एक उत्साह, साहस तथा वीरता जैसे वीरोचित गुणो का मूर्तिमान स्वरूप रहा है, तो दूसरा दूरदर्शिनी साहित्यिक प्रतिभा से सपन्न विनम्र, ओजस्विता तथा अहिंसा जैसे मानवोचित गुणो की निधि। एक का विशेष सबध हिंदू महासभा जैसी राजनीतिक सस्था से था तो दूसरे का काग्रेस, हिंदी साहित्य सम्मेलन, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति आदि से। एक ने देवनागरी लिपि को राष्ट्रलिपि और

संस्कृत गर्भित हिंदी को राष्ट्रभाषा की मान्यता दी है,[85] तो दूसरे ने गांधी जी के सच्चे अनुयायी के रूप में हिंदुस्तानी भाषा व लिपि को। एक के प्रयत्नस्वरूप हिंदी भाषी क्षेत्रों के साथ महाराष्ट्र में हिंदी ने विशेष ख्याति प्राप्त की, तो दूसरे के प्रयास से समस्त दक्षिण भारत और मुख्य रूप से गुजरात में हिंदी-प्रसार को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। एक ने राष्ट्रभाषा हिंदी को हिंदुत्व का प्रतीक माना, तो दूसरे ने राष्ट्र भाषा प्रचार को राष्ट्रीय जीवन का अभिन्न अंग स्वीकार किया।[86]

महात्मा गांधी के प्रिय शिष्यों में दो का नाम ससम्मान लिया जाता है: प्रथम पं० जवाहरलाल नेहरू और द्वितीय देशरत्न डा० राजेंद्र प्रसाद। दोनों भारतीय नेताओं ने जीवनपर्यन्त मातृभूमि और मातृभाषा (हिंदी) की अमूल्य सेवा की है, दोनों का संबंध नागरी प्रचारिणी सभा, हिंदी साहित्य सम्मेलन, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति जैसी देश की अधिकांश हिंदी-सेवी संस्थाओं के साथ बड़ा घनिष्ठ रहा है तथा दोनों हिंदुस्तानी के प्रबल समर्थक रहे हैं। राजेंद्र बाबू का तो कथन है कि :

'हिंदी भी यदि जीती-जागती भाषा होना चाहती है तो उसे अपने शब्दभंडार को बढ़ाना पड़ेगा। बहिष्कार की नीति तो वह कदापि स्वीकार नहीं कर सकती और न विदेशी शब्दों को बाहर रखकर वह अपनी उन्नति कर सकती है। हिंदी संस्कृत नहीं है, हिंदुस्तान में हिंदू, मुसलमान, फारसी, ईसाई, सिख बसते हैं और तो भी वह हिंदुस्तान है। उसी प्रकार हिंदी में सभी भाषाओं से उत्तम शब्द हम लेंगे तो भी वह हिंदी ही रहेगी।'[87]

'मेरा दृढ़ मत है कि कोई भी शख्स अपनी मातृभाषा के द्वारा ही तरक्की कर सकता है। हमारा ध्येय पुरानी भाषाओं को जोरों से चलाना है और उनके द्वारा शिक्षा आदि को भी चलाना चाहिए। लेकिन देश-भर को बांधने के लिए, भारत के भिन्न-भिन्न हिस्से एक दूसरे से संबंधित रहें, इसके लिए हिंदी की जरूरत है।'[88] पं० जवाहरलाल नेहरू का यह दृढ़ मत ही न था, बल्कि हिंदी के प्रति पूर्ण श्रद्धा और उसकी जीवतता के प्रति पूर्ण विश्वास भी था। तभी तो उन्होंने कहा : 'हिंदी में जान है, वह जीवित भाषा है और मुझे यकीन है कि वह उछलती-कूदती हुई तरक्की का अपना रास्ता खुद बना लेगी।...हजार शब्द कोश भी भाषा में वह जान नहीं डाल सकते, जो उसमें अपने अंदर होती है। जिस भाषा में अपनी शक्ति नहीं होती, वह दूसरों की बार-बार कोशिश से भी नहीं बढ़ती और जिसमें अपनी ताक्त होती है, वह खुद ब खुद तरक्की कर लेती है।'[89]

वर्तमान भारतीय समाज सुधारकों एवं नेताओं में संत विनोबा भावे एवं सेठ गोविंददास का नाम बड़े उच्च स्वरों में लिया जा सकता है। दोनों ने राष्ट्रभाषा, भूदान, गोरक्षा, समाजसुधार आदि विविध क्षेत्रों में बहुत महत्वपूर्ण कार्य किए हैं।

एक ओर 'भारतीय संस्कृति, भारतीय विचारधारा, भारतीय तत्व ज्ञान, भारतीय साहित्य, ये सब विनोबा में मानो प्रस्फुटित और पल्लवित हो उठे हैं [70] तो दूसरी ओर हिंदी को 'राजभाषा' का स्थान दिलाने में अग्रणी सेठ गोविंददास ने अन्यतम देशभक्त तथा राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रहरी के रूप में राजनीति तथा साहित्य साधना, इन दोनों क्षेत्रों में महती सफलता प्राप्त की है। गांधी जी के अनुयायी एवं गांधी विचारधारा के साथ हिंदुस्तानी के कट्टर समर्थक संत विनोबा को हिंदी प्रेम गांधी की परंपरा से प्राप्त हुआ है,[71] तो हिंदी के विशुद्ध रूप के प्रति सजग सेठ गोविंददास का हिंदी-प्रेम सहज स्वाभाविक है। हिंदुस्तानी के विरुद्ध संविधान सभा में निकले हुए उनके उद्गार द्रष्टव्य हैं

'हिंदुस्तानी का समर्थन करने वाले उसका समर्थन साम्प्रदायिकता की भावना से करते हैं। जो देश में एक संस्कृति चाहते हैं, वे भला दो लिपियों में लिखी जाने वाली भाषा का समर्थन कैसे करेंगे?'[72]

एक ओर हिंदी के प्रचार तथा प्रसार में सबसे बड़ा योगदान विनोबा के भूदान आंदोलन का है, तो दूसरी ओर लोक सभा एवं नयी दिल्ली के प्रशासनिक क्षेत्रों में यदा कदा चलने वाली विपरीत हवाओं से हिंदी की रक्षा हेतु की गयी सेठ गोविंद दास की तत्परता का। जहां तक हिंदी का प्रश्न है, विनोबा को महात्मा गांधी के पूर्ण व्यवहार पक्ष की संज्ञा दी जा सकती है, तो सेठ गोविंद दास को नई दिल्ली के अनिश्चित वातावरण में हिंदी के प्रहरी की। मातृभाषा एवं राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में विनोबा के निम्नांकित विचार कितने मूल्यवान हैं यह सहज अनुमेय है

'शिक्षा शास्त्री सूक्ष्म विचार करें तो उन्हें स्वयं ध्यान में आ जायेगा कि आरंभ से अन्त तक मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम बननी चाहिये। सिर्फ कालेज में यह सुविधा हो कि दूसरी यूनिवर्सिटी का प्रोफेसर वहां की मातृभाषा न बोलकर हिंदी में बोले तो विद्यार्थी उसे समझ जाय। मेरा तो यह मत है कि जिस तरह मानव दो दो आंखों से देखता है, उसी तरह हर भारतीय को मातृभाषा और राष्ट्रभाषा दोनों आनी चाहिये।'[73]

साहित्यिक संस्थायें

भारतेन्दु मंडल

'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल' का उद्घोष करने वाले भारतेंदु के साहित्यिक रंगमंच पर पदार्पण करते ही हिंदी आंदोलन में एक क्रांति की लहर दौड़ गयी, इस बात की चर्चा पीछे के पृष्ठों में कई जगह की जा चुकी है। वस्तुतः इस युग में हिंदी गद्य साहित्य की पृष्ठभूमि इतनी मजबूत हुई कि उसके ठोस धरातल पर राजनीतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक सभी क्षेत्रों में राजभाषा

के संदर्भ में हिंदी आंदोलन अपने पूर्व वेग के साथ गतिशील हुआ। हिंदी को इस प्रकार का सशक्त धरातल प्रदान करने का पूर्ण श्रेय भारतेन्दु और भारतेन्दु मंडल के साहित्यकारों को है। यदि भारतेन्दु मंडल द्वारा हिंदी साहित्य की सर्वांगीण उन्नति न की गयी होती, निबंध आलोचना, नाटक, प्रहसन, उपन्यास आदि विविध काव्य विधाओं का प्रणयन न किया गया होता और विविध विषयों से संबंधित ज्ञानवर्द्धिनी पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन न हुआ होता, तो अखिल देशीय संपर्क भाषा के रूप में सैकड़ों वर्ष पूर्व व्यवहृत होने के बावजूद हिंदी को अंग्रेजी का पद दिलाने के लिये किये गये आंदोलन की सफलता अपने आप में अधूरी रहती और शायद स्वतंत्र भारत के संविधान में राजभाषा के रूप में हिंदी को जो कुछ भी महत्व दिया गया है उससे भी उसे वंचित रहना पड़ता।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र का साहित्यिक योगदान सर्वविदित है। भारतेन्दु की हिंदी सेवा और उनकी अपूर्व कृतियों के संबंध में यहां अधिक लिखना आवश्यक नहीं। इस संदर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि हिंदी भाषा के प्रसार में हिंदी साहित्य का स्तर ऊंचा करने में और हिंदी प्रदेश की जनता को जगाने में भारतेन्दु जी की पत्रकारिता और निबंध कला ने अपनी अपूर्व भूमिका पूरी की।[74] वे आधुनिक युग के प्रथम हिंदी साहित्यकार थे जिनकी निजी रचनाओं एवं प्रेरणा से हिंदी साहित्य की सभी विधाएं मुखरित हो उठीं। उनके व्यक्तित्व में पत्रकार, नाटककार, कवि, आलोचक निबंधकार की सभी विशेषताएं एक साथ समाहित थीं। उनके विचारों एवं रचनाओं के फलस्वरूप साहित्य में नवयुग का सूत्रपात हुआ और हिंदी साहित्य सृजन के नवीन मार्ग पर चल पड़ा।[75] वस्तुतः हिंदी गद्य का वह काल जिसमें भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र ने और उनके अन्य अनेक समसामयिक प्रतिभाशाली लेखकों ने अपनी नवोन्मेषिणी रचनाएं प्रकाशित कीं, बड़ा ही महत्वपूर्ण था। इसी समय प्राचीन काल से चली आती हुई परंपरा का अंत हुआ।

भारतेन्दु उच्च कोटि के लेखक और साहित्यकार ही नहीं थे वे सच्चे अर्थों में स्वदेशी आंदोलन के अग्रदूत राष्ट्रीयता के पुजारी और तत्कालीन समाज तथा हिंदी के महान नेता और प्रहरी भी थे। उन्होंने स्वयं राष्ट्रीयता से अनुप्राणित विविध काव्य विधाओं पर लेखनी चलायी और अनेक लेखकों को ऐसा करने के लिये प्रेरणा दी, प्रश्रय दिया और व्यावहारिक रूप से उन्हें प्रोत्साहित किया। इतना ही नहीं अपनी उदारता और हिंदी प्रेम के कारण वे सभी समकालीन लेखकों और साहित्य सेवियों के संरक्षक भी कहलाये। उनके नेतृत्व में पं० बालकृष्ण भट्ट पं० प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास, बदरी नारायण चौधरी, श्री निवास दास, ठाकुर जगमोहन सिंह, दुर्गा प्रसाद मिश्र, सुधाकर द्विवेदी, बाल मुकुन्द गुप्त, काशी नाथ खत्री, कार्तिक प्रसाद खत्री,

रमाशंकर व्यास, तोताराम, राधाकृष्ण आदि ने हिंदी गद्य को पुष्ट करने में अपूर्व योग दिया। भारतेन्दु मंडल के इन साहित्यसेवियों पर भारतेन्दु के व्यक्तित्व और उनके कृतित्व की अमिट छाप रही है।

'पं० बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र ने हिंदी गद्य के निर्माण में वही योग दिया जो अंग्रेजी में एडिसन और स्टील ने दिया था।'[77] एक में सामाजिक नेता के साथ निबंधकार, आलोचक एवं नाटककार की उच्चकोटि की प्रतिभा के दर्शन होते हैं तो दूसरे का मनमौजी स्वभाव और हिंदी अनुराग विशेष उल्लेखनीय है। राधाचरण गोस्वामी का तो हिंदी प्रेम अनूठा रहा है। एक ओर साहित्यिक रंगमंच से गोस्वामी जी की प्रतिभा उच्चकोटि के नाटककार एवं कवियों के पथ-प्रदर्शक के रूप में प्रस्फुटित हुई तो दूसरी ओर मालवीय जी के नेतृत्व में हिंदी-प्रचार आंदोलन के सच्चे सैनिक के रूप में। एक ओर विलक्षण साहित्यिक, उत्साही समाज सुधारक और सफल पत्रकार के रूप में अंबिका दत्त व्यास का स्थान काफी ऊंचा है तो दूसरी ओर साहित्य-साधना और हिंदी प्रचार के क्षेत्र में बदरी-नारायण चौधरी का नाम उल्लेखनीय है।

'सरस्वती' और हिंदी भाषा का परिमार्जन

'सरस्वती' (सन् 1900 ई०) जैसी सर्वांगीण व्यवस्थित पत्रिका के संपादक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण के पूर्व 'हिंदी की चतुर्मुखी प्रगति बड़े संतोषप्रद रूप में हो चुकी थी। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र अपने साथियों के साथ काव्य के प्रायः सभी अंगों की रचना का सूत्रपात कर चुके थे।'[78] फिर भी साहित्य के क्षेत्र में दो प्रकार की कमियों को प्रत्यक्षतः अनुभव किया जा रहा था। प्रथम, व्याकरणानुमोदित भाषा का अभाव और द्वितीय गद्य पद्य की भाषा की भिन्नता। भारतेंदु युग में साहित्यकारों का ध्यान व्याकरणसम्मत भाषा की ओर न जाकर विविध विषयों पर ही जमा था। इसलिए साहित्य में प्रयुक्त होने वाली भाषा भी व्याकरण की दृष्टि से काफी शिथिल रहा करती थी। साथ ही खटकने वाली बात यह भी थी कि गद्य के माध्यम के रूप में तो खड़ी बोली अपना ली गई थी, किंतु पद्य काव्य की रचना अभी तक ब्रजभाषा में ही की जा रही थी। इस असंगति पर द्विवेदी जी का ध्यान विशेष आकृष्ट हुआ। अब द्विवेदी जी ने इन्हें दूर करने का बीड़ा उठाया और 'सरस्वती' के माध्यम से सशक्त लेखनी द्वारा इन त्रुटियों का परिमार्जन एवं परिष्कार किया।[79]

द्विवेदी जी 'सरस्वती' के संपादक के रूप में लोक कल्याण की उदात्त भावना से प्रेरित होकर क्रांति पथ पर अग्रसर हुए और उन्होंने काव्य में ब्रज भाषा की शृंगारिक कविता के विरोध के साथ नवीन काव्य भाषा खड़ी बोली का प्रबल समर्थन किया। उनका ऐसा विश्वास था कि जब तक ब्रज भाषा के परिधान से

कविता मुक्त नहीं होगी, तब तक लोक कल्याणकारी नवीन काव्य का सृजन नहीं हो सकेगा।[90] खड़ी बोली को समान रूप से गद्य और पद्य का माध्यम स्वीकार कराकर साहित्य को समाजव्यापी बनाना उनका मुख्य ध्येय था।[91] उनके विचारों से कवि को सहज और व्याकरणसम्मत भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

द्विवेदी जी ने अपने क्रांतिकारी लेखों द्वारा उत्तरोत्तर हिंदी भाषा और साहित्य को आगे बढ़ाया। उनके 'भाषा और व्याकरण' (सन् 1906) शीर्षक निबंध से हिंदी भाषा में एक क्रांति हुई। इस लेख में सभी प्राचीन लेखकों की भाषा की आलोचना की गई थी। उन्होंने 'कवि और कविता' (सन् 1907) नामक लेख द्वारा कवियों को भाषा, भाव, छंद और शैली के संबंध में विशेष दृष्टि दी। उनके सतत प्रयास प्रोत्साहन व प्रभाव से हिंदी में एक से एक उच्चकोटि के कवि एवं साहित्यकारों का निर्माण हुआ और उनकी रचनाएं 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं। वस्तुतः व्याकरण सम्मत भाषा के प्रचार एवं खड़ी बोली पद्य के विकास संबंधी देन के प्रति समस्त हिंदी जगत् पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके द्वारा संपादित 'सरस्वती' पत्रिका का चिर ऋणी रहेगा। 'सरस्वती' की व्यापक सेवाओं के संदर्भ में कवि शंकर की निम्नलिखित पंक्तियां द्रष्टव्य हैं

'नूतन निबंध मनभावते विचित्र चित्र, नाना विषयों से वरवानिक बनाती है।
शंकर प्रतापशील, सज्जन महोदयों के जीवन चरित्र जन-जन को जनाती हैं।
हिंदी को सुधार गद्य पद्य का प्रचार करै, रूठी ब्रजभाषा को भी सादर अपनाती हैं।
ज्ञानी ग्राहकों से महावीरता सरस्वती की, लेख अलबेले अंक-अंक में गिनाती हैं।'[92]

द्विवेदी जी की छत्रछाया में रहने वाले अथवा उनके आदर्शों पर चलकर साहित्य सर्जना करने वाले कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, शंकर, लोचन प्रसाद पांडेय, रामचरित उपाध्याय, गिरिधर शर्मा और कामता प्रसाद गुरु आदि का नाम उल्लेखनीय है। मैथिलीशरण गुप्त को राष्ट्रकवि का गौरव प्रदान कराने का श्रेय द्विवेदी जी के काव्यादर्शों और 'सरस्वती' को ही है।

भारतेंदु युग राष्ट्रीय जागरण का युग था, किंतु द्विवेदी जी का युग राष्ट्रीयता के क्षेत्र में कुछ कर दिखाने का युग था। यों तो समय की इस सीमा पर आकर भारतीय साहित्य में राष्ट्रीयता की ध्वनि समा गई थी, किंतु इस ध्वनि से हिंदी साहित्य का कण-कण गुंजरित हो उठा। हिंदी की संपूर्ण काव्य विधाएं इसके प्रकाश से आलोकित हो उठीं। 'विकटभट', 'रंग में भंग' (1909) जैसी काव्यकृतियां प्रकाशित हुईं, जिनमें देशप्रेम के साथ राष्ट्र गौरव की भावना बड़े वेग से निकल पड़ी। 'रंग में भंग' आरंभिक आख्यानक गीतिकाव्य होते हुए भी पूर्णतः सफल है। इसमें प्रसिद्ध हाड़ा वीर कुंभा की कथा है, जिसने मातृभूमि के नकली किले की रक्षा

में आत्मोत्सर्ग कर दिया। इस उत्सर्ग में ऐसा आकर्षण है, जो अनायास ही लोगों को मुग्ध कर लेता है। इसकी कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं

'तोड़ने दूं क्या इसे नकली किला मैं मान के ?
पूजते हैं भक्त क्या प्रभु मूर्ति को जड़ जान के ?
भ्रांत जन उसको भले ही जड़ कहें अज्ञान से।
देखते भगवान को धीमान उसमें ध्यान से॥
है न कुछ चित्तौर यह बूंदी इसे अब मानिये।
मातृभूमि पवित्र मेरी पूजनीया जानिये॥'[63]

आगे चलकर इसी परंपरा पर लाला भगवान दीन ने 'वीर पंचरत्न' (सन् 1909), सियाराम शरण गुप्त ने 'मौर्यविजय' (सन् 1914), श्रीनाथ सिंह ने 'सती पद्मिनी' (सन् 1915) और गोकुलचंद्र शर्मा ने 'प्रणवीर प्रताप' (सन् 1915) आदि काव्यों का प्रणयन किया। इतना ही नहीं, भारत के अतीत गौरव और वर्तमान की पतितावस्था का सशक्त भाषा में मार्मिक झांकी प्रस्तुत करते हुए मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' की रचना की। इसमें कवि ने एक साथ ही भूत, वर्तमान और भविष्य पर सफल लेखनी चलाई है। कवि का शब्द स्रोत यों फूट चला है 'हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी ?'

राष्ट्र या जन्म भूमि से संबंधित कविताएं भी प्रचुर मात्रा में लिखी गईं। राष्ट्र के दैवी स्वरूप की झांकी प्रस्तुत करने वाली कविताओं की प्रतिनिधि रचना मैथिली शरण गुप्त की 'नीलांबर परिधान हरित पट पर सुंदर है।' वाली कविता है, जिस पर बंकिम के 'वंदेमातरम्' की छाप लगी हुई है। इसी परंपरा पर चलकर रूपनारायण, कामता प्रसाद गुरु गोपाल शरण सिंह, रामनरेश त्रिपाठी, लोचन प्रसाद पांडेय, सियारामशरण गुप्त, मन्नन द्विवेदी आदि ने क्रमशः 'मातृभूमि', 'जन्मभूमि', 'मातृभूमि', 'जन्मभूमि भारत', 'हमारा देश', जननी' तथा 'मातृभूमि' जैसी कविताएं लिखीं। कानपुर के साप्ताहिक पत्र 'प्रताप' का तो सिद्धांत वाक्य ही था

'जिसका न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं, नर पशु निरा है और मृतक समान है।'

छायावादी कवि प्रसाद की वाणी भी 'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती, स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती' का आह्वान कर उठी। कवि 'अरुण यह मधुमय देश हमारा, जहां पहुंच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा' का गान सुनने लगा और नर पुंगव निराला 'जागो फिर एक बार', कहकर ललकार उठा।

'राष्ट्रीय उत्थान में हिंदी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में अपनाने और प्रचार

करने मे कांग्रेस के महान नेताओ ने एक बडी सशक्त क्रांति की[31] इसकी चर्चा काग्रेस की हिंदी-सेवा के मध्य की जा चुकी है। इसी 'सशक्त क्रांति' के फलस्वरूप ब्रिटिश शासन काल मे ही देश मे अनेक ऐसी साहित्यिक एव हिंदी प्रचारक सस्थाओ ने जन्म लिया, जिनका मुख्य उद्देश्य हिंदी का प्रचार एव प्रसार करना था (अनेक राष्ट्रीय नेताओं ने इन हिंदी सेवी सस्थाओ के सवर्द्धन एव उन्हे सुदृढ बनाने मे भरपूर योग दिया। अत इन सस्थाओ के द्वारा हिंदी आदोलन मे दी गई आहुतियों का मूल्याकन करना समीचीन है।

नागरी प्रचारिणी सभा

राष्ट्रलिपि देवनागरी एव राष्ट्रभाषा हिंदी के देशव्यापी प्रचार के उद्देश्य से सन् 1893 मे नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना काशी म हुई। प्रारभ म पं० राम नारायण मिश्र, श्री गोपालदास खत्री तथा बाबू श्याम सुदर दास आदि इसके सरक्षक रहे। किंतु समय के साथ अनेक गण्यमान व्यक्तियो ने इसकी सदस्यता स्वीकार की। इनमे महामना प० मदनमोहन मालवीय, श्री अबिकादत्त व्यास, श्री राधाचरण गोस्वामी, श्रीधर पाठक तथा श्री बदरी नारायण चौधरी आदि का नाम उल्लेखनीय है।

प्रारभ से ही इस सस्था की यह नीति रही कि इसने नारेबाजी, प्रचार तथा आदोलन सबधी तड़क भड़क को न अपना कर ठोस क्रियात्मक कार्यक्रम को अगीकार किया। इस नीति के फलस्वरूप 'सभा' को हिंदी की प्राचीन अनुपलब्ध हस्तलिखित पुस्तको की खोज, हिंदी के वृहद् शब्द कोश के निर्माण, हिंदी भाषा तथा साहित्य के इतिहास-लेखन, साहित्यिक गोष्ठियो के आयोजन तथा अन्य प्रकार के शोधकार्य आदि म आशातीत सफलता मिली। 'सभा' के द्वारा किये नये प्रयासो के परिणामस्वरूप तत्कालीन उत्तरप्रदेशीय सरकार ने सन् 1900 मे अदालती कामकाज के लिए फारसी के साथ नागरी को भी मान्यता प्रदान की। इस सफलता से तो 'सभा' को हिंदी प्रेमी जनता का अटूट विश्वास प्राप्त हो गया।

'सभा' के अन्तर्गत एक 'आर्य भाषा पुस्तकालय' है, जिसमे लगभग 40 हजार पुस्तकें तथा चार हजार के आसपास प्राचीन अप्राप्य हस्तलिखित ग्रथ विद्यमान हैं। हिंदी के अतिरिक्त अन्य प्रादेशिक भाषाओ के महत्वपूर्ण ग्रथ भी यहा उपलब्ध हैं। हिंदी साहित्य के उच्चस्तरीय शोध तथा अध्ययन के लिए यह पुस्तकालय बडा ही लाभदायक है।

'सभा' के पास अपना एक 'हस्तलिखित ग्रथ खोज विभाग' है, जिसके द्वारा अनुपलब्ध ग्रथो का अन्वेषण होता आ रहा है। इस कार्य मे 'सभा' को कई मान्य विद्वानो का सहयोग प्राप्त होता रहा है। इसी के फलस्वरूप हिंदी साहित्य का क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत हो सका है। 'सभा' के 'कोश विभाग'

द्वारा 'हिंदी शब्द सागर' 'हिंदी वैज्ञानिक शब्दावली' तथा 'संक्षिप्त शब्द सागर' जैसे अधिकृत कोशों को प्रकाशित किया गया है। इनमें 'हिंदी शब्द सागर' जो एक लाख शब्दों का भण्डार है हिंदी जगत की महान् उपलब्धियों में से एक है।

प्रकाशन व विक्रय विभाग द्वारा हिंदी की उत्तमोत्तम मौलिक सूचनाओं का प्रकाशन तथा उसकी बिक्री आदि का प्रबन्ध होता है। सभा के प्रकाशनों में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' बीसवीं शती की संपूर्ण हिंदी पत्रिकाओं में सबसे प्राचीन तथा महत्वपूर्ण पत्रिका है। हिंदी ही नहीं, अपितु सभी भारतीय भाषाओं में यह एक अनुपम शोध पत्रिका है।[13] इस पत्रिका ने अनुसंधानकर्त्ता विद्वानों को यथेष्ठ रूप से प्रोत्साहित किया है।

काव्य, नाटक, निबंध, उपन्यास, जीवन चरित्र, राजनीति, दर्शन, तर्कशास्त्र, विज्ञान और कला आदि विषयों पर 'सभा' ने पचसताधिक ग्रंथ प्रकाशित किए हैं, साथ ही 'पृथ्वीराज रासो', 'परमाल रासो' तथा 'बीसल देव रासो' आदि अनेक ऐतिहासिक काव्यों को प्रकाश में लाकर हिंदी-जगत् की बहुत बड़ी सेवा की है।

हिंदी साहित्य की मौलिक तथा उत्तम रचनाओं पर सभा द्वारा अनेक पुरस्कार तथा स्वर्ण व रजत पदक समय-समय पर प्रदान किए जाते हैं। हिंदी के यशस्वी साहित्यकार श्री जयशंकर प्रसाद द्वारा दी गई निधि से सन् 1930 से ही सभा द्वारा सुप्रसिद्ध साहित्यकारों की जयन्तियां एवं पुण्य तिथियां मनायी जाती हैं तथा अधिकारी विद्वानों के व्याख्यानों एवं स्वागत समारोहों की व्यवस्था की जाती है।

सभा द्वारा स्थापित 'संकेत लिपि विद्यालय' में हिंदी संकेत लिपि (शार्ट हैंड) तथा हिंदी टाइप की शिक्षा दी जाती है। अब तो 'सभा' ने दक्षिण भारतीय भाषाओं का एक विद्यालय भी खोल लिया है, जिसमें तमिल, तेलुगु, कन्नड एवं मलयालम जैसी भाषाओं की प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था है।

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग

हिंदी आंदोलन को सक्रिय सहयोग देने वाली हिंदी-सेवी साहित्यिक संस्थाओं में 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' का सर्वोपरि स्थान है। सन् 1910 में नागरी प्रचारिणी सभा की प्रबंध समिति की एक बैठक में बाबू श्याम सुंदर दास ने हिंदी तथा नागरी के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए देश भर के साहित्यिकों का एक सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव रखा, जो सर्व सम्मति से पारित भी हुआ। उसी वर्ष इस प्रस्ताव को व्यावहारिक रूप भी दिया गया, जिसके फलस्वरूप महामना पं० मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में हिंदी साहित्य सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन काशी में सपन्न हुआ। इसी अधिवेशन में राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन ने सरकारी अदालतों में नागरी के प्रचार तथा हिंदी भाषा व साहित्य के व्यापक विकास के लिए कोष-संग्रह की अपील की। कोष संग्रह के लिए एक समिति की स्थापना भी की गई।

फलस्वरूप कुछ ही समय में प्रमुख धन राशि एकत्रित हो गई, जिससे आगे चलकर सम्मेलन की विधिवत स्थापना हुई।

सम्मेलन का द्वितीय अधिवेशन प्रयाग में हुआ, जिसमें टंडन जी ने सम्मेलन की संक्षिप्त नियमावली भी उपस्थित की। पहले अस्थायी रूप से सम्मेलन का कार्यालय एक वर्ष के लिए प्रयाग में रहा, जो धीरे-धीरे स्थायी हो गया। आगे चल कर सम्मेलन के विविध अधिवेशन विभिन्न नगरों में भिन्न-भिन्न साहित्यसेवियों एवं विद्वानों के सभापतित्व में होता रहा, और उन अधिवेशनों में पारित प्रस्तावों के प्रकाश में सम्मेलन का कार्य व्यापक होता गया।

हिंदी साहित्य सम्मेलन के उद्देश्य

(1) हिंदी साहित्य के सब अंगों की पुष्टि और उन्नति का प्रयत्न करना।
(2) देशव्यापी व्यवहारों और कार्यों को सुलभ करने के लिए राष्ट्रलिपि देवनागरी और राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रचार बढ़ाने का प्रयास करना।
(3) नागरी लिपि को मुद्रण-सुलभ और लेखन-सुलभ बनाने की दृष्टि से उसे अधिक विकसित करने का प्रयत्न करना।
(4) हिंदी भाषा को अधिक सुगम, मनोरम, व्यापक और समृद्ध बनाने के लिए समय-समय पर उसके अभावों को पूरा करना और उसकी शैली और त्रुटियों के संशोधन का प्रयत्न करना।
(5) हिंदी भाषी राज्यों में सरकारी विभागों, पाठशालाओं, कालेजों, विश्वविद्यालयों, म्युनिसिपैलिटियों और अन्य संस्थाओं, समाजों, जनसमूहों तथा व्यापार और अदालत के कार्यों में देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा के प्रचार का उद्योग करते रहना।
(6) हिंदी के ग्रंथकारों, लेखकों, कवियों, पत्र-सम्पादकों, प्रचारकों को समय समय पर उत्साहित करने के लिए पारितोषिक, प्रशंसापत्र, पदक, उपाधि आदि से सम्मानित करना।
(7) सारे देश के युवकों में हिंदी अनुराग उत्पन्न करने और बढ़ाने के लिए प्रयत्न करना।
(8) हिंदी भाषा द्वारा परमोच्च शिक्षा देने के लिए विद्यापीठ स्थापित करना।
(9) हिंदी भाषा द्वारा उच्च परीक्षाएं लेने का प्रबंध करने के लिए एक हिंदी विश्वविद्यालय स्थापित करना।
(10) जहां आवश्यकता समझी जाय, वहां पाठशाला, समिति तथा पुस्तकालय स्थापित करने और कराने का उद्योग करना तथा इस प्रकार की वर्तमान संस्थाओं की सहायता करना।

(11) हिंदी-साहित्य की वृद्धि के लिए उपयोगी पुस्तकें लिखवाना और प्रकाशित करना।
(12) हिंदी की हस्तलिखित और प्राचीन सामग्री तथा हिंदी भाषा और साहित्य के निर्माताओं के स्मृति-चिह्नों की खोज करना और इनके तथा सभी प्रकाशित पुस्तकों के संग्रह और रक्षा के निमित्त सम्मेलन की ओर से एक वृहत् संग्रहालय की व्यवस्था करना।
(13) हिंदी भाषा तथा साहित्य संबंधी अनुसंधान का प्रबन्ध करना।
(14) उपर्युक्त उद्देश्यों की सिद्धि और सफलता के लिए जो अन्य उपाय आवश्यक और उपयुक्त समझे जाएं, उन्हें काम में लाना।[58]

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सम्मेलन द्वारा समय-समय पर विविध कार्यक्रम अपनाए गए हैं और आज भी सम्मेलन हिंदी के संवर्द्धन तथा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सतत जागरूक एवं प्रयत्नशील है।

परीक्षाएं

सम्मेलन के चौथे अधिवेशन (सन् 1913) में, जिसके अध्यक्ष स्वामी श्रद्धानंद थे, हिंदी के व्यापक प्रचार की दृष्टि से कुछ हिंदी परीक्षाओं की व्यवस्था का निर्णय लिया गया। तदनुसार प्रथमा, मध्यमा (विशारद) तथा उत्तमा (साहित्यरत्न) ये तीन परीक्षाएं सम्मेलन की ओर से प्रारंभ की गईं। ये परीक्षाएं दिन प्रतिदिन लोकप्रिय होती गईं और अब हजारों की संख्या में परीक्षार्थी इनमें प्रतिवर्ष बैठते हैं। भारत के अहिंदी भाषी प्रदेशों तथा विदेशों में भी इन परीक्षाओं के परीक्षा केंद्र हैं। इन परीक्षाओं द्वारा जहां हिंदी पढ़े-लिखे छात्रों की संख्या में वृद्धि हुई है वहीं हिंदी साहित्य के प्रति जनसाधारण की रुचि भी बढ़ी है। सम्प्रति सम्मेलन द्वारा निम्नलिखित परीक्षाएं ली जाती हैं, जिनको विश्वविद्यालयों, तथा राज्य व केंद्रीय सरकारों द्वारा मान्यता प्राप्त है

प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा, आयुर्वेद विशारद, आयुर्वेद रत्न, कृषि विशारद, व्यापार विशारद, शिक्षा विशारद सम्पादन कला विशारद शीघ्रलिपि विशारद मुनीमी, अर्जीनवीसी, उपवैद्य, वैद्य विशारद तथा साहित्य महोपाध्याय।

सम्मेलन पत्रिका

हिंदी साहित्य सम्मेलन की अपनी एक त्रैमासिक पत्रिका है। इस पत्रिका में भारतीय साहित्य, संस्कृति तथा भाषाओं से संबंधित गवेषणात्मक निबंध प्रकाशित किये जाते हैं। सम्मेलन की ओर से हिंदी की मौलिक रचनाओं पर समय समय पर विविध पुरस्कार भी दिये जाते हैं। सम्मेलन के प्रकाशनों से हिंदी भाषा व साहित्य की अभिवृद्धि हुई है, साथ ही विद्वान लेखकों को प्रोत्साहन भी मिला है। सम्मेलन

की भारत के विभिन्न राज्यों में स्थापित अनेक प्रादेशिक शाखाएं अपने-अपने क्षेत्र में हिंदी के प्रचार कार्य में अपना बहुमूल्य योग देती चली आ रही हैं।

दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास

सन् 1918 में हिंदी साहित्य सम्मेलन का इंदौर अधिवेशन महात्मा गांधी की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। गांधी जी ने इस सम्मेलन में दक्षिण भारत में हिंदी-प्रचार की एक योजना बनाई, जिसके अनुसार उत्तर भारतीय दक्षिण में जाकर हिंदी-प्रचार का कार्य करें ऐसी बात पक्की की गई। इस प्रचार कार्य के लिए गांधी जी की अपील पर इंदौर के सेठ हुकुमचंद तथा तत्कालीन नरेश महाराजा यशवंतराव होल्कर ने दस-दस हजार की धनराशि प्रदान की। दक्षिण भारत के समाचार पत्रों में छपी एक विज्ञप्ति के अनुसार मद्रास शहर की 'इंडियन सर्विस लीग' के सदस्यों ने गांधी जी से एक हिंदी प्रचारक भेजने का आग्रह किया। गांधी जी ने अपने पुत्र देवदास गांधी को पहला हिंदी प्रचारक बनाकर दक्षिण भारत भेजा। इसके बाद पं० हरिहर शर्मा, स्वामी सत्यदेव, पं० शिवराम शर्मा, पं० हृषीकेश शर्मा, पं० अवध नंदन, पं० रामनंद शर्मा, श्री नागेश्वर मिश्र आदि अनेक प्रचारक दक्षिण भारत में हिंदी के प्रचार हेतु जुट गये।

प्रारंभ में यह प्रचार-कार्य हिंदी साहित्य सम्मेलन के तत्वावधान में चलता रहा। अतः मद्रास में जो कार्यालय खोला गया उसका नाम भी 'हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रचार कार्यालय, मद्रास' रखा गया। किंतु गांधी जी की यह प्रबल इच्छा थी कि दक्षिण में हिंदी प्रचार का कार्य दक्षिण भारतीयों के द्वारा ही हो। उनकी इच्छा से सन् 1927 में 'हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रचार कार्यालय, मद्रास' का नाम बदल कर 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास' कर दिया गया। 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' के संस्थापकों में चक्रवर्ती राजा गोपालाचार्य का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आज चाहे जो कुछ भी हो, किंतु राजा जी के हिंदी के लिए किये गए प्रारंभिक बहुमूल्य प्रयासों का विशिष्ट स्थान है।

'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' की चार शाखाएं त्रिचिनापल्ली, (तमिलनाडु), एरनाकुलम (केरल), धारवाड (कर्नाटक) और हैदराबाद (आंध्र) में स्थापित हैं। सभा का मुख्य उद्देश्य, हिंदी प्रचार द्वारा भारत की एकता को सुदृढ़ बनाना, प्रांतीय भाषाओं के सहयोग से हिंदी भाषा का विकास करना, प्रांतों में प्रांतीय भाषाओं तथा अंतर्प्रान्तीय कार्यों में हिंदी का प्रयोग करना तथा जनता में हिंदी के लिए अनुकूल वातावरण बनाना रहा है।

'सभा' के द्वारा प्राथमिक, माध्यमा, राष्ट्रभाषा, प्रवेशिका, विशारद पूर्वार्द्ध, विशारद उत्तरार्द्ध, प्रवीण तथा हिंदी प्रचारक, हिंदी की ये आठ परीक्षाएं संचालित होती हैं। इनमें से पहली तीन प्रारंभिक एवं अंतिम पांच उच्च परीक्षाएं हैं। इन

परीक्षाओ मे लाखो परीक्षार्थी परीक्षा दे चुके हैं। इस समय सभा के लगभग 6 हजार प्रचार केंद्रो मे 10 हजार प्रशिक्षित हिंदी प्रचारक हिंदी कक्षाए चलाते हैं। इसके अतिरिक्त सभा प्रमाणपत्र, वितरणोत्सव, प्रचारक-सम्मेलन, वाक् प्रतियोगिताए, लेखन स्पर्धाए, नाट्याभिनय, हिंदी सप्ताह, हिंदी मेलो आदि का भी समय-समय पर आयोजन करती है। 'सभा' के कार्यकलापो पर प्रतिवर्ष लाखो रुपये व्यय होते हैं। 'सभा' से 'हिंदी प्रचार समाचार' तथा 'दक्षिण भारत' नाम की दो पत्रिकाए प्रकाशित होती हैं। इनम से पहली मासिक तथा दूसरी द्विमासिक सास्कृतिक पत्रिका हैं।

हिंदी को दक्षिण भारत मे लोकप्रिय बनाने, उसका व्यापक प्रचार करने तथा उसे जनता तक पहुचाने का अधिकाश श्रेय इसी सस्था को है।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा

सन् 1936 मे हिंदी साहित्य सम्मेलन का 25वा अधिवेशन नागपुर मे डा० राजेंद्र प्रसाद के सभापतित्व मे सपन्न हुआ। इस अधिवेशन मे राष्ट्रभाषा के व्यापक प्रचार की दिशा मे एक सक्रिय कदम उठाया गया। राजर्षि पुरुषोत्तम दास टडन के एक प्रस्ताव के अनुसार दक्षिणोत्तर अहिंदी भाषी प्रातो मे हिंदी प्रचार के लिए एक 'हिंदी प्रचार समिति' सगठित की गई। इस समिति की प्रथम बैठक अगस्त 1936 मे वर्धा में हुई। सन् 1938 मे शिमला में सपन्न हिंदी साहित्य सम्मेलन के 27वें अखिल भारतीय अधिवेशन में काका साहब कालेलकर के सुझाव पर 'हिंदी प्रचार समिति' का नाम बदल कर 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' रख दिया गया। समिति का केंद्रीय कार्यालय प्रारभ से ही वर्धा में स्थापित है।

दक्षिण भारत के अलावा अन्य अहिंदी भाषी प्रातो में राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रचार-प्रसार तथा राष्ट्रीय भावना का निर्माण करना समिति का प्रधान उद्देश्य है। 'एक हृदय हो भारत जननी' समिति का मूलमत्र रहा है। इसी भावना से ओत-प्रोत होकर आज भी समिति अपने उद्देश्य-पथ पर आगे बढ रही है। इसके द्वारा हिंदी प्रचार का कार्य भारतीय प्रदेशो के साथ-साथ विदेशो मे भी हो रहा है।

प्रारभ मे समिति 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' की परीक्षाए चलाती रही। किंतु सन् 1938 से इसने अपनी परीक्षाए प्रारभ की हैं। समिति के द्वारा निम्नलिखित हिंदी परीक्षायें ली जाती हैं

पार्थमिक, प्रारभिक, प्रवेश, परिचय, राष्ट्रभाषा कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, राष्ट्रभाषा आचार्य, अध्यापन कोविद, आलेखन कोविद, अध्यापन विशारद, बात-चीत, महाजनी प्रवेश तथा प्रातीय भाषा परीक्षा।

इन परीक्षाओ मे राष्ट्रभाषा कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न तथा राष्ट्रभाषा आचार्य उपाधि परीक्षाए हैं। भारत के अतिरिक्त विदेशो मे भी प्रतिवर्ष परीक्षार्थी इन

परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं।

सन् 1938 से समिति ने अपना एक प्रकाशन विभाग भी स्थापित कर लिया है। इसके अंतर्गत अनेक बहुमूल्य पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। भारत भारती पुस्तकमाला द्वारा समिति ने भारत की प्रादेशिक भाषाओं का साहित्य हिंदी में प्रकाशित करके भारतीय एकता को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया है। समिति के द्वारा दो मासिक पत्रिकाएं 'राष्ट्रभाषा' (1943) तथा 'राष्ट्रभारती' (1950)—भी प्रकाशित होती हैं। इनमें 'राष्ट्रभारती' अंतर्प्रान्तीय भारतीय साहित्य की प्रतिनिधि पत्रिका है। समिति की ओर से प्रतिवर्ष विविध स्थानों पर राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है। इन अवसरों पर 'राष्ट्रभाषा प्रदर्शनियां' भी आयोजित की जाती हैं। समिति द्वारा प्रतिवर्ष 14 दिसम्बर को हिंदी दिवस भी मनाया जाता है।

हिंदी प्रचार के कार्य को सुव्यवस्थित बनाने के लिए समिति ने अनेक प्रांतीय समितियों का गठन किया है। ये प्रांतीय समितियां केंद्रीय समिति से संबद्ध रहकर उसके कार्य में काफी सहायता पहुंचाती हैं। लंका, बर्मा, अफ्रीका, स्याम, जावा, सुमात्रा, मारीशस, अदन, सूडान तथा इंगलैंड आदि देशों में भी समिति के केंद्र हैं, जहां पर हिंदी विद्यालय, पुस्तकालय एवं परीक्षाओं के केंद्र आदि स्थापित हैं।

इन प्रमुख हिंदी-सेवी संस्थाओं के अतिरिक्त हिंदी के वृहद् आंदोलन में न जाने कितनी छोटी-बड़ी संस्थाओं ने जन्म लिया और इस महायज्ञ में अपनी आहुति दी। जानी अनजानी उन हिंदी सेवी संस्थाओं के प्रति यह हिंदी जगत् सदैव ऋणी रहेगा। फिर भी जिन हिंदी सेवी संस्थाओं की रोशनी आज भी सजग है, उनमें निम्नलिखित संस्थाएं मुख्य हैं

गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद (1920), हिंदुस्तानी अकादमी, प्रयाग (1927), महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, पूना (1937), हिंदी विद्यापीठ, बंबई (1938), हिंदुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा (1942), मैसूर हिंदी प्रचार परिषद्, बंगलौर (1944), महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पूना (1945), बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (1947), अखिल भारतीय हिंदी परिषद् (1949) तथा साहित्य अकादमी, नई दिल्ली (1954)।

स्वाधीनता के संदर्भ में अपनी भाषा का नारा देने वाली ये सभी संस्थाएं अतीव महत्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं। 'स्वभाषा' के लिए इन संस्थाओं द्वारा किया गया प्रयास स्तुत्य है। इन संस्थाओं की सबसे बड़ी देन यह है कि इनके द्वारा देश में 'निज भाषा की उन्नति अहै सब उन्नति का मूल है' तथा 'पर-भाषा दासता की सबसे बड़ी निशानी है' जैसी राष्ट्रीय भावना को अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित होने का अवसर प्राप्त हुआ।

हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी

हिंदी और उर्दू मूलत एक भाषा रही है।[87] अधिक से अधिक इन्हे एक ही भाषा की दो शैलियां कहा जा सकता है। अपभ्रंश काल के पश्चात् नव्य भारतीय आर्य भाषा काल अथवा मुस्लिम शासन काल के मध्य मध्यदेश की जो बोली अखिल भारतीय संपर्क भाषा के रूप मे अवतरित हुई उसे सर्वप्रथम मात्र 'भाषा' की संज्ञा दी गई।[88] निरुपाधि इस 'भाषा' का हिंदी नाम, जो सबसे पुराना है, मुसलमान साहित्यकारो की ही देन है।[89] इसके बाद समय समय पर इसे हिंदवी, हिंदुई, रेख्ता, उर्दू हिंदुस्तानी आदि विविध नामों से पुकारा गया।[90] फिर भी अफसोस के साथ कहना पडता है कि उर्दू साहित्यकारों एवं अंग्रेजो के कूटनीति के वशीभूत हो संप्रदायवादियो ने एक ही जिस्म के दो पहलुओ—हिंदी और उर्दू को काटकर अलग-अलग कर दिया और उन पर ऐसा मजहबी रंग चढा दिया कि फिर वे कभी न जुड पाये। हिंदी से उर्दू किस प्रकार अलग की गई, इसके विषय म श्री पद्मसिंह शर्मा की ही जुबानी सुनिये

'उर्दू लेखको म फारसी और अरबी पढे-लिखे विद्वानो की आरभ ही से अधिकता रही है, इसीलिए उन्होंने उर्दू और फारसी के कठिन शब्दो का व्यवहार ही अधिकाश से नही किया, बल्कि व्याकरण और पिंगल मे भी अरबी-फारसी के अस्वाभाविक और अनावश्यक नियमो का अनुकरण किया। यहा तक कि वह रस्मो-रिवाज और ऋतुओ आदि के वर्णन म भी फारसी आदि दूसरे देशो क प्राकृतिक दृश्यो का ही समा बाधते रहे, उपमान और उदाहरण सब उन्हें वही के सूझते रहे। वीरता के उल्लेख म रुस्तम, पक्षियो मे बुलबुल पुष्पो में नरगिस, नदियो मे दजला और फरात, पहाडो मे तूर, प्रेमियो मे कैस और फरहाद, सुंदरता के आदर्श मे यूसुफ, मुतवत्सल पिता के उदाहरण मे हजरत याकूब, उदार दानियों म हातिमताई, न्यायकर्त्ता म नौशेरवा आदिल इत्यादि—भारत म रहते भी उनकी दृष्टि इन दूर के विदेशी नामो पर पडती रही। उन्होंने यहा के भीम और अर्जुन, कोयल और मोर, गगा और जमुना, हिमालय और विंध्याचल, कर्ण और विक्रम आदि अनेक का कभी भूलकर भी वर्णन नही किया।

उर्दू लेखको की इस प्रवृत्ति ने उर्दू को एक नये विदेशी साचे मे ढालकर हिंदी से बलात् पृथक् कर दिया। मजहबी जोश ने भी भाषा के भेद को बढाने मे कुछ कम काम नहीं किया। यह लय बढते-बढते यहा तक बढी कि उर्दू खालिस हिंदुस्तान क मुसलमानों की मजहबी जबान समझी जाने लगी। इसी तरह हिंदी भाषा भी हिंदुओ की। यही भावना एक दूसरे के वैर-विरोध और बहिष्कार का कारण बन गई।'[91]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भाषा भेद का प्रारभ उर्दू लेखको ने किया

और इन्हीं की कृपा से भाषा पर मजहबी रंग भी चढ़ा। 'तारीखें नसर उर्दू' के लेखक मौलाना अहसन मारहवी का निम्नलिखित कथन इस बात की प्रामाणिकता में कोई कोर-कसर नहीं रहने देता :

' साथ ही इसके यह खयाल भी लाजमान् करना चाहिये कि हिंदुस्तान में सिर्फ मुसलमान ही आबाद नहीं हैं, बल्कि उनसे बहुत पहले आरिया (आर्य) आबाद हो चुके हैं। अगर मुसलमान अपने साथ अरबी, फारसी और तुर्की अलफाज लाए हैं तो हम साया अकवाम (पड़ोसी जातियों) के पास भी संस्कृत और दूसरी प्राकृतें मौजूद हैं। उर्दू के जामा जेब जिस्म पर भारी भारी लफ्जों का बार (भार) डालना उसकी असली और फितरी (प्राकृतिक) सूरत को बिगाड़ देना है। दसबीस बरस से यह बबा एआम फैली है कि खास कदों काविश (जानबूझ कर, प्रयत्नपूर्वक) के साथ गैर मुरव्विज तरकीबें (अप्रचलित वाक्य विन्यास) और नामूस (गैर मानूस) अरबी व फारसी अलफाज का इस्तेमाल उर्दू इशाफरदाजी (लेखन कला) का ईम्तयाजी निशान (विशेषता सूचक चिह्न) समझा जाता है। मुसलमानों की इस हरकत ने हिंदुओं को भी निचला बैठने नहीं दिया और अब वह भी अपने हरने फुनबे बयान का संस्कृत के भारी भरकम शब्दों से मिलाकर गुट्ठल करते जाते हैं।'[31]

बीसवीं शताब्दी हिंदी-उर्दू-विवाद

'भारतीय भाषाओं में भेद तो सदैव रहे हैं, किंतु हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी का भेद कुछ विचित्रता लेकर अवतीर्ण हुआ। इन शब्दों का सूत्रपात चाहे कहीं से हुआ हो, इनकी जन्म कुंडली बनाने वालों के इरादे दूषित एवं विस्फोटक थे।'[32] हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी के संदर्भ में डा० सरनाम सिंह शर्मा का यह कथन महत्वपूर्ण है। वस्तुतः भाषा के क्षेत्र में साम्प्रदायिकता के जन्मदाता एवं उसके पोषक अंग्रेज रहे हैं। उन्हीं की यह कृपा थी कि उन्नीसवीं शताब्दी[33] के प्रथम चरण से हिंदी और उर्दू के बीच भेद की जो खाई पड़ी, उसने कभी पटने का नाम नहीं लिया, बल्कि दिनों दिन बढ़ती ही गई और यहां तक बढ़ी कि भारत दो टुकड़ों में बट गया।

बीसवीं शताब्दी में आकर देश राजनीतिक चेतना से पूर्ण सजग हो उठा तथा स्वाधीनता संघर्ष के बीच अखिल भारतीय संपर्क भाषा हिंदी की महत्ता भी सर्वविदित हो उठी। उसके राजभाषा संबंधी अधिकार के लिए व्यापक आंदोलन भी चल पड़ा। इस महान् आंदोलन के मध्य हिंदी के प्रगति पथ पर उर्दू का प्रश्न साम्प्रदायिकता के लिबास में अड़कर खड़ा हो गया। अंग्रेजों की कूटनीति यहां अपनी साधना में पूर्ण सफल हुई। देश का वातावरण ऐसा दूषित कर दिया गया कि उर्दू मुसलमानों की और हिंदी हिंदुओं की भाषा है, यह विश्वास दृढ़तर

गांधी जी स्वयं तो संस्कृत तथा फारसी के क्लिष्ट शब्दों से रहित सरल-स्वाभाविक भाषा को ही हिंदुस्तानी भाषा मानते थे, किंतु उनके अधिकांश मुस्लिम अनुयायी फारसी के जटिल शब्दों का प्रयोग करने में ही अपनी शान समझते थे। दूसरी ओर बहुत से हिंदी नागरी के समर्थक हिंदुस्तानी से असन्तुष्ट थे। वे नागरी में लिखित हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा के रूप में देखना चाहते थे।

गांधी जी की हिंदुस्तानी नीति का देश की तत्कालीन अधिकांश हिंदी-सेवी संस्थाओं ने खुले दिल से समर्थन किया। सन् 1935 में 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' के 24वें इंदौर-अधिवेशन में सभापति पद से दिये गये भाषण में गांधी जी ने कहा

'हिंदुस्तानी और उर्दू में कोई फर्क नहीं है। देवनागरी लिपि में लिखी जाने पर वह हिंदी और अरबी में लिखी जाने पर वह उर्दू कही जाती है।[9]'

फिर भी भाषा समस्या का कोई सही समाधान न निकल पाया। एक तरफ हिंदुस्तानी से मुसलमान बड़े असंतुष्ट दिखाई पड़े, तो दूसरी तरफ सिर्फ नागरी समर्थक हिंदुओं ने बराबर इसका विरोध किया। इसी अधिवेशन से गांधी जी तथा सम्मेलन में भी मतभेद प्रारंभ हुआ। अब हिंदी और हिंदुस्तानी के प्रश्न ने एक नया मोड़ लिया।

हिंदुस्तानी और हिंदी

सन् 1935 से हिंदी और हिंदुस्तानी को लेकर गांधी जी और सम्मेलन में जो मतभेद पैदा हुआ, वह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया। सन् 1938 तक आते-आते सम्मेलन की भाषा नीति बिल्कुल स्पष्ट हो गई। उसने राष्ट्रभाषा एवं राष्ट्र-लिपि के रूप में हिंदी व नागरी को ही अपनाने का निर्णय लिया। एक ओर सम्मेलन के अनेक नेता—सर्वश्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, संपूर्णानंद, अमरनाथ झा तथा राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन आदि हिंदी व नागरी का खुलकर समर्थन करने लगे और दूसरी ओर काका कालेलकर, सेठ जमनादास बजाज, डा० राजेंद्र प्रसाद, पं० जवाहरलाल नेहरू, मौलाना अबुलकलाम आजाद आदि उच्च राज-नीतिक नेता 'हिंदुस्तानी' के प्रबल समर्थक रहे।

हिंदी साहित्य सम्मेलन ने सन् 1941 में होने वाले अपने अबोहर (पंजाब) अधिवेशन में हिंदुस्तानी को अपनाने से साफ इन्कार कर दिया। आगे चलकर हिंदी और हिंदुस्तानी के भेद ने ऐसा रूप धारण किया कि गांधी जी को सम्मेलन से संबंध तोड़ लेना पड़ा। इस समय तक हिंदी-हिंदुस्तानी का विवाद केवल हिंदी-भाषी प्रांतों तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि उसकी छूत हिंदी प्रचारकों को भी लग गई और दक्षिण तथा पश्चिम भारत में काम करने वाले हिंदी प्रचारक भी दो दलों में बंट गये।'[10]

राजनीतिक दृष्टि से यद्यपि हिंदुस्तानी शब्द की चर्चा जोरो से चल रही थी, कांग्रेसी नेता 'हिंदुस्तानी' का खूब प्रचार कर रहे थे, फिर भी मुस्लिम लीग का यह आरोप था कि कांग्रेस मुसलमानो पर हिंदुओं की भाषा थोप रही है। लीग कांग्रेस की शिक्षा और भाषा नीति दोनो से असंतुष्ट थी। इस प्रकार हिंदुस्तानी को दोहरा विरोध सहना पड़ रहा था, एक ओर हिंदी का और दूसरी ओर उर्दू का।

सन् 1947 मे देश स्वाधीन हो गया। देश की राजनीति ने एक नई दिशा ली। भारत विभाजन के बाद पाकिस्तान बन जाने पर देश मे लीग मनोवृत्ति का दिन प्रतिदिन ह्रास होता गया। इसी बीच जनवरी सन् 1948 मे हिंदुस्तानी के प्रबल समर्थक महात्मा गांधी चल बसे। अब लोग यह सोचने लगे कि जब मुसलमानो का एक अलग मुल्क बन गया तथा वहा उर्दू राजभाषा के तौर पर अपना ली गई, तब तो हिंदी को ही भारत की राजभाषा होनी चाहिए, क्योकि हिंदुस्तानी की अब कोई सार्थकता न रही।

अत राजभाषा के सदर्भ मे हिंदी और हिंदुस्तानी के प्रश्न को स्वाधीन भारत की सविधान सभा के समक्ष प्रस्तुत किया गया। सविधान सभा ने इस प्रश्न का समाधान क्या और कैसे प्रस्तुत किया? इसकी चर्चा अगले अध्याय मे की जाएगी।

सदर्भ

1 अंग्रेजी नीति की समीक्षा करते हुए सर जॉन शोर ने लिखा है—
"The fundamental principle of the English had been to make the whole Indian nation subservient in every possible way, to the interest and benifits of themselves"
'खड़ी बोली का आंदोलन', पृ० 250-51 पर अवतरित।

2 नोट—इन आदोलनो की विस्तृत चर्चा इसी अध्याय मे आगे की जायेगी।

3 "The conquest of Bengal by the English was not only a political revolution but involved a greater revolution in thought and ideas, in religion and society."
by Ramesh Chandra Dutta
'हिंदी नाटक उद्भव और विकास', डा० दशरथ ओझा, पृ० 175 पर अवतरित।

4 रमेशचद्र दत्त ने श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को एक पत्र मे लिखा था—

"What a wonderful revolution we have seen within the life time of generation ...a wonderful change."
'सही बोली का आंदोलन', पृ० 249 पर उद्धृत।

5 'भारत का राष्ट्रीय आंदोलन और संविधान', पृ० 23।

6 देश सवा की दुर्दशा के मूल कारण गुलामी पर ग्लानि प्रकट करते हुए श्री बालमुकुंद गुप्त ने लिखा—
'हमरे जाति न धर्म है, नहीं अर्थ न काम।
कहा दुरावें आप से, हमरी जाति गुलाम॥
बहुत दिन बीते राम प्रभु, खोये अपना देस।
खोवत हैं अब बैठके, भाषा, भोजन, भेस॥' — स्फुट कविता', पृ० 16।
स्वतंत्रता को देशोन्नति का मूल मानते हुए प० प्रताप नारायण मिश्र ने कहा—
'सब तजि गहो स्वतंत्रता, नहिं चुप लातें खाव।
राजा करे सो न्याय है, पासा परे सो दाव॥'
—'लोकोक्तिशतक', पृ० 3।
भारतेन्दु जी ने भारत के प्राचीन क्षत्रियों का यशगान इन शब्दों में किया—
'धन-धन भारत के सब क्षत्री, जिनकी सुजस धुजा फहराय।
मारि-मारि के शत्रु दिये है, लाखन बेर भगाय।
महानंद की फौज सुनत ही, डरे सिकन्दर राय।
राजा चंद्रगुप्त ले आये, सेल्यूकस की जाय॥'
—भा० ग्र० द्वि० भा०, पृ० 503।
और श्रीधर पाठक की निम्नांकित पंक्तियों से स्वाधीनता का स्वर प्रथम बार वेग से निकल पड़ा—
'जय जयति सदा स्वाधीन हिंद,
जय जयति जयति प्राचीन हिंद,
हिंद अनुपम अगम बन, प्रेम बेल रसपुंज,
श्रीधर मन मधुकर फिरत, गुंजत नित नव कुंज।'
'हिंद वंदना' 1885 ई०, पृ० 48।

7 'हमारा संवैधानिक इतिहास तथा राष्ट्रीय आंदोलन' पृ० 10।

8. अंग्रेजों की इस शोषण नीति पर व्यंग करते हुए भारतेन्दु जी ने लिखा है—
'भीतर-भीतर सब रस चूसे, हँसि हँसि के तन मन धन मूसे।
जाहिर बातन मे अति तेज, क्यों सखि साजन नहिं अंगरेज॥'

भारतेन्दु ग्रंथावली' (नये जमाने की मुकरी), द्वितीय भाग, पृ० 881।
और प्रताप नारायण मिश्र ने कहा है—
'नित हमरी लातें सहैं, हिंदू सब धन खोय।
खुलै न इंग्लिश पालिसी, जन्म सुफल तब होय॥'

—'प्रतापपीयूष', पृ० 19।

9 'संक्षिप्त कांग्रेस का इतिहास', पृ० 2।
10 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', वर्ष 63-अंक 2, पृ० 149।
11 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' तो भारतेन्दु जी का मूल मंत्र ही था, आगे चलकर प० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा—

'माता है जैसी पूज्य सुनो हे भाई।
भाषा है उसी प्रकार महा सुखदायी।
माता से पूज्य विशेष देश भाषा है।
मिथ्या यह हमने वचन नहीं भाखा है।'

—'सरस्वती', फरवरी 1905।

इतना ही नहीं, श्री गिरिधर शर्मा का कथन है—
'जनम वृथा है तो भी मेरे जान लोगन को,
हिंद पै जनम पाके हिंदी जो न जानी हो।'

—'सरस्वती', 1908, पृ० 352।

12 ईस्ट इंडिया कंपनी के दिनों में दिल्ली के असिस्टेंट रेजिडेंट सी० टी० मेटकाफ ने 29 अगस्त, सन 1806 को जानगिलक्राइस्ट को लिखे गए एक पत्र में कहा था कि 'भारत के जिस भाग में मुझे काम करना पड़ा है, मुझे हर जगह ऐसे लोग मिले हैं, जो हिंदुस्तानी बोल सकते हैं। हिंदुस्तानी एक ऐसी जबान है, जो आमतौर से उपयोगी साबित होती है और मेरी समझ में संसार की किसी भी भाषा से उसका व्यवहार बहुत बड़े पैमाने पर होता है।' इसी प्रकार मद्रास के लेफ्टिनेंट टामस रोवक ने भी ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों की एक कमेटी को एक पत्र में लिखा कि 'हिंदुस्तानी सामान्य जनता की बोलचाल की भाषा तथा भारत की महान लोकप्रिय भाषा है।'

द्रष्टव्य

'A Vacabulary, Hindustani and English, English and Hindustani"

13 हिंदुस्तानी को गांधी जी ने राष्ट्रभाषा बनाया हो, ऐसी बात नहीं है। जो फकीर और साधु हिंदुस्तान भर में घूमते थे, वे हिंदुस्तानी ही बोलते थे।

इस तरह वह सहज ही राष्ट्रभाषा हो चुकी है। उसी को हमने मान्यता दी है।

विनोबा भावे : 'शांति यात्रा', पृ० 48

14. 'इसके अलावा खडी बोली के काव्य मे प्रयुक्त न हो सकने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि जिस प्रकार दिल्ली और कन्नौज के अधीश्वरो के पारस्परिक विग्रह के कारण भारत मे मुसलमानो का आधिपत्य जमा उसी प्रकार इन स्थानो की भाषाओ—खडी बोली और व्रजभाषा—की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा के कारण मुसलमानी हिंदी (उर्दू) को उन्नत होने का अवसर मिला और बाद मे उसे राजाश्रय मिल गया। धर्म का आश्रय पकड़कर व्रजभाषा काव्य की भाषा बनी और राजाश्रय प्राप्त कर 'उर्दू' समृद्धिशालिनी हुई पर 'खडी बोली' केवल लोकाश्रय मे रहकर बोलचाल व दैनिक व्यवहार की भाषा ही बनी रह गयी। इसे काव्य भाष या राज्य भाषा का गौरव नहीं मिल सका।'—'खडी बोली का आंदोलन', पृ०57।
15. 'भारतीय नेताओ की हिंदी सेवा' : डा० ज्ञानवती दरबार, पृ० 49।
16. 'राजाराम मोहनराय स्वय हिंदी मे लिखते थे। उनका धार्मिक तथा सामाजिक कार्य बगला तक सीमित नही था। यद्यपि वह फारसी तथा अंग्रेजी भाषा के विद्वान थे, परन्तु वह जानते थे कि बिना हिंदी के कोई भी अंतर प्रातीय काम नहीं किया जा सकता। अपने विचारो के व्यापक प्रचार के लिये उन्होने जो पुस्तकें छपवाई, वे अधिकाश हिंदी मे थी।' —'स्वतन्त्रता पूर्व हिंदी के सघर्ष का इतिहास', पृ० 55।
17 "The Prarthana-Samaj is really the seal of Keshab's apostolate, for it was he who drew the attention of thoughtful men to the great need for liberalising religion and for infusing new fervour and reforming zeal into the minds of those accustomed to cast ridden, dogma-ridden, priestridden Hinduism"
—'Indian Nation Builders' : D.N. Banerjee, p 58.
18 द्रष्टव्य : 'आर्य समाज का इतिहास' (प्र०भा०) इन्द्र विद्या वाचस्पति, पृ० 303-4।
19. वही, पृ० 304।
20. स्त्री शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए स्वामी दयानद ने लिखा है—'स्त्रियो को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिये। क्या स्त्री लोग भी वेदो को पढ़ें ? (उत्तर) अवश्य, देखो श्रौत सूत्रादि मे—'इम मन्त्र पत्नी पठेत्' अर्थात स्त्री यज्ञ मे इस मन्त्र को पढ़े। जो वेदादि

शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ म स्वर सहित मंत्रों का उच्चारण और संस्कृत भाषण कैसे कर सके ? इसलिये जो स्त्री न पढ़े तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्यों कर हो सके तथा राजकार्य न्यायाधीशत्वादि गृहाश्रम का कार्य जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना, घर के सब काम स्त्री के अधीन रहना, इत्यादि काम बिना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।'
'सत्यार्थ प्रकाश' स्वामी दयानद सरस्वती, पृ० 45।

21 'उन दिनों अधिकाश व्यक्ति स्वामी जी के धार्मिक दृष्टिकोण समझने और ग्रहण करने के हेतु आर्य समाज के हिंदी पत्रों को पढते और दूसरों म भी प्रचार करते थे। अनेक धर्म प्रेमी अपढ लोगों ने हिंदी पढना इसलिये प्रारभ किया, जिससे वे आर्य समाज के धार्मिक सिद्धांतों को समझ सकें।'
—'हिंदी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन' डा० लक्ष्मीनारायण गुप्त, पृ० 169।

22 'न केवल भारत मे, अपितु अफ्रीका, मारीशस, स्याम, ब्रह्मा, मलाया तथा यूरोप के देशों मे, जहा भी आर्य समाज है, वहा हिंदी मे कार्य, हिंदी मे विद्यालय और प्रकाशन भी होते हैं।'—'गगा प्रसाद अभिनदन ग्रथ' 'हिंदी और आर्य समाज' प्रकाशवीर शास्त्री), पृ० 293।

23 श्री इन्द्र विद्या वाचरपति का शर्मा जी के हिंदी लेखन के विषय मे कथन है कि—'भीमसेन शर्मा संस्कृत के विद्वान और हिंदी के सुलेखक थे। स्वामी जी के अनेक ग्रंथों के अनुवाद और सशोधन का कार्य करने के कारण वह लेखन कार्य मे काफी निपुण हो गये थे।'
—'आर्य समाज का इतिहास' (प्र० भा०), पृ० 242।

24 आर्य समाजी और हिंदू महासभा के नेता होने के नाते हिंदी की सेवा भाई परमानंद की राजनीति का आवश्यक अंग थी। शिक्षा तथा सार्वजनिक कार्य के क्षेत्रों में हिंदी को यथोचित स्थान दिलाना उनकी नीति रही।' —'भारतीय नेताओं की हिंदी सेवा', पृ० 100।

25 'हसराज के त्याग और बलिदान से ही सन 1885 और 86 मे क्रमश डी० ए० वी० स्कूल व कालेज की स्थापना हो सकी। उनका व्यक्तित्व आधुनिक पजाब के इतिहास मे अद्वितीय है। गुरुकुल कागड़ी के सस्थापक मुंशीराम ही ऐसे दूसरे व्यक्ति हैं जिनका उल्लेख हसराज के साथ किया जा सकता है। आर्य समाज के सस्थापक स्वामी दयानद के बाद इन दोनों सज्जनों के नाम ही ऐसे हैं, जिनके बिना आर्य समाज की कल्पना करना असंभव है।' —'आर्य समाज' लाला लाजपतराय, पृ० 187।

26 (अ) 14 दिसम्बर सन 1923 के 'हिंदी नव जीवन' मे लाला **लाजपतराय**

की चर्चा करते हुए गांधी जी ने लिखा है—
'लाला जी सदा शंकित चित्त रहते हैं और उन्हें मुसलमानों के उद्देश्य के बारे में बड़ी शंका रहती है। लेकिन वह मुसलमानों की दोस्ती सच्चे दिल से चाहते हैं। लाला जी के प्रति मेरा बड़ा आदर भाव है। मैं उन्हें बहादुर, आत्मत्यागी, उदार, सत्यनिष्ठ और ईश्वर से डरने वाला मानता हूं। उनका स्वदेश प्रेम बड़ा ही शुद्ध है। देश की जितनी और जैसी सेवा उन्होंने की है, उसमें उनकी बराबरी करने वाले बहुत कम हैं।'

—'मेरे समकालीन', पृ० 534।

(ब) 'वाणी, स्वर, इन जन्मसिद्ध विभूतियों को लाला जी ने बहुत यत्नपूर्वक संस्कार किया था। व्याख्यान देने की कला का उन्होंने कलाकारों की भांति अभ्यास किया था। परिणाम यह था कि वह अपने समय में हिंदुस्तानी के सर्वोत्कृष्ट वक्ता बन गये। '

—'मैं इनका ऋणी हूं' इन्द्र विद्या वाचस्पति, पृ० 56।

27 स्वामी श्रद्धानंद के हिंदी-प्रेम की सराहना करते हुए गांधी जी ने लिखा है—'स्वामी जी से मेरा पहला परिचय तब हुआ जब वह महात्मा मुंशीराम के नाम से प्रसिद्ध थे, वह परिचय भी पत्रों से हुआ। उस समय वह गुरुकुल कांगड़ी के प्रधान थे, जो कि उनका सबसे पहला और बड़ा शिक्षा क्षेत्र का काम है। वह सिर्फ पश्चिमी शिक्षा पद्धति से ही सन्तुष्ट न थे। लड़कों में वह वेद शिक्षा का प्रचार करना चाहते थे और वह पढ़ाते थे हिंदी के जरिये, अंग्रेजी के नहीं।—इस विषय में स्वामी जी ने मुझे जो पत्र भेजा था, वह हिंदी में था। उन्होंने मुझे 'मेरे प्रिय भाई' कहकर लिखा था। इसने मुझे महात्मा मुंशीराम का प्रिय बना दिया।'

—'हिंदी नव जीवन', 6 जनवरी, 1927।

28 'यह मानी हुई बात है कि स्वामी जी ने सर्व साधारण में आर्य भाषा में व्याख्यान देना बाबू केशव चंद्र सेन के कहने पर ही प्रारंभ किया था। इससे पूर्व वह संस्कृत में ही व्याख्यान देते थे।'

—इन्द्र विद्या वाचस्पति 'आर्य समाज का इतिहास', पृ० 83।

29 'आर्य समाज के तत्कालीन धार्मिक एवं सांस्कृतिक आंदोलन के प्रसार के निमित्त जो व्याख्यानों और वक्तृताओं की धूम मची, उससे हिंदी गद्य को बड़ा प्रोत्साहन एवं बल मिला। इस धार्मिक आन्दोलन के कारण सारे उत्तरी भारत में हिंदी का प्रसार हुआ। इसका कारण यह था कि आर्य समाज के आदि गुरु स्वामी दयानंद ने, स्वयं गुजराती होने पर भी, हिंदी को ही सर्वत्र अपनाया। इस स्वीकृति का मुख्य कारण हिंदी की व्यापकता थी।'—डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा 'हिंदी गद्य शैली का विकास', पृ० 78।

30. आर्य समाज का इतिहास', (प्र० भा०), पृ० 304।
31 'सत्यार्थ प्रकाश', पृ० 141।
32 'नारायण अभिनंदन ग्रंथ' पृ० 156 पर अवतरित।
33 भारतीय नेताओं की हिंदी सेवा', पृ० 62 से साभार उद्धृत।
34 "Among the various varnaculars that are spoken in the different parts of India, there is one that stands out strongly from the rest, as that which is most widely known It is Hindi A man who knows Hindi can travel all over India and find every-where Hindi-speaking people .....The learning of Hindi is a sacrifice that southern India might well make to the unification of the Indian nation"
—'भारतीय नेताओं की हिंदी सेवा', पृ० 388 पर उद्धृत।
35 'हिंदी प्रचारक-मद्रास', अश्विन-कार्तिक, सं० 1985।
36 द्रष्टव्य 'हिस्ट्री आफ इंडियन जर्नलिज्म' (भाग दो) पृ० 99।
37 'खड़ी बोली का आंदोलन', पृ० 140।
38 'श्रीवर्षा बिंदु' : चौधरी प्रेमघन, पृ० 41।
39 'धर्मयुग'—स्वाधीनता रजत जयन्ती वर्ष, अगस्त 1972, पृ० 10 पर उद्धृत।
40 गांधी जी ने बड़ी दृढ़ता के साथ इस बात का उद्घोष किया था कि 'मैं भारतमाता के लिये अपना सब कुछ बलिदान करने को तैयार हूं, किंतु सत्य व अहिंसा नहीं।' उसका कारण समझाते हुए उन्होंने कहा—'हिंसापूर्ण उपायों से लिया गया स्वराज्य भी हिंसापूर्ण होगा और वह दुनिया के लिये और खुद भारत के लिये भय का कारण सिद्ध होगा।'
'धर्मयुग'—स्वाधीनता रजत जयन्ती वर्ष, अगस्त सन 1972, पृ० 10 पर उद्धृत।
41. इस प्रस्ताव के संबंध में टिप्पणी देते हुए गांधी जी ने अपना विचार इन शब्दों में प्रकट किया—'हिंदुस्तानी के उपयोग के बारे में जो प्रस्ताव पास हुआ है, वह लोकमत को बहुत आगे ले जाने वाला है। हमें अब तक अपना काम-काज ज्यादातर अंग्रेजी में करना पड़ता है, यह निस्सन्देह प्रतिनिधियों और कांग्रेस की महासमिति के ज्यादातर सदस्यों पर होने वाला एक अत्याचार ही है। इस बारे में किसी-न किसी दिन हमें आखिरी फैसला करना होगा ही। जब ऐसा होगा तब कुछ वक्त के लिये थोड़ी दिक्कतें पैदा होंगी, थोड़ा असंतोष भी रहेगा। लेकिन राष्ट्र के विकास के

लिये यह अच्छा ही होगा कि जितनी जल्दी हो सके हम अपना काम हिंदुस्तानी मे करने लगें। —'राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी', पृ० 25।

42 'राष्ट्रभाषा का इतिहास', पृ० 84-85।

43 'हिंदी आंदोलन' (हिंदी और राष्ट्रीय एकता), पृ० 32।

44 द्रष्टव्य 'राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी', पृ० 3 से 8।

45 'राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी', पृ० 5।

46 'समाज की सबसे बडी सेवा हम पहले अपने आपको बन्धनो से मुक्त करके ही कर सकते हैं। मेरा विश्वास है कि अंग्रेजी भाषा तथा रीतिरिवाजो के अनुकरण से हम और अधिक बंधनो म पडे हुए हैं। देश प्रेम और जनता के प्रेम से हमे देशी भाषाओ की ओर निहारना चाहिए। राष्ट्रीय व्यवहार म हिंदी को काम मे लाना देश की शीघ्र उन्नति होने के लिये अत्यावश्यक है।' —महात्मा गांधी 'राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी', पृ० 1।

47 'राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी', पृ० 45।

48 द्रष्टव्य 'राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी', पृ० 43-44।

49 'राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी', पृ० 44।

50 'शिक्षा का माध्यम', पृ० 11।

51 वही, पृ० 12।

52 'आत्मकथा', पृ० 18।

53 'राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी , पृ० 46।

54 वही, पृ० 11।

55 एक हिंदी प्रचारक को लिखे हुए पत्र मे उनकी इस आकाक्षा का आभास मिलता है—

'जब तक तमिल प्रदेश के प्रतिनिधि सचमुच हिंदी के बारे मे सख्त नही बनेंगे, तब तक महासभा मे से अंग्रेजी का बहिष्कार नही होगा। मैं देखता हू कि हिंदी के बारे मे करीब-करीब खादी के जैसा हो रहा है। वहा जितना सभव हो, आंदोलन किया करो। आखिर मे तो हम लोगो की तपश्चर्या और भगवान की जैसी इच्छा होगी वैसा ही होगा।'

'हिंदी प्रचारक'—फरवरी, 1929, पृ० 35।

56 'भाषा और समाज', पृ० 414।

57 'राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी' पृ० 44-45।

58 वही, पृ० 49।

59 गाधी जी ने लिखा है—

'अंग्रेजी ने हम पर जो जादू का असर डाला वह अभी नष्ट नही हुआ है। उसके कारण हम हिंदुस्तान की, उसके ध्येय की ओर प्रगति म रोडे

कोण में कोई मौलिक भेद नहीं। 'किंतु यदि आप मेरे दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं और आपकी आत्मा यही कहता है कि सम्मेलन से अलग हो जाऊं, तो आपके अलग होने की बात पर बहुत खेद होते हुए भी नतमस्तक हो आपके निर्णय को स्वीकार करूंगा।'

—'राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी', क्रमश पृ० 173 व 175।

64 'भारतीय नेताओं की हिंदी सेवा', पृ० 213।

65 'राष्ट्रभाषा हिंदी का नया स्वरूप' शीर्षक लेख में सावरकर जी ने अपनी इस मान्यता को इन शब्दों में दोहराया है—'संस्कृतनिष्ठ हिंदी को ही हर हालत में राष्ट्रभाषा बनना चाहिये। मुसलमान लोगों को प्रसन्न करने के लिये हिंदी को विकृत करने की आवश्यकता नहीं। हिंदी से संस्कृत शब्दों का बहिष्कार उचित नहीं।' —'वीणा' (इन्दौर), अगस्त, 1937।

66 (क) 'हिंदी को राष्ट्रीय भाषा स्वीकार करने में अन्य प्रांतों की भाषा के संबंध में कोई अपमान की भावना या ईर्ष्यालु भावना नहीं है। हमें अपनी प्रांतीय भाषाओं से भी उतना ही प्रेम है, जितना कि हिंदी से। ये सब भाषाएं अपने-अपने क्षेत्र में उन्नत होती रहेंगी। वास्तव में कुछ प्रांतीय भाषाएं हिंदी भाषा की अपेक्षा अधिक सम्पन्न है, परंतु फिर भी हिंदी अखिल हिंदुत्व की राष्ट्रभाषा होने के लिये सब प्रकार से सर्वश्रेष्ठ है।' —सावरकर 'हमारी समस्याएं', पृष्ठ 30।

(ख) 'हमारा राष्ट्रभाषा प्रचार एक राष्ट्रीय कार्यक्रम है। वह पक्ष निरपेक्ष है। जिन लोगों को हिंदुस्तान की एकता अभीष्ट है उन्हें राष्ट्र-संगठन आज का युगधर्म-सा मालूम होता है। स्वराज्य जिनके लिये प्राण स्वरूप है ऐसे सब लोग राष्ट्रभाषा प्रचार के आंदोलन में शरीक हो सकते हैं।·· · प्रांतीय भाषा के अभिमानियों को मैं इतना ही कहूंगा कि राष्ट्रभाषा के प्रचारक हम लोग हिंदी भाषा-भाषी नहीं हैं।' —काका साहब कालेलकर 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' के सन 1938 के अधिवेशन में दिये गये भाषण से। 'भारतीय नेताओं की हिंदी सेवा', पृ० 396 पर उद्धृत।

67 'साहित्य शिक्षा और संस्कृति', पृ० 57।

68 'सन 1936 में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' मद्रास के नये भवन का उद्घाटन करते समय दिये गये भाषण से।

—'हिंदी प्रचारक' (मद्रास), सितम्बर-अक्टूबर, 1936।

69 'राजभाषा'—संसदीय हिंदी-परिषद का मासिक—22 मई, सन 1959।

70 'विनोबा-स्तवन' पं० बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन', पृ० 4।

71 राष्ट्रभाषा के विषय में विनोबा जी का स्पष्ट मत है कि—'आज राष्ट्र-

भाषा के तौर पर संस्कृत नहीं चलेगी। फिर दूसरी कौन-सी भाषा राष्ट्रभाषा हो सकती है? आखिर यही तय पाया कि हिंदुस्तानी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है, क्योंकि पंद्रह-बीस करोड़ लोग उस भाषा को जानते हैं। बंगाली लोग अगर पूछें कि बंगला क्यों राष्ट्रभाषा न हो? क्या उसमें साहित्य की कमी है? मैं कहूंगा बंगला में हिंदुस्तानी से बढ़कर साहित्य है। फिर भी वह राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। उसका एक ही कारण है कि वह भाषा अधिक लोग नहीं जानते। हिंदुस्तानी को गांधी जी ने राष्ट्रभाषा बनाया हो, ऐसी बात नहीं है। जो फकीर और साधु हिंदुस्तान भर में घूमते थे, वे हिंदुस्तानी ही बोलते थे। इस तरह वह सहज ही राष्ट्रभाषा हो चुकी है। उसी को हमने मान्यता दी है।'

—'शांति यात्रा' पृ० 47-48।

72 'सेठ गोविंद दास अभिनंदन ग्रंथ', पृ० 66।

73 'कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी अभिनंदन ग्रंथ', पृ० 87।

74 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र' डा० रामविलास शर्मा, पृ० 73।

75 'निश्चय ही भारतेन्दु युग तक आते आते हिंदी गद्य में युगांतर उपस्थित हो गया था और हिंदी नये चाल में ढलने लगी थी।'—डा० रामचंद्र तिवारी 'हिंदी का गद्य साहित्य', पृ० 32।

76 'हिंदी गद्य के युग निर्माता' डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ० 7।

77 'खड़ी बोली का आंदोलन', पृ० 103।

78. 'हिंदी गद्य के युग निर्माता', डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ० 49-50।

79 'हमारा हिंदी साहित्य प० महावीर प्रसाद द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा। व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदी जी ही थे। 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियां दिखा-दिखाकर लेखकों को बहुत कुछ सावधान कर दिया।' —आचार्य शुक्ल : 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ० 450।

80. 'अभी मिलेगा ब्रजमंडलस्थ का मुमुक्त भाषामय वस्त्र एक ही। शरीर सभी करके उसे सदा, विराग होगा तुमको अवश्य ही। इसीलिये है भवभूति भाविते, अभी यहां है कविते न आ न आ।' —'सरस्वती' ('हे कविते'—आचार्य द्विवेदी) जून सन 1901।

81 'गद्य और पद्य की भाषा पृथक-पृथक न होनी चाहिए। हिंदी ही एक ऐसी भाषा है जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी में गद्य-पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए।' —आचार्य द्विवेदी : 'सरस्वती' ('कवि कर्तव्य',

सन 1901।

82 'सरस्वती' (सरस्वती की महावीरता), सन 1907, पृ० 19।

83 'सरस्वती' सन 1909, पृ० 555।

84 'राजर्षि अभिनंदन ग्रंथ' (डा० राजवली पाण्डेय द्वारा लिखित 'भाषात्मक प्रतिश्रुति' से)। पृ० 680।

85 पत्रिका के उद्देश्य : '(1) नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रचार,
(2) हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन,
(3) भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान,
(4) प्राचीन, अर्वाचीनशास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।'
'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—सं० 2016, अंक 3-4।

86 सम्मेलन के उद्देश्य 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' के संतालीसवें वार्षिक विवरण से उद्धृत हैं।

87 'उर्दू और हिंदी एक ही हैं, इस तरह जैसे सती और पार्वती'—
'भाषा' डा० राम मनोहर लोहिया, पृ० 8।

88 'संस्कृत कबिरा कूप जल, भाषा बहता नीर'—कबीर।
'का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिये सांच'—तुलसी।
'भाषा निबंध मतिमंजुलमातनोति'—तुलसी।
'भाषा बोलि न जानही, जिनके कुल के दास'—केशव।
'बोसिल बयना सब जन मिट्ठा'—विद्यापति।

89 'भाषा के लिये हिंदी शब्दों के सर्वप्रथम नामकरण का श्रेय मुसलमान लेखकों और कवियों ही को दिया जा सकता है। हिंदुओं का इसमें जरा हाथ नहीं है। इस बात को सभी आधुनिक इतिहास लेखकों ने स्वीकार कर लिया है।'
—पद्मसिंह शर्मा, 'हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी' पृ० 14-15।

90 श्री पद्म सिंह शर्मा ने अपनी पुस्तक 'हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी' में उर्दू के ही पच्चीसों लेखकों एवं कवियों की उक्तियों के साक्ष्य में बड़ी प्रामाणिकता के साथ यह सिद्ध किया है कि हिंदी, हिंदवी, रेख्ता, उर्दू एवं हिंदुस्तानी आदि एक ही भाषा के विविध नाम हैं।
द्रष्टव्य 'हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी', पृ० 14 से 28।

91 'हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी', पृ० 36-37।

92 'हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी, पृ० 38 से साभार अवतरित।

93 'हिंदी भाषा की आधुनिक समस्याएं', पृ० 8।

94 नोट उन्नीसवीं शताब्दी में हुए हिंदी-उर्दू-विरोध एवं उनके कारणों का

विस्तृत विवेचन पिछले अध्याय मे किया जा चुका है।

95 गाधी जी ने हिंदी की परिभाषा का स्पष्टीकरण इन शब्दो मे किया—'हिंदुस्तान के उत्तरी हिस्से मे मुसलमान और हिंदू एक ही भाषा बोलते है। भेद सिर्फ पढे-लिखो ने पैदा किया है।...उत्तरी हिंदुस्तान मे जिस भाषा को यहा का जन समाज बोलता है, उसे आप चाहे उर्दू कहे, चाहे हिंदी, बात एक ही है। उर्दू लिपि मे लिखकर उसे उर्दू नाम से पहचानिये और उन्ही वाक्यो को नागरी लिपि मे लिखकर उसे हिंदी कह लीजिये।'

—'राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी', पृ० 6।

96 'एक दूसरे के विरोध मे चलने वाले हिंदी-उर्दू के दो दल बन गये। इधर तो नागरी या हिंदी के प्रचार के प्रयत्न प्रबल हुए और उधर जबान (उर्दू) की तरक्की के लिये अनेक उलमा की अजुमने काम करने लगी। परिणाम यह हुआ कि कुडली बनाने वालो की मशा पूरी हुई और दोनो के बीच की धार्मिक और राजनीति खाई गहरी होती।

डा० सरनाम सिंह शर्मा 'हिंदी भाषा की आधुनिक समस्याए', पृ० 8।

97 हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी, पृ० 1।

दोनो उग्रदलो की प्रतिनिधि भाषा का उदाहरण प० पद्मसिंह शर्मा ने यो दिया है—

एक सज्जन विशुद्ध हिंदी के परम पक्षपाती थे। उनके दाहिने पाव के अगूठे मे चोट लग गयी थी, कारण पूछने पर बोले—'दक्षिण पाद के अगुष्ठ मे प्रस्तर के आघात से व्रण हो गया है, उस पर आर्द्र-वस्त्र, वेष्टन कर रक्खा है, इससे लाभ की पूर्णतया सभावना है, अन्य प्रकार की अप्राकृत चिकित्सा प्रणाली का मैं विरोधी हूं।'

हजरत जानजाना मे सम्पद इशा का एक अर्ज—

'इब्तदाये सिन सबा से ता अवायले-रीआन और अवायले-रीआन ने इलल आन इब्तिदायये-मालह ताक तकविल अतवए-आलिये न वहदे था, कि सिल्के-तहरीरो-तकरीर मे मुन्तजिम हो सके, लिहाजा बेवास्ता ओ वसीला हाजिर हुआ हू।' (दरिया ए-लताफत)।

—'हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी' क्रमश पृ० 13 व 12।

98 'राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी' पृ० 17।

प० पद्मसिंह शर्मा ने भी हिंदी हिंदुस्तानी की परिभाषा इन शब्दों मे दी है—

'विशुद्ध हिंदी और फसीह उर्दू-ए-मुअल्ला की एक दरम्यानी सूरत का नाम हिंदुस्तानी कहा जाता है, जिसमे सकील और गैरमानूस अरबी-फारसी अलफाज और दुरूह तथा दुर्बोध संस्कृत के क्लिष्ट शब्दो से जहा

तक हो सके बचाने की कोशिश की जाती है और इस पर ध्यान रखा जाता है कि नित्त के कारबार में जो शब्द और मुहावरे बोलचाल में काम आते हैं वही पोथियों में और अखबारों में बरते जायें।'

'प्रारंभ में हिंदी उर्दू एक ही थी, बाद को जब व्याकरण, पिंगल, लिपि और शैली भेद आदि के कारण दो भिन्न दिशाओं में पड़कर यह एक दूसरे से बिल्कुल पृथक होने लगी, तो सर्व साधारण के सुभीते, और शिक्षा के विचार से इनका विरोध मिटाकर इन्हें एक करने के लिये भाषा की इन दोनों शाखाओं का संयुक्त नाम 'हिंदुस्तानी' रखा गया।'

'हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी', क्रमश पृ० 1-2 व पृ० 151।

98 'राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी', पृ० 50।

99 'राष्ट्रभाषा आंदोलन और गांधी जी' डा० रामधारी सिंह दिनकर, पृ० 113।

स्वतंत्र भारत : भाषा नीति बनाम राजनीति

15 अगस्त, सन 1947 को स्वाधीनता संघर्ष की अंतिम मंजिल तय हुई। इस प्रकार यह संघर्ष स्वतंत्रता प्राप्ति जैसे अपने महान लक्ष्य की प्राप्ति में पूर्ण सफल हुआ। स्वाधीनता संघर्ष के कदमो म कदम मिलाते हुए 'निजभाषा' के रूप मे चलने वाले हिंदी-आंदोलन को भी समय को इस सीमा पर अपनी मंजिल के सर्वोच्च शिखर पर पहुच कर पूर्ण विराम लेना चाहिए था, यही न्यायोचित एव राष्ट्रीयता के अनुकूल होता। किंतु ऐसा कुछ होते देखा नही गया। स्वाधीनता प्राप्ति के साथ भाषा नीति को लेकर भारतीय, मुख्यत अहिंदी भाषी नेताओं की मनोवृत्ति बदली हुई सी दिखायी पड़ी। स्वाधीनता संघर्ष के मध्य हिंदी के प्रति दिखायी पड़ने वाला उनका जोश ठंडा पड़ने लगा। अब हिंदी-प्रेम को घाटे और नफे की तराजू पर तोला जाना शुरू हुआ। अहिंदी भाषी नेताओं की राष्ट्रीयता प्रांतीयता का रूप धारण करने लगी। स्वार्थ साधना में लीन इन नेताओं ने कपट-पूर्ण भाषा नीति का ऐसा चक्र चलाया कि हिंदी-आंदोलन की मंजिल देखने में तो पड़ह, पर न जाने कितने वर्षों के लिए आगे बढ गयी। आज भारत को स्वाधीन हुए 25 एव भारतीय संविधान को लागू हुए 22 वर्ष गुजर रहे हैं, किंतु उस मंजिल के मिलने की वेला न आयी।

स्वतंत्रता पूर्व हिंदी का जो आंदोलन चल रहा था, वह आज तक चलता आ रहा है। अंतर यह है कि स्वाधीनता पूर्व राजभाषा के संदर्भ में राष्ट्रभाषा हिंदी का आंदोलन था और आज का आंदोलन सीधे राजभाषा हिंदी का आंदोलन है। उसकी गति काफी तेज थी और इसकी अपेक्षाकृत मथर है। उस समय अंग्रेजी-नीति के फलस्वरूप हिंदी के मुख्य विरोधी मुसलमान थे और आज अहिंदी भाषी नेतागण हैं। उस समय हिंदी का विरोध मात्र अंग्रेजी से था, यद्यपि उर्दू ने अपने

को मुख्य प्रतिद्वंद्वी साबित किया था और आज भी अंग्रेजी से ही है। उस समय अंग्रेजी की ढाल जबाने उर्दू बनी थी और आज हिंदीतर प्रादेशिक भाषाएं हैं।

वस्तु स्थिति यह है कि भारतवासियों को यह आजादी भारत को हिंदुस्तान एवं पाकिस्तान दो टुकड़ों में विभक्त करके दी गई, जो विश्वइतिहास में बेमिसाल है। खैर, दो राष्ट्रों के बन जाने से जहां हिंदी-उर्दू-विवाद का अंत हुआ, किसी न किसी तरह हिंदी-हिंदुस्तानी का बखेड़ा दूर किया जा सका, वहीं अहिंदी भाषी वरिष्ठ नेताओं ने क्षुद्र स्वार्थ के चक्कर में पड़कर और तो और सुनीति बाबू तथा चक्रवर्ती राजागोपालाचारी, जो एक समय हिंदी के लिए प्राण तक का दाव लगा देने में जरा भी हिचकिचाते न थे, इसके कट्टर विरोधी बन बैठे।[1] हिंदी को राजभाषा का पद देकर भी, उसकी योग्यता में कमी दिखाकर सन 1965, इच्छानुसार अनन्तकाल तक के लिए अंग्रेजी को राजभाषा का अधिकार सौंप दिया गया। यही वह स्थल है जहां राजभाषा हिंदी की समस्या सुलझते सुलझते ऐसी उलझी कि आजतक उलझी ही रह गई। हिंदी के महल में अंग्रेजी स्वशासन काल की तरह राजरानी बनी हुई है और हिंदी, दासी।

संविधान सभा की स्थापना से लेकर आजतक जब-जब भी राजभाषा हिंदी को उसके मौलिक अधिकार दिलाने के लिए सरकारी या गैर सरकारी तौर पर बात उठाई गई है, या कोई आंदोलन किया गया है, तब-तब दक्षिण भारत से उसका खुलेआम जमकर विरोध हुआ है, प्रतिक्रिया स्वरूप अंग्रेजी को पनाह देने के वास्ते हिंदी विरोधी-आंदोलन किए गए हैं और काफी मात्रा में राष्ट्र को भौतिक क्षति पहुंचाई गई है। अब मन में सबसे स्वाभाविक सवाल जो उठता है, वह यह कि आखिरकार दक्षिण भारत द्वारा अंग्रेजी की वकालत करने अथवा अंग्रेजी की आड़ में शिकार खेलने का वास्तविक मतलब क्या है? वस्तुतः रहस्य तो यह है कि दक्षिण वाले सोचते हैं कि अंग्रेजी के राजभाषा बने रहने पर अखिल भारतीय नौकरियां सर्वाधिक मात्रा में हमें सुलभ होती रहेंगी और इस प्रकार समूचे भारत पर हमारा सिक्का जमा रहेगा। अगर अंग्रेजी हटती है तो अवश्य ही हिंदी वह स्थान लेगी और तब निश्चित ही इस क्षेत्र में हिंदी वाले बाजी मार ले जाएंगे और हम अहिंदी भाषी पीछे छूट जाएंगे। दक्षिणेतर अहिंदी भाषी प्रांतों की आंतरिक मनोवृत्ति भी कुछ-कुछ ऐसी ही है। चूंकि इस समय हिंदी का सशक्त व समर्थ विरोधी दक्षिण भारत है, इसलिए बंगाल जैसे प्रांत बेचारे कान में तेल डाले बैठे हैं, अन्यथा ये भी अपनी चालों से बाज न आते। तात्पर्य यह कि अंग्रेजी के खिसकने पर अहिंदी भाषियों के पांव तले की जमीन के खिसकने का भय है और यही भय राजभाषा के क्षेत्र में फैले हुए सभी वितंडाओं की जड़ है।

संविधान सभा की स्थापना और भाषा-समस्या

भारत की राजनीतिक समस्या को सुलझाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने केबिनेट मिशन की स्थापना की थी। इस मिशन ने सन 1946 की अपनी योजना के बीच भारत के लिए संविधान तैयार करने के उद्देश्य से एक 'संविधान-सभा' की स्थापना की। जुलाई, सन 1946 में 'संविधान सभा' के सदस्यों का चुनाव हुआ, जिसमें कांग्रेस के 205, मुस्लिम लीग के 73 एवं 18 स्वतंत्र सदस्य चुने गए। मुस्लिम लीग के सदस्य अपने लिए अलहृद' मुल्क की माग पर अड़े हुए थे। अतः वे असहयोग की नीयत से संविधान सभा को सहयोग देने से साफ इन्कार कर गए।

9 दिसम्बर, सन 1946 को संविधान सभा की पहली बैठक हुई और 11 दिसम्बर की बैठक में राजेन्द्र बाबू सभा के स्थाई अध्यक्ष नियुक्त हुए। अब कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए संविधान सभा द्वारा अनेक समितियों की स्थापना की गई। इनमें सबसे प्रमुख प्रारूप समिति थी। 'इस समिति ने अथक प्रयास के बाद 21 फरवरी, सन 1948 को संविधान का प्रारूप तैयार कर लिया। अंततोगत्वा 26 नवबंर, सन 1949 को सभा द्वारा काट-छाट कर उसे अंतिम रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार से निर्मित भारत का यह संविधान स्वतंत्र भारत में 26 जनवरी, सन 1950 से लागू हुआ। इसी संविधान सभा में राजभाषा का प्रश्न भी उपस्थित हुआ था।

भारत लगभग डेढ़-पौने दो सौ वर्षों तक अंग्रेजों का गुलाम रहा। इस दौरान यहा की राजभाषा अंग्रेजी रही। देश के शासन संबंधी कागज-पत्र कानून इत्यादि सभी अंग्रेजी में ही थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ सभी स्वदेशी नेताओं ने महसूस किया कि राजभाषा अंग्रेजी का स्थान किसी स्वदेशी भाषा को दिया जाय। इस विषय में यह स्पष्ट था कि हिंदी के अलावा अन्य कोई भी भारतीय भाषा इस पद पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। फिर भी संविधान सभा में राजभाषा के सिलसिले में हिंदी को लेकर काफी वादविवाद, उछल-कूद, धर-पकड होती रही। अंततोगत्वा जब किसी तरह प्राय: सभी सदस्य हिंदी के लिए राजी हुए भी तो 'राजभाषा' के नामकरण पर पुन. मतभेद शुरू हुआ। इस मतभेद का कारण हिंदी और हिंदुस्तानी था।

स्वाधीनता संघर्ष के जमाने में ही राजनीतिक स्तर पर हिंदी और हिंदुस्तानी को लेकर गहरा मतभेद था। अब संविधान सभा में भी इसकी पुनरावृत्ति हुई। सभा के सामने यह सवाल उठा कि देश की राजभाषा को 'हिंदी' और 'हिंदुस्तानी' में से कौन सी संज्ञा दी जाए?

इस प्रश्न के पीछे मुख्यतः दो भावनाएं काम कर रही थी। कुछ नेताओं का

विचार था कि भारत-विभाजन अथवा पाकिस्तान-निर्माण के बाद देश के लिए 'उर्दू' का महत्व स्वतः कम हो गया है, इसलिए हिंदी तथा उर्दू की मिली-जुली शैली के रूप मे 'हिंदुस्तान' की कोई सार्थकता अब न रही। दूसरी ओर कुछ नेताओं के अनुसार गाधी जी द्वारा समर्थित तथा प्रचारित शब्द 'हिंदुस्तानी' ही देश की राजभाषा के लिए उपयुक्त था।

इस मत का फल यह हुआ कि सविधान सभा मे भी हिंदी और हिंदुस्तानी को लेकर स्पष्टत दो दल हो गए। एक का प्रतिनिधित्व राजर्षि पुरुषोत्तमदास टडन तथा सेठ गोविंददास कर रहे थे और दूसरे का गाधी जी के परम अनुयाई, देश के वरिष्ठ नेतागण। इन दोनो दलो मे राजभाषा के नामकरण पर काफी वाद विवाद चलता रहा, गर्मागर्म बहस होती रही।

हिंदी के समर्थकों का यह दावा था कि हिंदुस्तानी जैसी किसी भी भाषा का देश मे अस्तित्व ही नही है। इससे मात्र बोलचाल का काम चलाया जा सकता है, यह हमारे विधि विधान, राज काज का काम करने म बिलकुल असमर्थ है। इस मत का प्रबल समर्थन श्री घनश्यामसिंह गुप्त ने 9 नवबर, सन 1948 की सविधान सभा की एक बैठक मे बडे ही प्रभावशाली ढग से किया था। उसी दिन 'हिंदुस्तानी' के कट्टर समर्थक श्री मोटूरि सत्यनारायण ने उपर्युक्त मत का खडन करते हुए सतर्क यह सिद्ध किया था कि देश म हिंदुस्तानी भाषा का पूर्ण अस्तित्व है तथा वही एक मात्र देश की राजभाषा हो सकती है।[2] इस प्रकार यह विवाद एक लबे अर्से तक चलता रहा।

अहिंदी भाषी प्रदेशो के बहुत से प्रतिनिधि भी हिंदुस्तानी के विपक्ष मे थे। चूकि उनकी भाषाओ म सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग बहुलता से होता है, इसलिए उन्हें देवनागरी लिपि म लिखित हिंदी ही मान्य थी। उदाहरणार्थ मैसूर के श्री एस० वी० कृष्णमूर्ति राव ने 9 नवम्बर, सन 1948 की सविधान सभा की उस बैठक मे यह घोषणा की थी कि—'हमे देवनागरी लिपि मे लिखित हिंदी ही राजभाषा के रूप मे मान्य है।'[3] दूसरी ओर हिंदुस्तानी को भी प्रबल समर्थन प्राप्त था। मद्रास के पोकर साहब बहादुर जैसे व्यक्ति का भी कथन था कि चूकि 'हिंदुस्तानी' शब्द गाधी जी द्वारा समर्थित रहा है, इसलिए गाधी जी की स्मृति को स्थिर रखने के लिए हिंदुस्तानी को ही राजभाषा के रूप मे मान्य करना चाहिए।'[4]

सविधान सभा के अंको मे प्रश्न पर भी गहरा मतभेद था। राजर्षि पुरुषोत्तम दास टडन, सेठ गोविंददास आदि नागरी अको के प्रबल समर्थक थे, तो दूसरी ओर प० जवाहर लाल नेहरू के प्रतिनिधित्व मे एक दल ऐसा भी था जो अरबी-रोमन अंको का हिमायती था। इन नेताओ का दावा था कि अरबी अक ईसा की आठवी शताब्दी मे भारत [illegible] ही अरब गए थे, जो वहा से आगे बढ़कर रोमन अको मे बदल गए, रोमन अक, अतर्राष्ट्रीय अक हैं, इसलिए इन्हे ही देश की राजभाषा के साथ

राजलिपि मे स्थान मिलना चाहिए।

संविधान सभा के बाहर का भारतीय वातावरण हिंदी के अनुकूल था। बाहर भी हिंदी का प्रबल समर्थन हो रहा था। कुछ कांग्रेसी नताओं ने यहा तक धमकी दी थी कि यदि संविधान सभा में हिंदी के विरुद्ध कुछ भी निर्णय लिया गया, तो वे कांग्रेस तथा संविधान सभा दोनों का त्याग कर देंगे। 6 तथा 7 अगस्त, सन 1949 को 'राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद' का एक महत्वपूर्ण अधिवेशन नई दिल्ली में हुआ। उसमे अनेक अहिंदी भाषी नेताओ तथा विद्वानो ने भी खुले दिल स हिंदी का समर्थन किया तथा पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद सर्व सम्मति से यह प्रस्ताव पारित किया गया कि देवनागरी लिपि मे लिखित हिंदी को ही देश की राजभाषा के रूप मे स्वीकार किया जावे। 'परिषद' के इस फैसले का संविधान सभा पर बडा गहरा असर पडा।

अगस्त सन 1949 मे ही राजस्थान तथा मध्य प्रात की सरकारो ने भी हिंदी का खुलेआम समर्थन किया। देश की अनेक साहित्यिक तथा सामाजिक संस्थाए तो पहले से ही हिंदी के लिये कटिबद्ध थी। अत संविधान सभा मे 11, 12, 13 तथा 14 दिसम्बर सन 1949 को इस प्रश्न पर काफी वाद विवाद हुआ, सभा के सामने कई विकल्प रखे गये। राजर्षि टडन, सेठ गोविंददास, डा० राजेंद्र प्रसाद प्रभृति नेताओ ने हिंदी तथा नागरी के समर्थन मे पूरा जोर लगाया। अततोगत्वा पर्याप्त विचार विमर्श के बाद अतर्राष्ट्रीय (रोमन) अको के साथ देवनागरी लिपि में लिखित हिंदी को राजभाषा के रूप मे स्वीकार कर लिया गया। फिर भी आग लगी की लगी ही रह गयी। और वह यह कि हिंदी को लिखित रूप मे राजभाषा स्वीकार करने के बावजूद संविधान सभा द्वारा ही 15 वर्षों के लिये फिर से अंग्रेजी को राज सिंहासन पर बिठा दिया गया। वचन देकर भी हिंदी का राज्याभिषेक नही किया गया। हिंदी से कहा गया क्या ? कि तुम्हारी शकल अभी अच्छी नही, तुम्हारे पास रूप का वह वैभव नही, तुम्हारे कपडे-लत्ते साफ सुथरे नही, तुम मे सौंदर्य का वह आकर्षण नही जिससे समुद्र तटवासी तुम पर रीझ सकें। अत राजरानी अंग्रेजी के पास रहकर पहले सब कुछ हासिल करो, नाज-नखरे के साथ रहना सीखो फिर तुम्हें समुद्र तटवासियों की अनुमति से राजसिंहासन पर बिठा दिया जायगा। हा सुन लो, रूप सवारने के लिये 15 वर्ष का समय दिया जा रहा है और वह इस शर्त पर कि यदि परीक्षण अवधि म पूर्ण योग्य साबित न हुई, पूरे नाज-नखरे के साथ द्रविड लोगो को मोहित करने मे जरा सी भी चूक हो गयी, तो परीक्षण काल बढना ही रहेगा।

राजनीति के मध्य इस कलुषित भाषा नीति[3] के प्रयोग का नतीजा यह निकला कि हिंदी और अहिंदी भाषियो के बीच कलह का बीज अकुरित हो गया, जो विरोध के रूप मे दिन-प्रतिदिन पल्लवित पुष्पित होकर बढता ही चला जा रहा

है। साथ ही देश की भाषा समस्या भी जटिलता के पक म धसती जा रही है।

सविधान की राजभाषा-सबधी अनुच्छेद तथा धाराए

सघ की राजभाषा

343 (1) सघ की राजभाषा हिंदी और लिपि देवनागरी होगी।
सघ के राजकीय प्रयोजनो के लिए प्रयोग होने वाले अको का रूप भारतीय अको का अतर्राष्ट्रीय रूप होगा।

(2) खड (1) से किसी बात के होते हुए भी इस सविधान के प्रारभ से पद्रह वर्ष की कालावधि के लिए सघ के उन सब राजकीय प्रयोजनो के लिए अग्रेजी भाषा प्रयोग की जाती रहेगी, जिनके लिए ऐसे प्रारभ के ठीक पहले यह प्रयोग की जाती थी।

परतु राष्ट्रपति उक्त कालावधि मे, आदेश द्वारा, सघ के राजकीय प्रयोजनो मे से किसी के लिए अग्रेजी भाषा के साथ-साथ हिंदी भाषा का तथा भारतीय अको के अतर्राष्ट्रीय रूप के साथ साथ देवनागरी रूप का प्रयोग प्राधिकृत कर सकेगा।

(3) इस अनुच्छेद में किसी बात के होते हुए भी ससद उक्त पद्रह साल की कालावधि के पश्चात विधि द्वारा—

(क) अग्रेजी भाषा का, अथवा

(ख) अको के देवनागरी रूप का,

ऐसे प्रयोजनो के लिए प्रयोग उपबधित कर सकेगी जैसे कि ऐसे विधि म उल्लेखित हो।

राजभाषा के लिए ससद का आयोग और समिति

344 (1) राष्ट्रपति इस सविधान के प्रारभ मे पाच वर्ष की समाप्ति पर तथा तत्पश्चात ऐसे प्रारभ से दस वर्ष की समाप्ति पर आदेश द्वारा एक आयोग गठित करेगा, जो एक सभापति और अष्टम अनुसूची मे उल्लिखित विभिन्न भाषाओ* का प्रतिनिधित्व करने वाले अन्य सदस्यो से मिलकर बनेगा, जैसे कि राष्ट्रपति नियुक्त करे, तथा आयोग द्वारा अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया का आदेश परिभाषित करेगा।

(2) राष्ट्रपति को—

(क) सघ के राजकीय प्रयोजनो म सब या किसी के लिए हिंदी भाषा के लिए उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग के,

(ख) सघ के राजकीय प्रयोजनो मे से सब या किसी के लिए अग्रेजी भाषा के प्रयोग पर निर्बंधनो के,

(ग) अनुच्छेद 348 म वर्णित प्रयोजनो में से सब या किसी के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा के,

(घ) सघ के किसी एक या अधिक उल्लिखित प्रयोजनो के लिए प्रयोग किए जाने वाले अकों के रूप के,

(ङ) सघ की राजभाषा तथा सघ और किसी राज्य के बीच अथवा एक राज्य और दूसरे के बीच सचार की भाषा तथा उनके प्रयोग के बारे में राष्ट्रपति द्वारा आयोग से पूछा किए हुए किसी अन्य विषय के बारे मे सिफारिश करने का आयोग का कर्तव्य होगा।

(3) खड (2) के अधीन अपनी सिफारिशो को करने मे आयोग भारत की औद्योगिक, सास्कृतिक और वैज्ञानिक उन्नति का तथा लोक सेवाओ के बारे मे अहिंदी भाषा भाषी क्षेत्रो के लोगो के न्यायपूर्ण दावो और हितो का सम्यक ध्यान रखेगा।

(4) तीस सदस्यो की एक समिति गठित की जायेगी, जिनमे से बीस लोक सभा के सदस्य होगे तथा दस राज्य सभा के सदस्य होंगे, जो कि क्रमश लोक सभा के सदस्यो तथा राज्यसभा के सदस्यो द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा निर्वाचित होगे।

(5) खड (1) के अधीन गठित आयोग की सिफारिशो की परीक्षा करना तथा उन पर अपनी राय का प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत करना समिति का कर्तव्य होगा।

(6) अनुच्छेद 343 मे किसी बात के होते हुए हुए भी राष्ट्रपति खड (5) म निर्दिष्ट प्रतिवेदन पर विचार करने के पश्चात उसे सार प्रतिवेदन के या उसके किसी भाग के अनुसार निदेश निकाल सकेगा।

राज्य की राजभाषा या राजभाषाए

345 अनुच्छेद 346 और 347 के उपबधो के अधीन रहते हुए राज्य का विधान मडल विधि द्वारा उस राज्य के राजकीय प्रयोजनो मे स सब या किसी के लिए प्रयोग के अर्थ उस राज्य म प्रयुक्त होने वाली भाषाओ मे से किसी एक या अनेक को या हिंदी को अगीकार कर सकेगा—

परतु जब तक राज्य का विधान मडल विधि द्वारा इसे अन्यथा उपबध न करे तब तक राज्य के भीतर उन राजकीय प्रयोजनो के लिए अग्रेजी भाषा प्रयोग की जानी रहेगी, जिनके लिए सविधान के प्रारभ से ठीक

पहले वह प्रयोग की जाती थी।

एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच मे अथवा राज्य और सघ के बीच मे सचार के लिए राजभाषा

346 सघ मे राजकीय प्रयोजनो के लिए प्रयुक्त होने के लिए तत्समय प्राधिकृत भाषा, एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच म तथा किसी राज्य और सघ के बीच मे सचार के लिए राजभाषा होगी, परतु यदि दो या अधिक राज्य करार करते है कि ऐसे राज्यो के बीच मे सचार के लिए राजभाषा हिंदी भाषा होगी, तो ऐसे सचार के लिए वह भाषा प्रयोग की जा सकेगी।

347 तद्विषयक माग की जाने पर यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि किसी राज्य के जन समुदाय का पर्याप्त अनुपात चाहता है कि उसके द्वारा बोली जाने वाली कोई भाषा राज्य द्वारा अभिज्ञात की जाए तो वह निदेश दे सकेगा कि ऐसी भाषा को उस राज्य मे सर्वत्र अथवा उसके किसी भाग मे ऐसे प्रयोजन के लिए जैसा कि वह उल्लिखित करे राजकीय अभिज्ञा दी जाए।

उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों मे तथा अधिनियमों, विधायकों आदि मे प्रयोग की जाने वाली भाषा

348 (1) इस भाग के पूर्ववर्ती उपबधो मे किसी बात के होते हुए भी जब तक ससद विधि द्वारा अन्यथा उपबध न करे, तब तक—

(क) उच्चतम न्यायालय मे तथा प्रत्येक उच्च न्यायालय मे सब कार्यवाहिया,

(ख) [illegible]

(अ) विधेयक, अथवा उन पर प्रस्तावित किये जाने वाले जो सशोधन ससद के प्रत्येक सदन म पुन स्थापित किए जाए, उन सबके प्राधिकृत पाठ,

(ब) अधिनियम, ससद द्वारा या राज्यो के विधान मडलो द्वारा पारित किए जाए, तथा जो अध्यादेश राष्ट्रपति या राजपाल या राज प्रमुख द्वारा प्रख्यापित किए जाए, उन सबके प्राधिकृत पाठ, तथा

(स) आदेश, नियम, विनिमय और उपविधि इस सविधान के अधीन, अथवा ससद या राज्यो के विधान मडल द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन निकाले जाए, उन सबके, प्राधिकृत पाठ, अग्रेजी भाषा मे होंगे

(2) खंड (1) के उपखंड (क) में किसी बात के होते हुए भी किसी राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से हिंदी भाषा का या उस राज्य में राजकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग होने वाली किसी अन्य भाषा या प्रयोग उस राज्य में मुख्य स्थान रखने वाले उच्च न्यायालय में की कार्यवाहियों के लिए प्राधिकृत कर सकेगा, परंतु इस खंड की कोई बात ऐसे उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय, अज्ञाप्ति अथवा आदेश को लागू न होगी।

(3) खंड (1) के उपखंड (ख) में किसी बात के होते हुए भी, जहां किसी राज्य के विधान मंडल ने, उस विधान मंडल में पुरःस्थापित विधेयकों या उसके द्वारा पारित अधिनियमों में अथवा उस राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख द्वारा प्रख्यापित अध्यादेशों में अथवा उस उपखंड की कंडिका, में निर्दिष्ट किसी आदेश, नियम, विनियम या उपविधि में प्रयोग के लिए अंग्रेजी भाषा से अन्य किसी भाषा के प्रयोग को विहित किया है, वहां उस राज्य के राजकीय सूचना-पत्र में उस राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख के प्राधिकार से प्रकाशित अंग्रेजी भाषा में उसका अनुवाद उस खंड के अभिप्रायों के लिए उसका अंग्रेजी भाषा में प्राधिकृत पाठ समझा जायेगा।

भाषा संबंधी कुछ विधियों के अधिनियमित करने के लिए विशेष प्रक्रिया

349 [illegible]

[illegible] उपबंध करने वाला कोई विधेयक या संशोधन संसद के किसी सदन में [illegible]

[illegible] के अधीन गठित आयोग की [illegible] छेद के खंड (4) के अधीन गठित [illegible] करने के पश्चात् ही राष्ट्रपति [illegible]

350 किसी व्यथा के निवारण के लिए संघ या राज्य के किसी पदाधिकारी या प्राधिकारी को यथास्थिति संघ में प्रयोग होने वाली किसी भाषा में अभिवेदन देने का प्रत्येक व्यक्ति को हक होगा।

[illegible]

भारत के प्रतिनिधि को जारी किए जाने वाले कागजात।

अंग्रेजी के साथ साथ हिंदी के प्रयोग को क्रमश बढाने के लिए दिए गए सुझाव के अनुसार सन् 1955 मे ही भारत सरकार की एक अतर-विभागीय बैठक हुई, जिसमे भारत सरकार के सभी मत्रालयो को अपने कुछ कामो के लिए हिंदी के प्रयोग की सलाह दी गयी। इस सबध में 8 दिसबर, सन् 1955 को गृहमत्रालय ने एक विज्ञप्ति जारी की, जिसमे भारत सरकार के सभी मत्रालयो को निम्नलिखित सुझाव दिए गए थे

(1) जनता से जो पत्रादि हिंदी मे मिलें, उनके उत्तर जहातक सभव हो, हिंदी म ही दिए जायें। उनकी भाषा सरल होनी चाहिए।

(2) प्रशासनिक रिपोर्टों, सरकारी पत्रिकाओं, ससद को प्रस्तुत की जाने वाली रिपोर्टों आदि को, यथासभव अग्रेजी और हिंदी दोनो मे प्रकाशित किया जाए।

(3) सरकारी सकल्पो, विधायी अधिनियमो आदि को, यथासभव अग्रेजी और हिंदी में जारी किया जाए। किंतु इन पर यह बात स्पष्ट रूप से लिख देना चाहिए कि अग्रेजी पाठ ही प्रामाणिक माना जाएगा।

(4) जिन राज्य सरकारो ने हिंदी को अपनी राजभाषा के रूप मे मान लिया है उनके साथ पत्रव्यवहार अग्रेजी म किया जाए, परतु यदि सभव हो तो भारत सरकार द्वारा भेजे गए सभी पत्रादि के साथ उनका हिंदी अनुवाद भी भेजा जाए ताकि सावैधानिक कठिनाइयो का सामना न करना पडे।

स्पष्ट है कि हिंदी के सबध मे मात्र औपचारिकता निभाई गई है। इसे हिंदी के प्रसार मे भारतीय नेताओं द्वारा उठाए गए ठोस कदम की सज्ञा नही दी जा सकती। जहा तक इन सुझावो के व्यावहारिक पक्ष का सबध है, इन सुझावो में ही 'यथासभव' शब्द ऐसा छिद्र रहा, जिससे सरकारी कर्मचारियो को हिंदी के प्रयोग रूपी जल को बडी आसानी से भूमि पर गिरा देने मे पूरी सफलता हासिल हुई।

राजभाषा आयोग, सन् 1955

भारतीय सविधान के अनुच्छेद 344 खड (1) के अनुसार सविधान लागू होने के पाच साल बाद राष्ट्रपति को एक राजभाषा आयोग गठित करने का अधिकार दिया गया था। तदनुसार 7 जून, सन् 1955 को राष्ट्रपति द्वारा एक राजभाषा आयोग का गठन किया गया। बबई राज्य के भूतपूर्व मुख्यमत्री स्वर्गीय श्री बालगंगाधर खेर इस आयोग के अध्यक्ष तथा विभिन्न राज्यो के 20 प्रतिनिधि इसके सदस्य थे। इस आयोग की पहली बैठक 15 जुलाई सन् 1955 को हुई। इसने अनेक सरकारी गैर सरकारी व्यक्तियो, प्रतिनिधियो, सस्थाओ आदि स भेंट

की। अततोगत्वा संविधान के अनुच्छेद 344 खंड (1), (2) और (3) के द्वारा दिए गए अधिकार और कर्त्तव्य को ध्यान में रखते हुए आयोग ने अपना एक विस्तृत प्रतिवेदन जुलाई सन् 1956 में राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया। इस प्रतिवेदन में मुख्य रूप से राजभाषा संबंधी निम्नलिखित सुझाव* दिए गए थे

(1) भारत के संपूर्ण जनतांत्रिक आधार को ध्यान में रखते हुए अखिल भारतीय स्तर पर सामूहिक माध्यम के रूप में अंग्रेजी को स्वीकार करना संभव नहीं तथा भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के कार्यक्रम के प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। विज्ञान एवं अनुसंधान के क्षेत्रों तथा अंतर्राष्ट्रीय मामलों में अंग्रेजी भाषा का ज्ञान आवश्यक है, परंतु शिक्षा, प्रशासन, सार्वजनिक जीवन एवं दैनिक कार्यकलापों में विदेशी भाषा का व्यवहार उचित नहीं है।

(2) यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से भारत की सभी भाषाएं समृद्ध हैं, फिर भी अधिक लोगों द्वारा बोली तथा समझी जाने के कारण हिंदी समस्त भारत के लिए एक सुस्पष्ट भाषा-माध्यम है।

(3) पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में स्पष्टता, अर्थ की शुद्धता, सरलता, पाण्डित्यपूर्ण भाषा का त्याग एवं अधिकाधिक देशज और लोकप्रिय शब्दों के प्रयोग पर ध्यान दिया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली को भारतीय भाषाओं की प्रकृति के अनुसार थोड़े हेर फेर के साथ स्वीकार कर लेना चाहिए। पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण की गति तीव्र होनी चाहिए।

(4) 14 वर्ष की उम्र तक के प्रत्येक विद्यार्थी को हिंदी का उचित ज्ञान प्राप्त कराया जाए ताकि प्रत्येक नागरिक सार्वजनिक जीवन की गतिविधियों और सरकार की कार्यवाहियों को समझ सके।

(5) सारे देश में माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर हिंदी का शिक्षण अनिवार्य कर दिया जाए। हिंदी-भाषी क्षेत्र के विद्यार्थियों के लिए दूसरी दक्षिण भारतीय भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य किया जाना आयोग को ग्राह्य नहीं है।

(6) शिक्षा के माध्यम के रूप में विषय और शिक्षण की सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए सभी विश्वविद्यालय आपस में परामर्श करके निर्णय करें कि भिन्न भिन्न अभ्यासक्रमों के लिए किस माध्यम को स्वीकार किया जाए। परंतु फिर भी सभी विश्वविद्यालयों को चाहिए कि हिंदी माध्यम से जो विद्यार्थी परीक्षाओं में बैठना चाहें, उनके लिए वे उचित प्रबंध करें।

(7) वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षण संस्थाओं में सब विद्यार्थी एक भाषिक वर्ग के हों तो उसी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाए और यदि विभिन्न भाषाओं के क्षेत्रों के हों तो हिंदी भाषा को ही सामान्य माध्यम के रूप में अपनाया जाए।

(8) प्रशासनिक तंत्र से संबंधित सरकारी प्रकाशनों के हिंदी अनुवाद की

भाषा में अधिकाधिक एकरूपता रखी जाए और देखरेख संबंधी सारा कार्य केन्द्रीय सरकार के एक अभिकरण को सौंप दिया जाए।

(9) प्रशासनिक कर्मचारियों के लिए हिंदी का निश्चित अवधि में आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने के लिए नियम लागू किए जाएं और ऐसा न करने वाले को दंडित किया जाए तथा निर्धारित स्तर से अधिक ज्ञान प्राप्त करने पर कर्मचारियों को पुरस्कार आदि देकर प्रोत्साहित किया जाए।

(10) जनता से सीधा संपर्क रखने वाले विभागों और संगठनों के आंतरिक कार्य में हिंदी और जनता से व्यवहार हेतु क्षेत्रीय भाषा काम में लाई जाए। ऐसे विभागों में भर्ती के लिए क्षेत्रीय भाषा के ज्ञान के साथ साथ हिंदी की योग्यता का स्तर भी निर्धारित किया जाए और बाद में विभागीय प्रशिक्षण द्वारा हिंदी की योग्यता बढाई जाए।

(11) भारत सरकार के सांविधिक प्रशासन अधिक से अधिक हिंदी भाषा में प्रकाशित किए जाएं और हिंदी की प्रगति के लिए सरकार द्वारा भरसक प्रयत्न किए जाएं।

(12) राज्य और संघ सरकार के अधिकारियों के लिए किसी स्तर का हिंदी का ज्ञान अनिवार्य किया जाए और उसके लिए उन्हें अधिकाधिक पुरस्कार देकर प्रोत्साहित किया जाए।

(13) संसद एवं विधान मण्डलों की कार्यवाहियों की सफलता की दृष्टि से हिंदी और क्षेत्रीय भाषाओं दोनों का व्यवहार होना चाहिए और विशिष्ट परिस्थितियों में अंग्रेजी को भी मान्यता दी जानी चाहिए। स्वीकृत सरकारी कानून हिंदी में ही होने चाहिए, परंतु जनता की सुविधा के लिए क्षेत्रीय भाषाओं में उनके अनुवाद प्रकाशित किए जाने चाहिए और माध्यम पूर्ण रूप से बदल जाने पर देश के संपूर्ण सांविधिक ग्रंथ हिंदी भाषा में समुपलब्ध होने चाहिए।

(14) देश में न्याय देश की ही भाषा में किया जाय, इसके लिए यह आवश्यक है कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों की समस्त कार्यवाही तथा अभिलेखों, निर्णयों और आदेशों के आवश्यकतानुसार क्षेत्रीय भाषा में अनुवाद भी साथ में रखे जाएं। उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को अंग्रेजी के साथ-साथ क्षेत्रीय भाषाओं में भी निर्णय देने का अधिकार होना चाहिए। इसी प्रकार वकीलों और अधिवक्ताओं को भी अंग्रेजी अथवा क्षेत्रीय भाषाओं को काम में लाने की छूट होनी चाहिए। विशेष न्यायालयों के निर्णय यदि एक क्षेत्र तक सीमित न हों तो वे निर्णय और आदेश मूल रूप में हिंदी में ही लिखे जाने चाहिए।

(15) प्रतियोगिता-परीक्षाओं का माध्यम सुसंगत होना चाहिए। अखिल भारतीय एवं केन्द्रीय सेवाओं के हेतु कर्मचारियों के लिए हिंदी की योग्यता रखना आवश्यक किया जाए। अतः परीक्षाओं में हिंदी का अनिवार्य प्रश्नपत्र रखा जाए,

परंतु अहिंदी भाषी विद्यार्थियों की सुविधाओं की दृष्टि से उनका स्तर अति साधारण रहे। हिंदी भाषी विद्यार्थियों से इतर भाषाओं से संबंधित विषयों पर वैकल्पिक प्रश्न पूछे जाने के लिए एक प्रश्नपत्र रखा जाए, जिसमें समानता बनी रहे। अंग्रेजी माध्यम के साथ-साथ वैकल्पिक रूप से हिंदी को भी माध्यम के रूप में अपनाया जाए और शीघ्रातिशीघ्र ऐसा वातावरण बनाया जाए कि अंग्रेजी इन प्रतियोगिता-परीक्षाओं का माध्यम न रहे। साथ ही राज्यों के लोक सेवा आयोगों को भी चाहिए कि वे इन परीक्षाओं में हिंदी भाषी उम्मीदवारों को भी प्रोत्साहन दें।

(16) हिंदी के विकास एवं प्रचार की दृष्टि से सरकार को ठोस कदम उठाने चाहिए। सरकार स्वैच्छिक हिंदी संस्थाओं के कार्यों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए भी आवश्यक कदम उठाए तथा उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करें।

(17) भारत सरकार की सब भाषाओं के लिए यदि एक लिपि रखने का प्रश्न हो तो इसके लिए देवनागरी लिपि ही सर्वथा उपयुक्त होगी। रोमन लिपि को स्वीकार करने से कोई लाभ नहीं होगा। देवनागरी लिपि के सुधार के लिए भी सरकार को आवश्यक कदम उठाने चाहिए।

(18) हिंदी एवं क्षेत्रीय भाषाओं की शब्दावली तथा अभिव्यक्ति के मानकीकरण के लिए सरकार को चाहिए कि वह भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों को इस दृष्टि से सुविधाएं प्रदान करें और इसके लिए हिंदी तथा क्षेत्रीय भाषाओं में समाचार देने वाली संस्थाओं के निर्माण करने का प्रयत्न करें।

(19) राजभाषा हिंदी के संपन्न उन्नयन एवं विकास तथा उसके उचित अधीक्षण का उत्तरदायित्व विशेष रूप से केन्द्रीय सरकार की एक प्रशासकीय इकाई पर डालना चाहिए। सब भाषा हिंदी तथा क्षेत्रीय भाषाओं के विकास के लिए 'भारतीय भाषाओं की राष्ट्रीय अकादमी' की यदि स्थापना की जाए तो अति हितकर होगा।

(20) भारत के भाषागत एवं सांस्कृतिक ढांचे में गहरी समानता लाने तथा भारत की विभिन्न भाषाओं के बीच की दूरी को कम करने के लिए बहुभाषिकता के सिद्धांत को प्रोत्साहित किया जाए तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए माध्यमिक एवं विश्वविद्यालयीय शिक्षा पद्धति में समुचित व्यवस्था की जाए।[9]

स्पष्ट है कि आयोग की यह सिफारिश तत्कालीन वातावरण में राजभाषा हिंदी के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण ठोस कदम थी। काश, सरकार ने इस सिफारिश पर अमल किया होता तो 6½ वर्ष पूर्व की गयी भूल के आंसू पोंछे गए होते, देश की जनता का बहुत बड़ा फायदा हुआ होता, सन् 1950 की गल्तियां पुन न दोहराई गई होती और यह दुर्दिन देखने की नौबत न आयी होती। किंतु राजनीतिक नेताओं ने भाषानीति के संघर्ष में राजनीति के दरम्यान क्या क्या गुल खिलाया, इसकी चर्चा आगे होगी।

संसदीय राजभाषा समिति

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 344 खंड (4) और (5) में दी गयी व्यवस्था के अनुसार राजभाषा आयोग के प्रतिवेदन पर विचार करने के लिए लोकसभा के 20 और राज्यसभा के 10 सदस्यों की एक संसदीय समिति का गठन किया गया और तत्कालीन गृहमंत्री श्री गोविंद वल्लभ पंत इसके अध्यक्ष चुने गए। इस समिति की पहली बैठक 16 नवम्बर, सन् 1957 को हुई और लगातार 26 बैठकों के पश्चात समिति ने अपना अंतिम निर्णय लिया। तदनुकूल 8 फरवरी सन् 1959 को समिति ने अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को प्रस्तुत की, जिसमें मुख्यतः निम्नलिखित सुझाव दिए गए थे—

(1) सरकारी पदों और नौकरियों के लिए इस समय जो अंग्रेजी की शिक्षा का स्तर निर्धारित है, संक्रमण की अवस्थाओं में हिंदी ज्ञान का स्तर यदि कुछ कम भी हो तो चल सकता है।

(2) निर्धारित समय में कर्मचारियों द्वारा निर्धारित हिंदी का ज्ञान प्राप्त न करने पर उनको दंडित किया जाना असंगत होगा।

(3) संघ सरकार के प्रशासन में जहां भारतीय पारिभाषिक शब्दावली के विकास की आवश्यकता न हो तथा विदेशों से संबंध बनाए रखने के लिए अनिश्चित काल तक अंग्रेजी का प्रयोग नहीं होना चाहिए।

(4) 45 वर्ष की ऊपर की आयु वाले सरकारी कर्मचारियों को हिंदी के प्रशिक्षण से छूट दी जानी चाहिए।

(5) संघ सरकार द्वारा ऐसी योजना बनाई जाए, जिससे हिंदी का राजभाषा के रूप में अधिकाधिक प्रयोग एवं विकास किया जा सके।

(6) सरकार एवं मंत्रालयों के प्रकाशनों में रोमन अंकों के साथ-साथ देवनागरी अंकों को प्रयुक्त करने के बारे में संघ सरकार की मूलभूत समान नीति होनी चाहिए।

(7) संसद तथा राज्यों के विधान मंडलों में पारित होने वाले विधेयकों की भाषा तथा जब तक अंग्रेजी का स्थान हिंदी न ले ले, तब तक संसद में विधि निर्माण का कार्य अंग्रेजी में होता रहे। कानूनों के हिंदी में प्राधिकृत अनुवाद दिए जाए तथा संभव हो तो विभिन्न राज्यों की राजभाषाओं में भी उनके अनुवाद की व्यवस्था की जाए।

(8) राज्यों की विधान सभाओं, अपने राज्यों की राजभाषाओं में विधि निर्माण कार्य कर सकती हैं, परंतु संविधान के 348 अनुच्छेद के अनुसार कानूनों का प्राधिकृत पाठ अंग्रेजी में प्रकाशित करना आवश्यक है। यदि कानून का मूल-पाठ अन्यभाषा में है तो साथ में हिंदी अनुवाद भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

(9) राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से उच्च न्यायालयों में राज्य की राजभाषा अथवा हिंदी का प्रयोग किया जा सकता है, परंतु उनके द्वारा दिए जाने वाले निर्णयों, अभिलेखों और आदेशों को अंग्रेजी में ही होना चाहिए तथा दूसरी भाषाओं में दिए जाने वाले निर्णयों, डिक्रियों एवं आदेशों का अंग्रेजी अनुवाद साथ में रहना चाहिए।

(10) हिंदी तथा क्षेत्रीय भाषाओं का ज्ञान न्यायाधीशों के लिए उपयुक्त हो सकता है परंतु उनके लिए भाषा संबंधी परीक्षाएं निर्धारित करना उचित नहीं है।

(11) सांविधिक ग्रंथों के अनुवाद तथा कानूनी पारिभाषिक शब्दावली आदि के निर्माण की उचित योजना बनाने तथा संपूर्ण कार्य की व्यवस्था करने के लिए भारत में विभिन्न भाषा-भाषी विधि विशारदों के स्थायी आयोग का उच्च स्तरीय समिति का निर्माण किया जाना चाहिए।

(12) अखिल भारतीय तथा उच्च स्तरीय केन्द्रीय सेवाओं की परीक्षाओं के माध्यम के रूप में अंग्रेजी को चलने दिया जाए तथा कुछ समय बाद हिंदी को वैकल्पिक माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाए। तदनन्तर हिंदी और अंग्रेजी दोनों को वैकल्पिक माध्यम के रूप में चलने दिया जाए। इन परीक्षाओं में दो भाषा प्रश्नपत्र—(एक हिंदी का और दूसरा हिंदी के अतिरिक्त अन्य आधुनिक भारतीय भाषा का परीक्षार्थी की इच्छा पर) अनिवार्य रूप से रहें। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी के प्रशासन की भाषा रहने तक अंग्रेजी का एक प्रश्नपत्र भी अनिवार्य होना चाहिए। क्षेत्रीय भाषाओं को माध्यम के रूप में स्वीकृत करने के पक्ष में भी विचार किया जाना चाहिए।

(13) सन 1965 तक भारत सरकार के राजकाज की प्रधान भाषा अंग्रेजी रहे और इस अवधि में हिंदी गौण राजभाषा रहे। सन 1965 के बाद हिंदी प्रधान राजभाषा रहे तथा अंग्रेजी का सह राजभाषा का स्थान दिया जाए। संसद अपने अधिनियम द्वारा अंग्रेजी के प्रयोग के लिए जो सीमा एवं क्षेत्र निर्धारित करेगी तब तक आवश्यकतानुसार उसका प्रयोग जारी रहे।

स्पष्ट है कि समिति ने 'राजभाषा आयोग' की सिफारिशों को दृष्टि से ओझल एवं राष्ट्र की बहुसंख्यक जनता की हार्दिकता का बहुत बड़ा अनादर कर सर्वथा अराष्ट्रीय निर्णय में, राजभाषा के रूप में अंग्रेजी का जबर्दस्त पक्ष लिया।

वास्तविकता तो यह है कि भारतीय संविधान के लागू होने (1950) से लेकर सन 1955 तक भारत की सरकार ने राजभाषा के क्षेत्र में कोई ऐसा कदम नहीं रखा, जिस गति अथवा प्रगति की संज्ञा दी जा सके। भारतीय वायु मंडल प्रायः शान्त था। हां, वास्तविक हिंदी प्रेमी व हिंदी भाषी क्षेत्र की जागरूक जनता, जिसका हिंदी से लगाव था, इसमें कुछ कुछ उदास-सी दीख रही थी और हिंदी के

लिए हृदय में बहुत बड़ी-बड़ी तमन्नाएं संजोए हुए थी। दूसरी ओर अहिंदी भाषी, प्रायः दक्षिण भारतीय नेता राजभाषा की गतिविधि को बड़े गौर से देख रहे थे। उन्हें सन 1955 में बैठने वाले राजभाषा आयोग के प्रति बहुत बड़ी आशंका पूर्व में ही थी। अतः उन्होंने कुमंत्र पढ़कर तदनुकूल दक्षिण भारत जैसे अहिंदी भाषी प्रदेश में कुमंत्र गाड़ दिया और धीरे-धीरे कानाफूसी के जरिए वहां की निरीह जनता को हिंदी के खिलाफ बरगलाना शुरू किया।

जुलाई, सन 1956 में राजभाषा आयोग ने राष्ट्रपति को अपनी सिफारिश पेश की। राजभाषा आयोग द्वारा प्रेषित प्रतिवेदन के प्रकाशित होने पर जहां एक ओर हिंदी प्रेमी जनता व नेता की हृदय-कलिका, जो ग्रीष्म के प्रचंड ताप से मुरझा रही थी, इस वांछित दृष्टि से कुछ समय के लिए खिल उठी, वहीं हिंदी के वास्ते कसम खाने वाले, पर अंग्रेजी के लिए संकल्प रखने वाले अराष्ट्रीय तत्वों के पुतले कूटनीतिज्ञ नेता बौखला उठे और दक्षिण भारतीय हिंदी-द्वेषी नेताओं को तो इस प्रतिवेदन में पूर्व की हुई अपनी आशंका ही साकार होती-सी दीख पड़ी।

अब हिंदी के राज्याभिषेक की इस शहनाई को सुनकर अनेक मंथराएं उठ खड़ी हुईं। प्रथम, इन्होंने दक्षिण भारत के वायु मंडल को विक्षुब्ध बना डाला, जिससे वहां पर हिंदी की कसकर खिलाफत होने लगी, हिंदी के विरोध में आंदोलन, प्रदर्शन, तोड़ फोड़ आदि शुरू हुए। गुमराह किए गए ये प्रदर्शनकारी इस मत का प्रतिपादन करते फिरते थे कि जनवरी सन 1965 में हिंदी को राजभाषा बनाने से अहिंदी भाषी राज्यों का बहुत बड़ा अहित होगा और निकट भविष्य में तो हम लोग ऐसी कल्पना ही नहीं कर सकते। द्वितीय, इन मंथराओं ने मिलकर दिल्ली के राजनीतिक वातावरण को ठंडा कर डाला। इसमें इनकी बहुत बड़ी मदद उन राजकीय कर्मचारियों, अमलों ने की, जो ब्रिटिश शासनकाल से ही अंग्रेजी में काम करने के आदी हो गए थे तथा जिन्हें 'वर मरे या कन्या, सिर्फ दक्षिणा से मतलब' था।

सन 1955 के बाद हिंदी के प्रति बिगड़ते हुए भारतीय (अहिंदी भाषी क्षेत्रों, मुख्यतः दक्षिण भारत और बहुत कुछ दिल्ली के) वातावरण को देख, हिंदी प्रेमियों और जागृत हिंदी भाषी जनता के हृदय में वेदना फूट पड़ी, अन्तःकरण में हिंदी-आंदोलन की उमंगें उठने लगीं तथा हिंदी विद्वेषियों के साथ अंग्रेजी के प्रति आक्रोश सजग हो उठा। हिंदी हितैषियों की ये प्रतिक्रियाएं बड़ी ही स्वाभाविक थीं, क्योंकि हिंदी विरोधी यदि दक्षिण भारतीय भाषाओं—तामिल, तेलुगू, कन्नड, मलयालम अथवा अन्य अहिंदी भारतीय भाषाओं में से किसी के लिए इस प्रकार की दूषित भाषा नीति, आंदोलन आदि से संबंधित खुला आचरण करते, तो बात कुछ हद तक जुदा होती। किंतु अंग्रेजी को स्वतंत्र भारत के सिंहासन पर बिठाने के लिए ये सब तूल-तड़ाम मचाना, छल छद्मों का सहारा लेना, कूटनीति का

प्रयोग करना, इत्यादि हिंदी भक्तो के आक्रोश का सबल आलंबन व उद्दीपन था।

हा, तो कहना यह है कि अब उत्तर भारत से भी राजभाषा हिंदी का आदोलन स्वतत्रता पूर्व की तरह पुन चल पडा, जिसके अगुआ डा० राम मनोहर लोहिया, सेठ गोविंद दास थे और दक्षिण भारत मे तो हिंदी विरोधी आदोलन पहले से ही चल रहा था। इस प्रकार हिंदी के समर्थन एव विरोध सबधी उत्तर भारत एव दक्षिण भारत के ये दोनो आदोलन एक दूसरे के समानातर चलते रहे। इनमे हिंदी-विरोधी आदोलन का रुख अपेक्षाकृत काफी उग्र रहा करता था। इनकी क्रियाओ प्रतिक्रियाओ, घात-प्रतिघात, उग्रता नम्रता आदि को समय-समय पर यथा सन 1963, 65, 67 मे देखा गया।

बीसवी शताब्दी के इस छठे दशक के राजभाषा हिंदी आदोलन के सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रवक्ता डा० लोहिया थ। लोहिया जी ने सर्वत्र दौड-धूप कर हिंदी के प्रति एक विशाल जनमत तैयार किया और अपने अनुयायियो के सहयोग से हिंदी आदोलन को आगे बढाया। सन् 1957 के आते-आते भाषा-नीति को भलीभाति पहचानने वाले डा० लोहिया ने अनुभव किया कि राजभाषा हिंदी के आदोलन की रफ्तार तेज करने से 'खोदा पहाड निकली चुहिया' की कहावत की सार्थकता के अतिरिक्त कुछ भी हासिल होने वाला नही है क्योकि उत्तरभारत मे हिंदी आदोलन ज्यो-ज्यो उमडता जा रहा है, त्यो-त्यो दूनी और चौगुनी शक्ति से दक्षिण वाले इसका विरोध करत जा रहे है। जिस विदेशी भाषा के खिलाफ यह आदोलन चलाया जा रहा है, उसकी ढाल अन्य प्रादेशिक भाषाए बनी हुई है। इसलिए ऐसी नीति का सहारा लेना मुनासिब होगा, ताकि ये ढाल सीधे अग्रेजी की रक्षा या उसकी हिफाजत न कर सकें।

अब डा० लोहिया ने अपना पैतरा बदला तथा 'अग्रेजी हटाना हिंदी लाना नही', जैसी नीति को अख्तियार किया और आगे चलकर मार्च सन 1958 तक तो 'अग्रेजी हटाओ आदोलन' का ऐसा शखनाद फूका कि कितने अग्रेजी भक्तो के कान बहरे हो गए। उनकी अग्रेजी के कायम रखने की कपट-नीति का पर्दाफाश होने लगा। डा० लोहिया ने कहा—

'अग्रेजी को धीमे धीमे हटाओ नीति—जिसे हिंद सरकार ने अपनाया है, अग्रेजी को सदैव कायम रखने वाली नीति से भी ज्यादा भयकर कायम हो रही है।...

इसलिए अखिल भारतीय स्तर पर और वर्तमान दाव-पेंच व बडे प्रचार और राष्ट्रीय हित को देखते हुए हमारे आदोलन का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए अग्रेजी को हटाना, न कि हिंदी की प्रतिष्ठा करना। समय आने पर अखिल भारतीय स्तर पर हिंदी की प्रतिष्ठा होकर रहेगी। किंतु यदि किसी इलाके मे या अखिल भारतीय स्तर पर मराठी व बगला की ही प्रतिष्ठा हो जाए, तो उसमे हम आनाकानी नही करनी चाहिए।'[10]

स्पष्ट है कि लोहिया जी की यह भाषा-नीति बड़ी ही स्वस्थ, भाषा-समस्या की मूलग्राही तथा उसके समाधान की अचूक दवा थी। राष्ट्रीयता की दृष्टि से भी यह स्पृहणीय है, हां, यह दूसरी बात है कि राजनीति के दौरान इससे दक्षिण में भी समाजवादी पार्टी को बढ़ने का अवकाश मिला और विरोध की संभावना कम हुई।

संघ राजभाषा के संबंध में राष्ट्रपति का आदेश 1960

संसदीय राजभाषा की समिति की रिपोर्ट पर भारतीय संविधान के अनुच्छेद 344 खंड (6) द्वारा दिए गए अधिकार का प्रयोग करते हुए राष्ट्रपति ने संघ की राजभाषा के संबंध में 27 अप्रैल 1960 को एक आदेश जारी किया, जिसमें निम्नलिखित प्रमुख निर्देश दिए गए थे—

(1) अखिल भारतीय सेवाओं और उच्चतर केंद्रीय सेवाओं में भरती के लिए परीक्षा का माध्यम अभी अंग्रेजी बनी रहे और कुछ समय बाद हिंदी वैकल्पिक माध्यम के रूप में अपना ली जाए। बाद में किसी प्रकार की नियत कोटा-प्रणाली अपनाए बिना परीक्षा के माध्यम के रूप में विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग शुरू करने की व्यवहार्यता की जाए।

(2) प्रशिक्षण-संस्थाओं में प्रवेश के लिए अंग्रेजी और हिंदी दोनों ही परीक्षा की माध्यम रहें।

(3) निर्धारित सिद्धांतों के अनुसार हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली के निर्माण एवं समन्वय का प्रयत्न किया जाए तथा इसके लिए शिक्षा मंत्रालय आवश्यक व्यवस्था करते हुए एक आयोग का निर्माण करे।

(4) सभी प्रशासनिक साहित्य का अनुवाद किया जाए तथा उसमें एकरूपता हो। असांविधिक अनुवाद शिक्षा मंत्रालय द्वारा किया जाए और सांविधिक अनुवाद विधि मंत्रालय करे।

(5) शिक्षा मंत्रालय हिंदी प्रचार की व्यवस्था करे और इस कार्य में लगी गैर सरकारी संस्थाओं की भी सहायता करे।

(6) केंद्रीय सरकार विभागों के स्थानीय कार्यालय अपने आंतरिक कार्यों के लिए हिंदी का प्रयोग करें और जनता के व्यवहार में प्रादेशिक भाषा का प्रयोग किया जाए। कर्मचारियों की भरती तथा विकेंद्रीकरण आदि में इस आवश्यकता को ध्यान में रखा जाए।

(7) संसदीय अधिनियम और विधेयक अंग्रेजी में बनते रहें, किंतु उनका प्राधिकृत हिंदी अनुवाद उपलब्ध कराया जाए। यह विधि मंत्रालय का उत्तरदायित्व होगा।

(8) उच्चतम न्यायालय की भाषा अंततः हिंदी होनी चाहिए। उच्चन्यायालय के निर्णयों आज्ञाप्तियों और आदेशों के प्रयोजनों के लिए हिंदी और राज्यों की राजभाषाओं का प्रयोग विकल्पतः किया जा सकेगा। इस संबंध में विधि मंत्रालय को आवश्यक कार्रवाई करनी चाहिए।

(9) तृतीय श्रेणी से नीचे के कर्मचारियों, औद्योगिक संस्थानों के कर्मचारियों और कार्यप्रभारित कर्मचारियों को छोड़कर उन सभी केंद्रीय सरकारी कर्मचारियों के लिए हिंदी का सेवाकालीन प्रशिक्षण अनिवार्य बना दिया जाए, जिनकी आयु 1-1-61 को 45 वर्ष से कम हो। गृह मंत्रालय टंककों और आशुलिपिकों को हिंदी टंकण तथा आशुलेखन में प्रशिक्षण देने के लिए भी प्रबंध करे।

(10) एक मानक विधि शब्द कोश बनाने, हिंदी में कानून बनाने और कानूनी शब्दावली के निर्माण के लिए विभिन्न राष्ट्रीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले कानून के विशेषज्ञों का एक स्थाई आयोग स्थापित किया जाए।

कहना न होगा कि अंग्रेजी के अनुचर सरकारी कर्मचारियों तथा हिंदी-विरोधी नेताओं की कृपा से सभी के सभी आदेश, निर्देश एवं कार्यक्रम आदि लिखे के लिखे ही रह गए। इनका दशमांश भी व्यावहारिक धरातल पर उतरते हुए न देखा गया। इतना ही नहीं, अंग्रेजी के इन हिमायतियों की कार्यकुशलता एवं दक्षिण (मद्रास) के हिंदी-विरोधी उग्र प्रचारों तथा उसके द्वारा दी गई चेतावनियों के फलस्वरूप भारत सरकार ने भी राजभाषा से संबंधित शिथिल नीति का अनुसरण किया और संविधान के अनुच्छेद 344 खंड (1) के द्वारा संविधान के प्रारंभ होने से दस वर्ष बाद जो दूसरे भाषा आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था की गई थी, उसका भी पालन नहीं किया गया, जबकि नियमानुसार सन 1960 में राष्ट्रपति के द्वारा दूसरे राजभाषा आयोग का गठन किया जाना चाहिए था।

राजभाषा अधिनियम, 1963

संविधान के अनुच्छेद 343 खंड (1) में यह व्यवस्था दी गई है कि भारतीय संघ की राजभाषा हिंदी और लिपि देवनागरी होगी तथा खंड (2) में यह व्यवस्था है कि संविधान लागू होने से पंद्रह वर्ष की अवधि तक राजकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा। स्पष्ट है कि भारतीय संविधान के लागू होने के पंद्रह वर्ष बाद यानी 26 जनवरी, सन् 1965 से सभी राजकीय प्रयोजनों के लिए हिंदी का प्रयोग प्रारंभ होना चाहिए था। किंतु इस व्यवस्था को लागू न होने देने तथा सन 1965 के बाद भी संघ के सभी सरकारी प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी के प्रयोग को बनाए रखने के उद्देश्य से 'राजभाषा अधिनियम, 1963' बनाया गया। इस अधिनियम को संविधान के अनुच्छेद 343 खंड (3) के अधीन कहा जा सकता है।

'राजभाषा अधिनियम, 1963' से संबंधित विधेयक 13 अप्रैल सन 1963 को लोकसभा तथा 3 मई सन 1963 को राज्यसभा में प्रस्तुत किया गया और क्रमश 25 अप्रैल व 7 मई को पारित हुआ। तत्पश्चात राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त कर वह 'राजभाषा अधिनियम, 1963' के रूप में लागू हुआ।

इस अधिनियम के मुख्य उपबंधों के अनुसार संसद तथा राज्यों की विधान सभाओं की सभी कार्यवाहियों की भाषा क्रमश हिंदी तथा प्रादेशिक भाषाएं होगी और उनका प्राधिकृत अंग्रेजी अनुवाद देना होगा।

इस अधिनियम की धारा तीन के अनुसार संविधान के लागू होने से 15 वर्ष की अवधि की समाप्ति के बाद भी हिंदी के अतिरिक्त अंग्रेजी का सभी राज्यों में सभी प्रयोजनों के लिए प्रयोग जारी रहेगा।

धारा चार में ऐसी व्यवस्था की गई है कि धारा तीन के लागू होने की तारीख से 10 वर्ष की अवधि की समाप्ति के 10 वर्ष बाद 30 सदस्यों की एक ऐसी समिति हिंदी की प्रगति की जांच करेगी, जिसकी नियुक्ति संसद के प्रस्ताव द्वारा होगी। समिति के प्रतिवेदन पर राज्य सरकारों की राय ली जाएगी तथा उसे संसद के समक्ष भी विचारार्थ प्रस्तुत किया जाएगा। तदनुकूल राष्ट्रपति आदेश जारी करेंगे।

सन् 1965 के बाद किसी भी राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति की अनुमति से अंग्रेजी के साथ हिंदी अथवा राज्य की अन्य किसी भाषा को राजभाषा का स्थान दे सकता है।

इस अधिनियम की धारा पांच के अनुसार संसद में सभी विधेयक अंग्रेजी और हिंदी दोनों भाषाओं में एक साथ प्रस्तुत किए जाएंगे और दोनों प्रामाणिक माने जाएंगे।

बातें बड़ी साफ हैं और वह यह कि 'राजभाषा अधिनियम, 1963' ने रही-सही कसर भी पूरी कर दी। अब अंग्रेजी को 'यावत् जीवेत् सुख जीवेत्' के सिद्धांतानुसार जब तक चाहे, तबतक के लिए स्वेच्छया सुखपूर्वक निष्कंटक राज्य करने का पूरा का पूरा अवसर मिल गया। नतीजा यह निकला कि आज भी अंग्रेजी राजरानी बन स्वाधीन भारत का उपभोग कर रही है और हिंदी अपने घर से ही बहिष्कृत है।

सोचते होंगे कि शायद इस अधिनियम के बनने के बाद कुछ नहीं हुआ होगा। नहीं, बात ऐसी नहीं है। हिंदी प्रेमियों ने, 'अंग्रेजी हटाओ आंदोलन' में तूफानी गति ला दी, आकाश-पाताल एक कर डाला, किंतु महात्मा गांधी के बताए हुए रास्ते पर चलकर—सत्याग्रह और अहिंसा पर। पर भारतीय सरकार के कान पर जूं तक नहीं रेंगी और वह—

'जगत की शतशत चीत्कार
 बेधती बधिर ! तुम्हारे कान !
अश्रु स्रोतों की अगणित धार
 सींचती उर पाषाण !'[21]

को चरितार्थ करती हुई 'निष्ठुर परिवर्तन' के समान अडिग रही। जानते हैं क्यों ? जब-जब भी भारत में अंग्रेजी के विरुद्ध कोई आंदोलन चलता है, तब-तब अंग्रेजी के गुलाम मुट्ठीभर नेताओं के इशारे पर नाचने वाले दक्षिण के प्रतिक्रियावादियों की हिंसात्मक-अहिंसात्मक दोनों प्रकार की तमाम प्रतिक्रियाएं प्रचंड रूप धारण करने लगती हैं और हमारी दिल्ली की सरकार थर्राने लगती है। होता यह है कि हमारी बातों को दूध की मक्खी की तरह निकालकर फेंक दिया जाता है और उनके (दक्षिण वालों के) ध्यान पर सरकार के सभी कार्यक्रम फिट किए जाते हैं। आगे चलकर 'राजभाषा संशोधन अधिनियम, 1967' बनाया गया, जिसे 'राजभाषा अधिनियम, 1963' का संशोधित स्वरूप नहीं, बल्कि उसकी पुनरावृत्ति कहना ही समीचीन होगा।

राजभाषा (संशोधन) अधिनियम, 1967

राजभाषा (संशोधन) विधेयक लोकसभा में 27 नवम्बर सन् 1967 को प्रस्तुत किया गया, जिसे तमाम विरोधों, आंदोलनों, सत्याग्रहों आदि के बावजूद लोकसभा ने 16 दिसम्बर, सन् 1967 को पारित कर दिया। लोकसभा द्वारा पारित इस विधेयक को राजसभा ने 22 दिसंबर सन् 1967 को पारित किया और तत्पश्चात 8 जनवरी, सन् 1968 को इसे राष्ट्रपति की अनुमति भी प्राप्त हो गई। इस अधिनियम का लोकसभा द्वारा पारित रूप मुख्यतः इस प्रकार है—

(1) यह अधिनियम राजभाषा (संशोधन) अधिनियम, 1967, कहा जा सकेगा।

(2) राजभाषा अधिनियम, 1963 की धारा 3 के लिए निम्नलिखित धारा रखी जाएगी अर्थात—

(3) संविधान के प्रारंभ से 15 वर्ष की कालावधि के समाप्त हो जाने पर भी हिंदी के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा, नियत तारीख को और से—

(क) संघ के उन सभी सरकारी प्रयोजनों के लिए, जिनके लिए वह उस दिन से पूर्व प्रयोग में लाई जाती थी तथा,

(ख) संसद में कामकाज के व्यवहार के लिए प्रयोग में लाई रह सकेगी।

साथ ही यह (संशोधन) विधेयक निम्नलिखित तथ्यों से अनुप्राणित रहा है—

(1) हिंदी के विकास व प्रसार तथा केंद्र के विभिन्न कामकाज में उसके उत्तरो-

स्तर बढ़ते हुए प्रयोग मे तेजी लाने के लिए केंद्रीय सरकार अधिकार गहन और व्यापक कार्यक्रम तैयार करे और उसे लागू करे।

(2) इन कार्यक्रमों एव उनके परिणामस्वरूप प्राप्त प्रगति से सबधित लेखे-जोखे की रिपोर्ट सरकार हर वर्ष ससद के दोनो सदनो म प्रस्तुत करे।

(3) राज्य सरकारो के सहयोग से भारत की प्रमुख पद्रह भाषाओं के समन्वित विकास के लिए सरकार एक कार्यक्रम बनाए और उसे लागू करे ताकि उन भाषाओ का तेजी से विकास हो सके और वे आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने का प्रभावशाली माध्यम बन सकें।

(4) राज्य सरकारो के परामर्श से भारत सरकार त्रिभाषा फार्मूला को लागू करने के लिए समुचित व्यवस्था करे।

(5) केन्द्रीय सेवाओ मे ऐसी सवाओं तथा ऐसे पदो को छोड़कर, जिनके लिए केवल हिंदी अथवा अग्रेजी या दोनो का उच्चस्तरीय ज्ञान अनिवार्य है, अन्य नियुक्तियों या पदो के लिए ऐसे उम्मीदवारो का चुनाव करे, जिन्हे हिंदी या अग्रेजी का अनिवार्य ज्ञान हो।

(6) केन्द्रीय लोक सेवा आयोग से कार्यप्रणाली पर विचार विमर्श करने के बाद सरकार आयोग की परीक्षाओ तथा उच्च केन्द्रीय सेवाओ के लिए अखिल भारतीय स्तर पर परीक्षायें अग्रेजी तथा सविधान के अष्टम अनुसूची मे उल्लिखित सभी भारतीय भाषाओ मे आयोजित करने की व्यवस्था करे।

राजभाषा (सशोधन) विधेयक, 1967 और हिन्दी अन्दोलन

यद्यपि भारतीय सविधान ने हिंदी को केन्द्रीय सरकार की राजभाषा स्वीकार किया है फिर भी कई गैर हिंदी भाषी प्रदेशो और हिंदी व अहिंदी भाषी मुखर राजनीतिक नेताओ के उत्कट विरोध के कारण इसे वह स्थान नही दिया जा सका। तमिलनाडु म इस विषय को लेकर हिंसक घटनाए घटी, उपद्रव हुए, जिसका प्रत्यक्ष परिणाम यह निकला कि भूतपूर्व प्रधानमत्री स्वर्गीय श्री जवाहर लाल नेहरू को यह आश्वासन देना पडा था कि जब तक एक भी राज्य अग्रेजी कायम रखने के पक्ष मे है तब तक उसे कायम रखा जायेगा।'[12] नेहरू जी का यह आश्वासन सामयिक रूप से विद्रोह को दबाने मे समर्थ हुआ था अवश्य किंतु इसस राजभाषा की समस्या और अधिक उलझ गई थी।

वस्तुत 'राजभाषा' (सशोधन) विधेयक 1967' को ससद म लाने का रहस्य तो अग्रेजीपरस्त नताओ की अनन्तकाल तक अग्रेजी को राजभाषा बनाये रखन की मशा रही है। किंतु इसका जिम्मेदार मद्रास की द्रविड मुनेत्र कषगम सरकार के सतत हिंदी विरोध न मध्य नेहरू जी के उपर्युक्त आश्वासन का दुहराया गया और यह कहा गया कि अहिंदी भाषी प्रदेशो मुख्यत मद्रास की माग पर नेहरू जी

द्वारा दिये गये आश्वासन को कानूनी रूप देने के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए यह विधेयक लाया गया है।

उपर्युक्त विधेयक को लोक सभा में पेश होने से पहले वरिष्ठ कांग्रेसी सदस्य सेठ गोविंद दास के निवास स्थान पर कांग्रेसी और गैरकांग्रेसी हिंदी समर्थकों की एक बैठक हुई, जिसमें 47 कांग्रेसी सदस्यों ने यह घोषणा की कि उन्होंने भाषा-विधेयक का विरोध करने का अंतिम निश्चय कर लिया है। किंतु कुछ दिन बाद ही जब विधेयक लोकसभा में पेश होने के लिए आया तो उनमें से केवल एक कांग्रेसी सदस्य सेठ गोविंददास ने विधेयक पेश करने का विरोध करने का साहस किया।[13] विधेयक पेश होने से पहले इस बात का भी आभास मिला था कि कांग्रेस के कई सदस्य हिंदी भाषा के प्रश्न पर कांग्रेस दल को छोड़ने को तैयार होंगे। किंतु मत पड़ने पर जो दृश्य दिखायी दिया, वह तो कुछ दूसरा ही था। इतना ही नहीं, इस बात का भ्रम फैलाने के लिए कि कांग्रेस हिंदी का विरोध नहीं करती और सिद्धान्त हिंदी को राजभाषा बनाने के पक्ष में है अत्याधिक कांग्रेसी सदस्यों का हिंदी के पक्ष में बोलने की, साथ ही कुछ निरर्थक सुझाव पेश करने की भी साजिश की गयी थी।

कांग्रेसी सदस्यों के पूर्ण आश्वासन से सरकार को इस बात का निश्चय हो चला था कि भाषा विधेयक जिस रूप में पेश किया गया है, उसी रूप में पारित हो जायेगा। इसी बीच कुछ संसद सदस्यों ने प्रधानमंत्री से अनुरोध किया कि उन्हें इस बात का आश्वासन दिया जाये कि एक निश्चित अवधि में एकमात्र हिंदी को राजभाषा बनाया जायेगा। किंतु दक्षिण के द्रमुक और स्वतंत्र पार्टी के अतिरिक्त कुछ अन्य हिंदी विरोधी सदस्यों ने प्रधानमंत्री को इस बात की धमकी दी कि यदि वर्तमान विधेयक में कोई संशोधन किया गया, तो देश के लिये खतरनाक होगा। हिंदी विरोधियों का यह दावा था कि यदि हिंदी को अहिंदी प्रदेशों पर लादा गया तो देश की एकता खतरे में पड़ जायेगी। संसद सदस्य निर्मलचंद चटर्जी के अनुसार 'वह दिन भारत के लिये दुर्भाग्य का दिन होगा जिस दिन संसद में वर्तमान विधेयक में इस प्रकार का संशोधन किया जायेगा।'[14]

हिंदी विरोधियों का यह तर्क कि अहिंदी प्रान्तों में आम जनता हिंदी पढ़ना नहीं चाहती, अपने आप में भयंकर असत्य को छिपाये हुए है। इस विधेयक के आने से कुछ दिन पहले आंध्र के मुख्यमंत्री ब्रह्मानंद रेड्डी और मैसूर के मुख्यमंत्री निजलिंगप्पा इसकी सफाई दे चुके हैं। इन वरिष्ठ नेताओं के अनुसार केन्द्र ने अहिंदी भाषी क्षेत्रों में हिंदी के प्रचार और विकास के लिये उतना काम नहीं किया, जितना उसे करना चाहिए था। इनकी माँग थी कि इस कार्य के लिये केन्द्र को अधिक धन देना चाहिये। हाँ, यह बात अलग है कि उन्होंने भी वर्तमान विधेयक का समर्थन किया, क्योंकि यह उनकी राजनीति का सवाल था। इतना ही नहीं,

कुछ ससद सदस्यो की इस माग पर भी केन्द्रीय सरकार ने कोई ध्यान नही दिया कि हिंदी प्रदेश को अग्रेजी प्रयोग करने पर मजबूर न किया जाये। वस्तुत तटस्थ दृष्टि स देखा जाय तो ज्ञात होगा कि हिंदी और अग्रेजी का एक लम्बे अर्से स चला आता हुआ यह सघर्ष भाषा का नही, बल्कि पूर्वी सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता का झगडा है यह स्वतत्र दिमाग और गुलाम दिमाग का सघर्ष है, यह प्रगतिवाद और प्रतिक्रियावाद की लडाई है और सबके मूल म जो चीज है, वह यह कि यह सघर्ष आम जनता और न्यस्त स्वार्थों का है। हिंदी का विरोध करन वाले वे सब लोग हैं जो यह समझते हैं कि अग्रेजी के द्वारा अधिसख्यक अपढ जनता पर बडे आराम के साथ शासन किया जा सकता है।

हा तो कहना यह है कि एक तरफ हिंदी विरोधी यह विधेयक प्रधानमत्री स्वर्गीय जवाहर लाल नेहरू के आश्वासन के नाम पर लोक सभा मे 27 नवम्बर, सन 1967 को पेश किया गया और दूसरी तरफ इसकी तीव्र प्रतिक्रिया नगर व्याप गयी बात सुनीछी, छुअत चढी जनु सब तन बिछी' के समान समस्त हिंदी प्रदेश म गूज उठी। इस अवसर पर उत्तर भारत म विधेयक विरोधी हिंदी का जो आदोलन चल पडा वह अपने इतिहास म बेजोड है। उसकी एक-एक गति, एक एक तान और एक एक लय अतुलनीय है।

इस व्यापक आदोलन की पतवार काशी हिंदू विश्वविद्यालय के छात्रो ने सभाली। 28 नवबर सन 1967 को भाषा-विधेयक के विरुद्ध छात्रा ने जो आदोलन वाराणसी म शुरू किया, वह देखते देखते पूरे प्रदेश म फैल गया। वाराणसी म छात्रो की उत्तेजना इतनी भयकर हो गयी कि सरकार को कर्फ्यू लगाना पडा। कई बार छात्रो पर लाठी प्रहार किया गया और दर्जनो बार अश्रुगैस के गोले छोडे गये। इतना ही नही, निर्मम पुलिस ने छात्रो की भीड पर गोलिया भी चलायी। वाराणसी की सडकें खून से लाल हो उठी और जिला जेल हजारो नवागतुको से भर गया। फिर भी हर जगह छात्रो का झुड सरकार विरोधी नारे लगाते हुए सडको पर प्रदर्शन करता रहा। तीन दिना के भीतर-भीतर अग्रेजी विरोध की चिनगारी सारे राज्य मे छिटक गयी। दुकानो और कारो तथा मोटरो पर लगे अग्रेजी के नाम पट्टो पर कोलतार पोतने का सिलसिला शुरू हुआ।

वाराणसी के इस आदोलन का प्रभाव लखनऊ और इलाहाबाद म भी पडा। इलाहाबाद के छात्रो ने काले बिल्ले लगाये और आदोलन को आगे बढाया। लखनऊ म छात्रा और पुलिस के बीच बीसो बार सघर्ष हुए। दो डाकखाने जला दिये गये। छात्रो की फुकार भरती हुई कुछ भीड ने आकाशवाणी भवन पर भी हमला करने की कोशिश की। यहा के छात्रा न व्यापक पैमाने पर हडताल करने का आह्वान किया, जिसके फलस्वरूप 30 नवम्बर को अधिसख्यक दुकानें बद रही। नगर म एक हिंदी सना भी गठित की गयी, जिसम नगर के विभिन्न दलो के स्वय

सेवक एवं छात्र सम्मिलित थे।[15]

वाराणसी, इलाहाबाद और लखनऊ के अतिरिक्त आंदोलन गोरखपुर में भी फैल गया। यहां पर रेलगाड़ी के दो डिब्बे जला दिये गये। गोंडा, आजमगढ़, गाजीपुर, देवरिया, बलिया आदि अनेक जनपदों में निरंतर प्रदर्शन और हड़तालें होती रहीं। एक ओर संसद सदस्य श्री राजनारायण ने लखनऊ दिल्ली मेल गाड़ी को घंटों रोके रखा और दूसरी ओर उत्तरप्रदेशीय संयुक्त मोर्चे की सरकार के कई मंत्रियों ने हिंदी आंदोलन का समर्थन करते हुए तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री चरणसिंह से मांग की कि 'वह केन्द्र को बता दें कि उत्तर प्रदेश भाषा-विधेयक का पुरजोर विरोध करता है। यदि विधेयक पारित हुआ, तो संपूर्ण हिंदी क्षेत्र में हिंसक प्रदर्शन होने की आशंका है।'[16] तत्कालीन उप मुख्यमंत्री राम प्रकाश गुप्त ने भी आंदोलन का समर्थन करते हुए छात्रों को 'अपने विचार शांतिपूर्ण तरीके से व्यक्त करना चाहिए' का संदेश दिया। तत्कालीन मुख्यमंत्री चरण सिंह ने छात्रों से अपना आंदोलन शांतिपूर्ण ढंग से चलाने की अपील की। फिर भी आंदोलनकारी छात्र नेताओं की गिरफ्तारी के साथ-साथ वातावरण निरंतर तनावपूर्ण होता गया और छात्र नेताओं को घोषणा करनी पड़ी कि वे अपना आंदोलन तब तक चलाते रहेंगे, जब तक कि केन्द्र भाषा संबंधी काले विधेयक को वापस नहीं कर लेता।

बिहार के विभिन्न नगरों में आंदोलन और पकड़ता जा रहा था। पटना, मुजफ्फरपुर, गया, मुंगेर, हर जगह एक ही तरह के दृश्य दिखायी पड़ रहे थे, यथा अंग्रेजी विरोधी नारे लगाती हुई भीड़, अंग्रेजी नामपट्टों पर तारकोल पोतते हुए चेहरे पुलिस से मुठभेड़ करता हुआ छात्र-समूह। पटना में बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन की एक सभा हुई, जिसमें तत्कालीन लोकनिर्माण मंत्री भोलाप्रसादसिंह, सहकारिता मंत्री रामदेव महतो, विधानसभा के अध्यक्ष धनिकलाल मंडल और जनसंघ के नेता ठाकुर प्रसाद ने केन्द्र की इस भाषा नीति की कटु आलोचना की। पांच सौ छात्रों ने सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाश नारायण के निवास स्थान को घेर लिया और उनके विरुद्ध नारे लगाये गये, कारण यह कि उन्होंने वर्तमान विधेयक के समर्थन में हाथ बटाया था। मुंगेर में 'अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन' बुलाया गया, जिसमें सरकार की इस भाषा नीति की कटु आलोचना के साथ निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किये गये

'लोकतंत्र जनभाषा में ही चल सकता है। साथ ही देश की आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रगति के लिये आवश्यक है कि सार्वजनिक जीवन के सरकारी और गैर सरकारी क्षेत्रों से अंग्रेजी का प्रयोग तत्काल समाप्त हो। संसदीय प्रणाली तथा जनमत के विरुद्ध भारतीय संविधान का उल्लंघन कर प्रधानमंत्री स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू के आश्वासन का झूठा बहाना बनाकर विधेयक लाना देश के साथ विश्वासघात है। अधिवेशन केन्द्रीय सरकार से मांग करता है कि वह

प्रस्तावित राजभाषा विधेयक वापस ले और नई राष्ट्रीय भाषा नीति का अनुसरण करे, जिससे पुनर्गठित संविधान द्वारा निर्धारित भाषा नीति कारगर ढंग से तत्काल लागू की जा सके। सभी प्रादेशिक भाषाएं, जिनमें हिंदी भी शामिल है, अपने-अपने राज्यों में शिक्षा का माध्यम बन जायें। देश के युवकों और युवतियों की प्रतिभा के विकास की दृष्टि से यह आवश्यक है कि अंग्रेजी की अनिवार्य पढ़ाई तत्काल बंद करके उसे ऐच्छिक बनाया जावे। मुंगेर का यह अधिवेशन यह स्पष्ट मत व्यक्त करता है कि अंग्रेजी हटाने के पीछे हिंदी लादने की मंशा नहीं है। अधिवेशन गैर हिंदी भाषी जनता से आग्रह करता है कि वह अपनी-अपनी राज्य सरकारों को क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक भाषाओं को राजभाषा का दर्जा देने के लिए मजबूर करे।"[1]

दिल्ली महानगर में कई दिनों से वातावरण काफी उत्तेजनापूर्ण था। लोक सभा में जनसंघी सदस्य कछवाह ने विधेयक की प्रति जलायी। विश्वविद्यालय में छात्र प्रदर्शन करते रहे। जगह-जगह आम सभाएं की गयीं, दुकानें बंद रहीं और जुलूस निकाले गये। छात्रों और पुलिस में मुठभेड़ होती रही, धर-पकड़ का सिलसिला जारी रहा। अंग्रेजी विरोधी आंदोलन में हिस्सा लेने में जब कुछ छात्रों ने उदासीनता दिखायी, तो 500 छात्राएं सामने आ गयीं। उन्होंने कुछ छात्रों को व्यंग्य में चूड़ियां भेंट की और कहा कि यदि वे गिरफ्तार छात्रों को रिहा कराने और आंदोलन में हिस्सा लेने में असमर्थ हैं तो उन्हें चूड़ियां पहन कर घर बैठ जाना चाहिये। छात्राओं ने उपकुलपति कार्यालय के सामने नारे लगाते हुए घोषणा की कि वे अंग्रेजी विरोधी आंदोलन का नेतृत्व खुद करेंगी। इतना ही नहीं, हिंदी साहित्य सम्मेलन ने दंगल मैदान में एक सभा आयोजित की, जिसमें 20 फीट का अंग्रेजी का पुतला जलाया गया। सभा में उपस्थित पांच हजार लोगों ने प्रतिज्ञा की कि वे अपना संघर्ष तब तक जारी रखेंगे, जब तक सरकार विधेयक को वापस नहीं ले लेती।

भोपाल में जगह-जगह पर सभाएं हुईं। शिक्षा संस्थाएं बंद रहीं। अंग्रेजी नामपट्टों पर कोलतार पोतने का समारोह मनाया जाता रहा। ग्वालियर में पूर्ण हड़ताल थी। छात्रों ने अंग्रेजी पोस्टरों में आग लगायी। एक माध्यमिक विद्यालय के छात्रों ने अंग्रेजी का बहिष्कार किया और दूसरे में अंग्रेजी के पर्चे जलाये गये। नागपुर और इंदौर में आंदोलन का बाजार गर्म था और विधेयक की प्रतियां जलायी गयीं। रामपुर से लेकर रीवां, जबलपुर और विदिशा में निरंतर आंदोलन व प्रदर्शन होता रहा।

राजस्थान में भी अंग्रेजी के फूस महल को जलाने का समारोह जोरों पर था। जयपुर नगर में अंग्रेजी विरोधी जनता ने विशाल जुलूस निकाला। भीड़ सड़कों पर अंग्रेजी विरोधी नारों में मस्त थी। यही स्थिति कमोबेश राज्य के अन्य क्षेत्रों में भी थी। हरियाणा राज्य भी इस मामले में किसी से पीछे न था। यहां भी अंग्रेजी के

..स महल को जलाने का सिलसिला शुरू था, आंदोलन, प्रदर्शन व हड़ताल होती ..ही। सोनीपत मे अंग्रेजी विरोधी प्रदर्शनकारियो ने अमृतसर जाने वाली गाड़ी ..र पत्थरबाजी की और आंदोलन को यथावत बनाने की हर कोशिश की गयी।

केन्द्रीय भाषा नीति के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुए हिंदी के कुछ साहित्य-..कारो ने अपनी उपाधियां लौटाने की घोषणा की। हिंदी के कवि सुमित्रानंदन पंत, ..महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, वृन्दावनलाल वर्मा, पत्रकार ..अक्षयकुमार जैन, गोपालप्रसाद व्यास, और सेठ गोविंददास ने अपनी पद्मभूषण और ..पद्मश्री उपाधियां लौटा देने की घोषणा की। हिंदी कवि श्री रामधारी सिंह दिनकर ने भी घोषणा की कि यदि केन्द्र अपनी भाषा नीति नहीं बदलता, तो वे केन्द्रीय सरकार के हिंदी परामर्शदाता पद से त्यागपत्र दे देंगे। हां, यह दूसरी बात है कि इलाहाबाद के छात्रों द्वारा प्रदर्शन किये जाने के फलस्वरूप 'ग्राम्या' के कवि को ऐसी घोषणा करनी पड़ी हो। उपाधियों से विभूषित अन्य साहित्यकारों के इस रवैये का भी कुछ ऐसा ही रहस्य रहा है।

हां, तो कहना यह है कि इन तमाम प्रकार के आंदोलन, प्रदर्शन एवं विरोध के बावजूद लोकसभा ने राजभाषा संबंधी इस विधेयक को नाना विवादों के मध्य 16 दिसंबर, सन 1967 को पारित कर दिया। अब राज्य सभा की बारी आयी। राज्य सभा में भी विधेयक पर काफी बहस होती रही। बहस के दौरान भूतपूर्व केन्द्रीय शिक्षा मंत्री श्री एम० सी० चागला ने भी विधेयक का जोरदार शब्दों में समर्थन किया और कहा कि "हमने दोनों स्वर्गीय प्रधानमंत्रियों के आश्वासनों को कानूनी रूप दे दिया है। जब तक राजभाषा के रूप में हिंदी-अंग्रेजी का स्थान नहीं ले लेती, तब तक अंग्रेजी का बहिष्कार खतरनाक होगा।"[11] द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम के श्री वी० वी० रामास्वामी और हिंदी विरोधी तमाम नेताओं ने भी स्वर्गीय प्रधानमंत्री पं० नेहरू के आश्वासन की दुहाई देते हुए विधेयक का जमकर समर्थन किया और सरकार के इस कार्य पर प्रसन्नता व्यक्त की। नतीजा यह निकला कि भारी बहुमत के साथ राज्य सभा से यह विधेयक 22 दिसम्बर, सन 1967 को पारित हो गया।

इस प्रकार स्वर्गीय नेहरू के आश्वासन की दुहाई देकर संसद के दोनों सदनों में राजभाषा हिंदी की निर्मम हत्या की गयी और इस सत्य को आंखों की ओट कर दिया गया कि एक दफा नहीं, न जाने कितनी दफा नेहरू जी ने जनता को यह आश्वासन दिया था कि पंजाब का विभाजन किसी भी कीमत पर स्वीकार नहीं किया जायेगा। यदि नेहरू के आश्वासन का ही सवाल था, तो पंजाब विभाजन के समय नेहरू जी के आश्वासन कहां चले गये थे? आखिरकार उनकी उत्तराधिकारी सरकार ने पंजाब का विभाजन क्यों किया? यह प्रश्न अपने आप में महत्वपूर्ण व विचारणीय है।

विधेयक विशाल बहुमत से पारित हुआ, इसमें संदेह नहीं। किंतु वह अपने पीछे अनेक प्रश्न चिह्नों को छोड़ता गया है। ये प्रश्न चिह्न समय के साथ धूमिल न होकर स्पष्ट होते जा रहे हैं और इस बात का संकेत दे रहे हैं कि विवादास्पद विधेयक के पास होने के बावजूद विवाद अपनी जगह पर है। यह तो रहा सन 1967 के हिंदी आंदोलन का एक पहलू, विषय की स्पष्टता के लिये दूसरे पहलू पर बनते-बिगड़ते चित्रों की झांकी भी द्रष्टव्य है।

दक्षिण भारत और हिंदी

जहां पर संस्कृत के एक से एक दिग्गज आचार्यों ने जन्म लिया, जहां के लोग मध्यदेशीय संस्कृति एवं भाषाओं के प्रति आदि से जिज्ञासु रहे, और जहां पर सर्वप्रथम खड़ी बोली साहित्य और शासन का माध्यम बन दक्खिनी नाम से प्रसिद्ध हुई, उसी दक्षिण भारत को हिंदी का विरोधी कहा जाता है। किंतु यह कथन अपने आप में पर्याप्त भ्रमपूर्ण है, न तो समस्त दक्षिण भारत में हिंदी का विरोध होता है और न वहां की आम जनता ही हिंदी-विरोधी है। विरोध होता है मद्रास में और हिंदी विरोधी भावनाओं को अपनी राजनीतिक पूंजी समझते हैं दक्षिण के मुट्ठी भर राजनीतिक नेता। वस्तुत जिस प्रदेश में गांधी जी ने 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' की स्थापना की, जहां हिंदी न पढ़ने पर कांग्रेस के वरिष्ठ नेता श्री राजगोपालाचार्य ने लोगों को जेल तक भेजा, वहीं से सर्वप्रथम यह स्वर सुनायी पड़ा कि हिंदी प्रचार देश के साथ विश्वासघात है और स्वतंत्र पार्टी के आधार उसी राजा जी ने घोषणा की कि 'राजभाषा अगर हो सकती है तो अंग्रेजी हिंदी नहीं।'[19]

मुख्यत समस्त दक्षिण भारत में मद्रास की द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम नामक संस्था ही हिंदी की विरोधी है और उसके इस मुद्दे पर दक्षिण की स्वतंत्र पार्टी का सहयोग भी सदा कम मिलता रहा है। सेठ गोविंद दास के शब्दों में 'इस संस्था का इतिहास राष्ट्रद्रोह का इतिहास है। पहले से ही मद्रास का यह दल अलग राष्ट्र की मांग करता रहा है। आज भाषा को लेकर यह दल भारत से अलग होने की धमकियां देता है।'[20] द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम के चुनाव घोषणा पत्र में हिंदी-विरोध को सदैव महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता रहा है। सन 1967 के आम चुनाव के सरगर्मी के बीच द्रमुक के संदर्भ में 'दिनमान' का कथन है कि 'द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम के चुनाव घोषणा पत्र में जिन बातों का आश्वासन दिया गया है, उनमें जनता के हितों का ध्यान रखना और लोकतंत्र की नींव पक्की करना सम्मिलित है। इनके अलावा हिंदी के महत्व का विरोध करते रहने का उनका वादा बदस्तूर कायम है।'[21]

कहना न होगा कि अपनी मौकापरस्त नीतियों के फलस्वरूप सन 1967 के आम चुनावों में द्रमुक ने कांग्रेस के समक्ष बहुत बड़ी विजय प्राप्त की और सर्वप्रथम कांग्रेस के खिलाफ मद्रास में एक दलीय सरकार का निर्माण किया। अपने

शासन के प्रारंभिक दिनों में यह अपनी मूकता से हिंदी विरोध से दूर रहने वाले दृष्टिकोण का परिचय देती हुई सी दिखायी पड़ी। किंतु इसी बीच राज्य के मुख्य मंत्री अन्नादोरै दिल्ली रवाना हुए और वहां जाकर उन्होंने केन्द्रीय सरकार से राज्य मद्रास के कृषि-विकास के लिए प्रचुर आर्थिक सहायता की मांग की। किंतु तत्कालीन उप प्रधान मंत्री व वित्तमंत्री मोरारजी देसाई ने इस संदर्भ में केन्द्रीय सरकार की असमर्थता प्रकट की। नतीजा यह निकला कि मुख्य मंत्री अन्नादोरै की सभी आशाओं पर पानी फिर गया और उन्हें खाली हाथ मद्रास वापस आना पड़ा। अब 'झगड़ा किसी से और गुस्सा किसी पर' के अनुसार बात फिर हिंदी पर आ गयी।

द्रमुक सरकार के नेताओं ने, जिनका एकमात्र उद्देश्य हिंदी का विरोध करना ही रहा है, कहा कि 'जो सरकार नेहरू के आश्वासनों को पूरा नहीं कर सकती, उससे हम और क्या उम्मीद रख सकते हैं।'[22] और मुख्य मंत्री अन्नादोरै ने कुछ 'दुखी मन मरे' की मुद्रा में 'कौन घौ पाटि पढ़ी है लला, मन लेन पै देन छटाक नहीं' के तर्ज पर कहा कि हिंदी भाषी क्षेत्र हमेशा ही अपनी बात मनवाते रहे हैं और अहिंदी भाषी क्षेत्र हमेशा से ही भुक्त आ रहे हैं। सहनशक्ति की भी एक सीमा होती है और अब हमारी वह सीमा समाप्त हो चुकी है। आगे मुख्यमंत्री अन्नादोरै ने अपनी सरकार की नीतियों को स्पष्ट करते हुए कहा कि, 'यह ठीक है कि द्रमुक सरकार की 'स्वतंत्र द्रविड़ नाडु' की कोई मांग नहीं है पर यह भी सही है कि हमारी सरकार केन्द्र का जरूरत से ज्यादा हस्तक्षेप और कुछ मामले में, जैसा कि भाषा के मामले पर, केन्द्र की मनमानी बरदाश्त नहीं कर सकती। केन्द्रीय सरकार को एक न एक दिन हम स्वायत्तता का अधिकार देना ही होगा'[23] इसी जगह से मद्रास में पुनः हिंदी विरोध का सक्रिय सिलसिला शुरू होता है।

जहां तक राजा गोपालाचार्य का, जिन्हें बूढ़ा जवान विद्रोही कहा जाता रहा है, सवाल है, उन्होंने भी जलती आग में हाथ सेंकना शुरू किया। अब वे अंग्रेजी जुबान का पहले से भी ऊंची आवाज में यशोगान करने लगे। उनकी निगाह में इस जुबान में साहित्य है विज्ञान है और इस देश को विकसित करने के लिए जो कुछ चाहिये, वह सब कुछ है। उन्होंने दक्षिण भारत के छात्रों से यहां तक कहा कि वे इस प्रश्न को लेकर केन्द्र का विरोध करें और वे अब उठें, जागें, और तब तक रुकने का नाम न लें, जब तक उन्हें अपनी मंजिल प्राप्त नहीं हो जाती। जहां तक संतुलित विचार वाले व्यक्तियों का संबंध रहा है, उन्होंने कहा कि केन्द्रीय सरकार को चाहिये कि इस मामले में जल्दबाजी से काम न लें।[24]

सन् 1967 के नवम्बर तक आते आते भाषायी राजनीति ने नए दौर में द्रमुक ने एक नया पासा फेंका। इसके अनुसार उसने भाषा को ही चुनाव लड़ने का सबसे बड़ा अस्त्र बनाया। इस पासे के अमोघ चाल के सामने तमिलनाडु के सारे राज-

600 ■ अधिक छात्रो ने नीलगिरि-एक्सप्रेस गाडी को कोई आध घटे तक रोके रखा। उस गाडी पर लिखे हिंदी अक्षरो को मिटाकर हिंदी विरोधी नारे लिखे गए और उसके बाद वही जाकर गाडी आगे रवाना हुई। यह सब होता रहा और राज्य की पुलिस मजे से देखती रही। पुलिस ने इतना कष्ट जरूर किया कि काफी देर बाद आर० रामास्वामी को गिरफ्तार कर लिया और थोडी देर बाद जमानत पर रिहा भी कर दिया।

मद्रास के इन मनचले छात्रो द्वारा राष्ट्रीय ध्वज जलाने एव राष्ट्रीय गीत का अपमान किए जाने या फिर उनके द्वारा आए दिन स्वतत्र तमिलनाडु की आवाज बुलद करने के समाचारों से सपूर्ण देशवासियो का दुखी होना अति स्वाभाविक था। लोग इस नतीजे पर पहुच चुके थे कि मद्रास राज्य मे जितनी भी अशोभन और अनहोनी घटनाए घट रही हैं, उन सबके लिए द्रविड मुन्नेत्र कषगम सरकार ही जिम्मेदार है। बात जब सीमा का अतिक्रमण करने लगी तो राज्य के मुख्यमत्री अन्नादौरे और श्री राजगोपालाचार्य ने एक सयुक्त वक्तव्य देकर भडके हुए छात्रों से शान्त रहने की अपील की और कहा कि उन्हे राष्ट्रीय ध्वज जलाने या स्वतत्र तमिलनाडु के नारे बुलद करने जैसे निदित कार्यो से कोसो दूर रहना चाहिए। क्योकि ऐसा करने से न तो भाषा-समस्या का ही कोई सम्मानजनक हल निकलेगा और न हम किसी नतीजे पर ही पहुच पायेंगे। आगे इन नेताओं ने छात्रो को यह विश्वास दिलाया कि दोनो नेता अपने इरादो और अपने वायदो के पक्के हैं। उन्हे छात्रो के हितो का पूरा-पूरा ध्यान है, यानी वे ऐसे किसी भी प्रस्ताव को स्वीकार नही करेंगे, जिससे कि छात्रो का अहित हो। साथ ही उस वक्तव्य मे यह भी कहा गया था कि हमे यह बात हमेशा ध्यान रखनी चाहिए कि हमे अपनी कोशिशो मे तभी कामयाबी हासिल हो सकती है, जबकि राज्य मे काफी समय तक द्रमुक सरकार बनी रहे। किंतु कहना न होगा कि इन अपीलो का मद्रास के छात्रों पर कोई प्रभाव पडते न देखा गया।

3 मार्च, सन् 1968 को 'दिनमान' मे इन घटनाओ की आलोचना करते हुए लिखा गया है कि 'अन्नादौरे यह कहा करते थे कि सहनशक्ति की भी एक सीमा होती है। अब उन्हे भी यह ध्यान रखना चाहिए कि सहन-शक्ति की एक सीमा होती है। कही पथराव, कही हिंदी विरोधी आदोलन, रेलगाडियो को जलाना, मोरारजी देसाई को मद्रास आने से मना करना, एन० सी० सी० को बद करने की घोषणा करना, राष्ट्रीय गीत और राष्ट्रीय ध्वज का अपमान करना, फिर पृथक होने की धमकी देना और अब राष्ट्रीय ध्वज के स्थान पर तमिषकम् ध्वज। आखिर सहनशक्ति की भी एक सीमा होती है। न जाने कब तक द्रमुक सरकार उत्तर भारतीयो की भावनाओ के साथ खिलवाड करती रहेगी।'[28]

और हिंदी विद्यापीठ देवघर, बिहार के तत्कालीन कुलपति डा० लक्ष्मी

नारायण सुधांशु ने कहा कि 'सरकार की दुर्बलता, उपेक्षा और मद्रास नीति के कारण हिंदी की दुर्गति हो रही है। भारत की सरकार नपुंसक है। मद्रास द्वारा हिंदी विरोध के अवसर पर राष्ट्रीय झंडा तक जला दिया गया और यह सरकार चुपचाप बैठी रह गई। अन्नादोरै की गीदड़ धमकी पर सरकार कांप जाती है। संविधान द्वारा घोषित राजभाषा को न मानने वाले लोगों को जेल के अंदर होना चाहिए, किंतु हमारी कायर सरकार चुप बैठी है। यह सरकार उपद्रव की भाषा समझती है, आंदोलन की भाषा समझती है। हमें इस सरकार को आंदोलनों से झुकाना पड़ेगा।'[29]

सन् 1967 के राजभाषा विधेयक के पारित होने के बाद मद्रास की यह प्रतिक्रिया हुई कि द्रमुक सरकार ने भाषानीति के संदर्भ में त्रिभाषा फार्मूले के स्थान पर द्विभाषा फार्मूला[30] स्वीकार कर मद्रास से हिंदी को निर्वासित कर दिया। पूरे तमिलनाडु में द्विभाषा प्रणाली की घोषणा के साथ हिंदी, संस्कृत और उर्दू की पढ़ाई एक साथ समाप्त कर दी गई। हिंदी प्रचारक तो पहले से ही बदनाम थे। संस्कृत-शिक्षा के कायल अब वहां के ब्राह्मण भी न रहे। केवल मुसलमानों द्वारा उर्दू को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्न जारी थे। भूतपूर्व कांग्रेस अध्यक्ष कामराज और तत्कालीन तमिलनाडु कांग्रेस अध्यक्ष सुब्रह्मण्यम की धारणा भी द्विभाषा फार्मूले के पक्ष में ही थी। वस्तुतः ये दोनों नेता दक्षिण में अंग्रेजी के और उत्तर में हिंदी के समर्थन की बातें करके हमेशा भाषा क्षेत्र में दोहरी नीति से काम लेते आ रहे हैं।

इतना ही नहीं, मदुरै की हिंदी विरोधी छात्र परिषद् ने खुले शब्दों में यह ऐलान किया कि यदि केन्द्र ने राज्य विधान सभा द्वारा प्रस्तावित द्विभाषा फार्मूले को स्वीकार नहीं किया तो हम स्वतंत्र तमिलनाडु का नारा बुलंद कर देंगे। दूसरी तरफ तिरुचिरापल्ली में विद्यार्थियों ने तमिलनाडु को स्वतंत्र देश बनाने के लिए धार्मिक आंदोलन का निश्चय किया। कोयम्बटूर में उपराष्ट्रपति को भी तमिलनाडु को स्वाधीन करने का स्मरण पत्र दिया गया। राज्य में इस प्रकार के अनर्थकारी अराष्ट्रीय दृश्य उपस्थित होते रहे और मद्रास की सरकार व पुलिस शान्त होकर तमाशा देखती रही।

हिंदी विरोधी आंदोलन का असर आन्ध्र में भी रहा। पर वास्तविकता यह थी कि आन्ध्र प्रदेश में आंदोलन वहां के निवासियों द्वारा नहीं किये गये थे। उनके मूल सूत्रधार द्रमुक के मतवाले थे। जिन दिनों हिंदीविरोधी आंदोलन मद्रास में उग्र हो रहा था, उन दिनों आन्ध्र के अलावा केरल और मैसूर बिलकुल शांत थे। पर जैसे ही मद्रास का आंदोलन धीमा पड़ा, आंदोलन की आग मैसूर की राजधानी बेंगलौर और आन्ध्र प्रदेश के मद्रास की सीमा से लगे हुए जिलों नेल्लौर और चित्तूर में भड़क उठी। तात्पर्य यह कि तमिलनाडु में अपने प्रारंभिक उद्देश्यों की

पूर्ति कर चुकने के बाद हिंदी विरोधी-आंदोलन के कदम क्रमश: आन्ध्र और मैसूर की ओर बढ़ने लगे। तेनाली (आंध्र) में भाषण करते हुए मद्रास के मुख्यमंत्री अन्नादोरै ने राजा जी के नेतृत्व में इस आंदोलन को और अधिक जोर पकड़ाने की सलाह दी और कहा कि देश की कोई भी भाषा राजभाषा के पद पर आसीन होने योग्य नहीं है और अंग्रेजी इस काम को पूरा कर सकती है। आंध्र के ही तमिल बहुसंख्यक जिले चित्तूर में उन्हीं के निर्देशन के कारण आंदोलन का जोर रहा।

किंतु जहां तक मैसूर जैसे शांत प्रदेश में भाषा को लेकर अचानक ज्वालामुखी को फूटने का प्रश्न है, जिसके अनुसार बंगलौर में छात्रों ने राज्य के मुख्यमंत्री निजलिंगप्पा की कार पर भी पथराव किया, स्वतः मुख्यमंत्री के लिये भी आश्चर्य का विषय था। भाषा के इस विस्फोट को लेकर 'दिनमान' के प्रतिनिधि और मैसूर के मुख्यमंत्री निजलिंगप्पा व उनके विश्वासपात्र सहयोगी रामकृष्ण हेगड़े से जो बातचीत हुई, उससे पता चला कि मैसूर में भाषा संबंधी उपद्रव सुनियोजित थे और उनके पीछे द्रमुक का हाथ था। श्री हेगड़े ने बताया कि मैसूर की सीमा पार कर मद्रास से द्रमुक के कार्यकर्त्ताओं और छात्रों के कुछ जत्थे चले आये और उन्होंने प्रदेश में जगह जगह विद्यार्थियों को उकसाना शुरू किया। छात्रों को यह कहकर बरगलाया गया कि हिंदी के विरोध में समूचे दक्षिण भारत का फायदा है क्योंकि अगर हिंदी को स्वीकार कर लिया गया तो दक्षिण भारत के लोग केन्द्रीय नौकरियों में पिछड़ जायेंगे। द्रमुक ने हिंदी विरोध को अंग्रेजी में परिणत करते हुए मैसूर के छात्रों को कुछ समय के लिये अस्तव्यस्त कर दिया। श्री हेगड़े ने कहा कि यह मजेदार बात है कि ये उपद्रव मद्रास की ओर पड़ने वाली सीमा में ही हुए, कर्नाटक की तरफ का प्रदेश शांत रहा।[8] स्पष्ट है कि एक प्रदेश की आग दूसरे प्रदेश में लगाई गई थी।

वस्तुतः हिंदी-अंग्रेजी का सारा झगड़ा भारत सरकार की नौकरियों का है। यदि जनसंख्या के हिसाब से केन्द्रीय सरकार की नौकरियों में प्रदेशवार पदों की संख्या निर्धारित कर दी जाय, तो हिंदी और अंग्रेजी की लड़ाई बहुत हद तक समाप्त हो सकती है। तमिलनाडु में अंग्रेजी की सेना शिव की बारात जैसी है। उसमें वे लोग भी हैं, जो अंग्रेजी नहीं जानते। उसमें वे लोग भी रहे हैं, जिन्होंने तमिलनाडु में कभी हिंदी जबर्दस्ती पढ़वाई थी। उसमें वे जन भी हैं जो अंग्रेजी कभी नहीं पढ़ेंगे और वे लोग भी हैं जो हिंदी बखूबी जानते हैं। आखिरकार मद्रास का यह अंग्रेजी-प्रेम कैसा और क्यों? यह अपने अपने आप में विचारणीय है।

जहां तक सरकार का प्रश्न है, राजभाषा के बारे में सरकार के विचार शुरू से में ही लोक विरोधी रहे हैं। उसने लगातार अंग्रेजी को आगे बढ़ाया है और दूसरी ओर हिंदी के मामले को इस तरह सामने रखा है कि हिंदी भी केवल कुछ सुविधा

प्राप्त वर्गों की भाषा बन और देश का जनसमुदाय उससे वंचित रहे। राजभाषा विधेयक समस्या का हल नहीं, बल्कि स्वयं एक समस्या था। हां, इतना जरूर हुआ कि उसके प्रतिक्रिया स्वरूप हिंदी के अनेक सरकार-जीवी लेखकों और बुद्धिजीवियों को अलंकरण छोड़ना पड़ा और कांग्रेस विरोधी पार्टियों को अपने संगठन का उम्दा परिचय देने का अवसर मिला। उत्तरप्रदेश में जहां कि जनसंघ बाजी मार ले गया था, राजभाषा के सवाल को अपना सवाल बनाकर संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी ने अपनी जड़ें कुछ और गहरी कर लीं। ठीक इसी तरह तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कषगम, जो सत्ता प्राप्त कर चुका था, एक बार फिर सड़कों पर आया और उत्तर दक्षिण की धुरी जो कि स्थिर हो चली थी, पुनः डोलने लगी।

राजभाषा (संशोधन) अधिनियम, 1967 के उपबंधों को कार्यान्वित करने के लिये 6 जुलाई सन 1968 को गृह मंत्रालय द्वारा सभी मंत्रालयों एवं विभागों को निम्नांकित अनुदेश जारी किये गये :

(1) जिन राज्यों ने केन्द्रीय सरकार के साथ पत्र व्यवहार के लिये हिंदी को अपना लिया है, उनके साथ सभी प्रकार के पत्र व्यवहार के लिये यथा संभव हिंदी का अधिकतम प्रयोग करने के लिए प्रयत्न किये जायें।

(2) कर्मचारियों को टिप्पण और आलेखन के लिये हिंदी अथवा अंग्रेजी के प्रयोग करने की स्वतंत्रता है और दूसरी भाषा में उसका अनुवाद उस कर्मचारी को नहीं करना है।

आगे चलकर निम्नलिखित दो अनुदेश और जारी किये गये :

(1) हिंदी भाषी क्षेत्रों में स्थित केन्द्रीय सरकारी कार्यालयों में काम करने वाले चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों की सेवापंजिकाओं में सभी प्रविष्टियां हिंदी में हों।

(2) जनता में प्रयोग में आने वाले फार्म हिंदी, अंग्रेजी और क्षेत्रीय भाषाओं में छपवाये जायें।

इन अनुदेशों के संदर्भ में गृहमंत्रालय द्वारा निम्नांकित व्यवस्थाएं भी की गयी हैं

(1) प्रत्येक मंत्रालय/विभाग में संयुक्त सचिव के स्तर के एक अधिकारी को, विशेषतः प्रशासन से संबंधित अधिकारी को संघ के सरकारी प्रयोजनों के लिये हिंदी के संबंध में समय-समय पर जारी किये गये आदेशों के कार्यान्वयन के सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी सौंपी गई है।

(2) संबंधित मंत्रालयों/विभागों में हिंदी के प्रयोग के संबंध में हुई प्रगति का पुनर्निरीक्षण करने के लिए भारत सरकार के हिंदी सलाहकार की अध्यक्षता में एक समिति का गठन भी किया गया है। गृह, शिक्षा, विधि, सूचना और प्रसारण, विदेश व रेल के संयुक्त सचिव तथा डाक व तार बोर्ड के सदस्य इस समिति के सदस्य

हैं। साथ ही एक तिमाही प्रगति की रिपोर्ट भी निर्धारित की गई है, ताकि गृह मंत्रालय राजभाषा (संशोधन) अधिनियम के उपबन्धों के कार्यान्वयन में हुई प्रगति की देखभाल कर सके।

इसके अतिरिक्त आज तक संघ एवं राज्य सरकारों तथा उनके विभिन्न मंत्रालयों एवं विभागों द्वारा हिंदी की अभिवृद्धि एवं प्रसार तथाकथित अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये गये हैं, जिन्हें देखने से ऐसा लगता है कि हिंदी के संदर्भ में काफी प्रगतिशील कदम उठाये गए हैं, किंतु वास्तविकता कुछ दूसरी है। वस्तुतः आज भी राजभाषा हिंदी की सांविधानिक स्थिति 26 जनवरी, सन् 1950 की-सी बनी हुई है।

हिंदी की अभिवृद्धि एवं प्रसार में संघ एवं राज्य सरकारों द्वारा उठाये गये कदमों के अलावा गैर सरकारी माध्यम के रूप में हिंदी संस्थान, भारतीय विश्वविद्यालयों, चलचित्र, समाचार पत्र, रेडियो, पत्र पत्रिकाएं, साहित्य वाणिज्य, व्यवसाय आदि ऐसे सशक्त साधन हैं, जिनके द्वारा इस दिशा में पर्याप्त सफलता मिली है। हिंदी का सर्वांगीण विकास हुआ है। फिर भी हिंदी की ये सारी उपलब्धियां जहां की तहां धरी पड़ी हैं और आज भी राजभाषा हिंदी की समस्या अधर में लटकी हुई है।

अब बात आकर राजभाषा समस्या पर रुकती है। राजभाषा की तो नहीं, किंतु राष्ट्रभाषा की समस्या पर विद्वानों ने मोटी-मोटी पोथियां लिख डाली हैं, जिन में राष्ट्रभाषा हिन्दी से सम्बंधित पारिभाषिक शब्दावली, व्याकरण, वर्तनी, लिपि आदि की समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है और यथासंभव उनका समाधान भी प्रस्तुत किया गया है। परंतु ध्यान से देखा जाय, तो मालूम होगा कि अखिल भारतीय संपर्क भाषा के रूप में राष्ट्रभाषा हिंदी की कोई समस्या नहीं है, बल्कि पहले की अपेक्षा आज हिंदी के जरिये समूचे राष्ट्र में विचार संपर्क का कार्य और आसान हो गया है। भाषा को लेकर वर्तमान भारत में मात्र एक समस्या है राजभाषा की, जो देशव्यापी है। इससे प्रभावित सिर्फ हिंदी ही नहीं, बल्कि भारत की सभी प्रादेशिक भाषाएं हैं। अंग्रेजी जबतक देश के शासन में हिस्सा बटाती रहेगी, तबतक भारतीय भाषाओं को लेकर चाहे जितनी भी उन्नत पारिभाषिक शब्दावली गढ़ी जाय, तत्संबंधी व्याकरण चाहे जितना भी सरल किया जाय, लिपि और वर्तनी को सुधार कर चाहे पूर्ण वैज्ञानिक ही क्यों न बना लिया जाय, राजभाषा की समस्या ज्यों की-त्यों बनी रहेगी। कारण यह है कि राजभाषा-समस्या के मूल में *शासन के मध्य अंग्रेजी प्रयोग की प्रवृत्ति है, न कि भारतीय भाषाओं की* पारिभाषिक शब्दावली की असमृद्धता, व्याकरण की कठिनता, वर्तनी व लिपि की वैज्ञानिकता आदि।

इसे हिंदी की नहीं, बल्कि संपूर्ण राष्ट्र का दुर्भाग्य कहना चाहिये कि हिंदी न केवल अहिंदी भाषा बल्कि अपने प्रदेशों में भी एक राजनीतिक प्रश्न के रूप में गत

अनेक वर्षों से सामने रखी जाती रही है। यहां तक कि जब देश स्वाधीन हो रहा था, तब भी हिंदी राजनीतिक कटघरों में खड़ी की गयी थी और जब संविधान सभा में राजभाषा का प्रश्न उठा, तब भी राजनीतिक शतरंज का एक मोहरा हिंदी बनायी गयी और राजनीतिक कर्णधारों ने बजाय यह निर्णय लेने के कि अमुक राजभाषा हो, तथा उसके पठन पाठन की व्यवस्था सारे देश में अमुक तिथि तक हो जाये, निर्णय यह किया कि प्रस्तावित राजभाषा का स्वरूप इस प्रकार हो और पन्द्रह वर्षों के बाद वह राजभाषा हो जाये। परिणाम यह हुआ कि राजभाषा हिंदी के व्यवहार का प्रश्न ओट में चला गया, जिसके निर्माण का काम ऊपर आ गया। निर्माण का आधार भी विचित्र, अंग्रेजी को नजर में रखकर हिंदी शब्दों की गढ़ाई शुरू हुई, पाणिनि जैसे महान भाषा वैज्ञानिक की जन्मभूमि में भाषा के साथ अनाचार प्रारंभ हुआ। इस काम में लाखों रुपये खर्च हुए और इसे भी इतने इतमीनान से किया जाता रहा कि हिंदी भाषा के विरुद्ध भांति-भांति के आक्रोश को बढ़ावा मिला, भाषा को नौकरी तक सीमित रखने वाली या भाषा को मजहब से जोड़ने वाली संकीर्ण प्रवृत्तियों को साजिश करने का खासा मौका मिला।

वस्तुत आज की राजभाषा समस्या को देखते हुए तुर्की के महान मुक्तिदाता कमालपाशा का वह दृढ़ निश्चय ध्यान में आता है, जिसका परिचय उन्होंने स्व-राज्य प्राप्ति के अवसर पर दिया था। कमालपाशा ने स्वराज्य प्राप्त करने पर प्रमुख शिक्षाशास्त्रियों और सहयोगियों से राजभाषा के रूप में तुर्कीभाषा को स्थान दिलाने के संबंध में अपने विचार प्रस्तुत करने को कहा और जब इन सहयोगियों ने तुर्की को राजभाषा के रूप में विकसित होने के लिए 10 वर्ष का समय निर्धारित करने की मांग की, तो उन्होंने यह घोषणा की कि 'आप लोग यह समझ लें कि' कल सुबह 10 बजे पूरे 10 वर्ष हो चुके हैं और उस समय से तुर्की राजभाषा घोषित की जाती है।[3] 'इस निर्णय से विदेशी भाषा के थोड़े से जानकार क्षुब्ध हुए, लेकिन अधिकांश जनता ने यह निर्णय सर आंखों पर ले लिया, जिससे विरोधियों ने भी उक्त निर्णय के अनुसार कार्य करना शुरू किया। यदि हमारे देश के कर्ण-धारों ने भी भारतीय भाषाओं के संदर्भ में इसी प्रकार का स्पष्ट निर्णय स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद ही ले लिया होता, तो आज राजभाषा की कोई समस्या न होती और केन्द्रीय राजभाषा हिंदी के साथ अन्य प्रादेशिक राजभाषाएं अपने अपने क्षेत्र में वांछित महत्ता प्राप्त कर चुकी होतीं।

अब से भी चेता जा सकता है और प्रशासनिक क्षेत्र में भारतीय भाषाओं को उनका प्राप्य दिलाया जा सकता है। आज भाषा को लेकर जिस प्रांतीयता की भावना उभर रही है या अन्य भारतीय भाषाओं के साथ हिंदी के वैमनस्य की जो बात चलायी जा रही है, वह अपने-आप में अराष्ट्रीय और अस्वस्थ दृष्टि का परिचायक है। ऐसे महादेश में अनेक भाषाओं की स्थिति स्वाभाविक है, किंतु

उनमें से प्रत्येक भाषा एक वीणा के ऐसे सधे तार के समान रहकर ही सार्थकता पाती है, जो रागिनी की संपूर्णता के लिए ही अपनी झंकार से भिन्न है। सभी भारतीय भाषाएं प्रणम्य हैं। सभी ने अपनी चिंतना और भावना की उपलब्धियों से राष्ट्र-जीवन को समृद्ध किया है।[33] ये उद्गार हैं हिंदी की वरिष्ट कवियत्री महादेवी वर्मा के, जिन्हें उन्होंने 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' के तत्वावधान में आयोजित पांचवें अखिल भारतीय भाषा सम्मेलन के अध्यक्ष पद से व्यक्त किया है। महादेवी के शब्दों में भाषाओं की भिन्नताएं समष्टि गति की निरंतरता बनाये रखने का लक्ष्य रखती हैं। उसे खण्डित करना नहीं।

स्पष्ट है कि परस्पर भिन्न होते हुए भी सभी भारतीय भाषाएं राष्ट्रीयता की पोषक हैं, आंतरिक दृष्टि से उनमें साम्य है। व एक दूसरे की सहयोगी हैं, विरोधी नहीं। अब आवश्यकता है समस्त देशवासियों के अंतःकरण में ऐसी चेतना जगाने की, जिससे अखिल भारतीय स्तर पर सिर्फ हिंदी ही नहीं, बल्कि सभी प्रादेशिक भाषाओं को लेकर एक व्यापक आंदोलन चलाया जा सके, जिसका एकमात्र उद्देश्य हो सभी प्रादेशिक भाषाओं को उन-उन प्रदेशों में राजभाषा का पद दिलाना। यह एक ऐसा तरीका होगा, जिससे आगे सभी प्रादेशिक सरकारों को झुकना पड़ेगा और प्रादेशिक भाषाओं को राजभाषा का ओहदा देना पड़ेगा। इस तरह से अंग्रेजी अपने आप प्रशासनिक क्षेत्रों से बहिष्कृत हो जायेगी और प्रादेशिक स्तर पर स्वदेशी भाषाओं का आधिपत्य कायम होगा। रही बात केन्द्रीय राजभाषा की, उसकी समस्या भी प्रादेशिक राजभाषा की समस्या सुलझाने एवं समूचे राष्ट्र में प्रशासनिक क्षेत्र से अंग्रेजी के बहिष्कृत होने के साथ साथ जनतांत्रिक प्रणाली पर अपने आप सुलझ जायेगी। अन्यथा वर्तमान भारतीय वातावरण में राजभाषा के संदर्भ में सिर्फ हिंदी को लेकर उतरना खतरे से खाली न होगा।

संदर्भ

1 'एक संयुक्त एकीकृत भारत की एक भारतीय राष्ट्रभाषा होनी चाहिए जो देश की एकता का ज्वलंत प्रतीक हो, और हिंदी ही ऐसी एकमात्र भाषा है जो इस पद पर आरूढ़ हो सकती है' का उद्घोष करने वाले सुनीति बाबू के उस विमति-टिप्पण (नोट आफ डिसेंट) को, जो राजभाषा आयोग के प्रतिवेदन में संलग्न है तथा जिसमें अंग्रेजी के समक्ष हिंदी की अयोग्यता बड़ी सफाई के साथ पेश की गई है, देखकर तो दांतों तले अंगुली दबानी पड़ती है।

द्रष्टव्य : 'राष्ट्रभाषा हिंदी समस्याएं और समाधान' : प्रो० देवेंद्रनाथ शर्मा, पृ० 157 व 163 से 166।

एक समय था जब चक्रवर्ती राजगोपालाचारी 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' के वरिष्ठ सदस्यो एव हिंदी के परम हितैषियो मे से एक थे, परतु अब तो उनका रग भी बदलता हुआ नजर आ रहा था। स्वतत्रता पूर्व हिंदी प्रचारार्थ दक्षिण भारत का दौरा करते हुए राजा जी की वाणी जिन शब्दो के मध्य मुखरित हुआ करती थी, उसके दो-एक नमूने द्रष्टव्य हैं :

'राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा व्यापारिक सभी दृष्टियों से हिंदी दक्षिण भारत के स्कूलो के पाठ्यक्रम का एक अनिवार्य अग होनी चाहिए। दक्षिण भारत के लिए सभव नही कि वह आने वाले स्वराज्य मे मताधिकार से वचित रहे। सभी दक्षिण वालो को हिंदी सीखनी चाहिए, क्यो कि अगर भारत मे किसी भी प्रकार की जनतांत्रिक सरकार बनेगी, तो हिंदी ही एकमात्र राजकीय भाषा हो सकेगी।'

(Hindi should be a necessary part of the South Indian School curriculum from the political, social and commercial points of view, South India could not afford to be disfranchised in the ecomming Swaraj They should all learn Hindi, which alone could be the state language, if India should have any form of democratic Government)

हिंदी-प्रचारक' मार्च, सन् 1929, पृ० 70।

'हिंदी भावी भारत की राजभाषा है, हमे अभी से उसे जरूर सीख लेना चाहिए।'

(Hindl will be the State language of comming India and we must learn it from now)

'हिंदू' 4 फरवरी, सन् 1929।

2 पूर्ण जानकारी के लिए द्रष्टव्य
'Constituent Assembly Debates', Vol VII p 358-383

3 'Constituent Assembly Debates', Vol VII, p 382 83

4 वही, पृ० 362 63।

5 सविधान सभा मे अपनाई गई भाषा नीति का पर्दाफाश करते हुए डा० राम मनोहर लोहिया ने लिखा है
'अग्रेजी राज्य के खतम होने पर भाषा का सवाल उग्र रूप से उठा। अगर मध्यदेशियो मे शिवाजी या सुभाष बोस जैसा बड़प्पन होता, तो अग्रेजी हटाने और हिंदी चलाने के लिए समय सीमा की बात कभी सोची या

स्वीकारी न जाती। उन्नीस सौ पचास म उन्नीस सौ पैंसठ की सीमा बाधना महान मूर्खता और महान क्षुद्रता थी। जो कोई उस समय के शक्तिशाली राजपुरुष थे, अच्छी तरह देख रहे थे कि समय के प्रवाह से अग्रेजी का मामला सुधरेगा, और हिंदी का बिगडेगा। कसम और सकल्प की लडाई थी। कसम खाते थे हिंदी के लिए और सकल्प रहता था अग्रेजी चलाते रहने के लिए। ऐसी हालत म कसम खाली रस्मी और ऊपरी रह जाती है। सब काम कसम से उलटा होता रहता है। ' समय सीमा बाधने की जरूरत हुई, एक, इसलिए कि हिंदी को समृद्ध बनाना है, दो, इसलिए कि इसे सरदेश की स्वीकृति, प्रचार इत्यादि के जरिए दिलाना है।
असमृद्धता सापेक्ष शब्द है—जर्मन, रूसी अथवा अग्रेजी की तुलना म असमृद्धता। जाहिर है कि किताबो और पारिभाषिक शब्दो की सख्या और व्यापकता से यदि समृद्धता तोली जाती है, तब तो जितने अर्से मे हिंदी कुछ बढेगी, उतने मे अग्रेजी और बढ चुकी होगी। तब इसका कोई अत न होगा। हिंदी के दुश्मन इस तर्क का अनतकाल तक इस्तेमाल करते रहेंगे और हिंदी के दोस्त कोई उत्तर न दे सकेंगे।'
'भापा' डा० राम मनोहर लोहिया, भूमिका, पृ० 9-10।

6 भारतीय सविधान की अष्टम अनुसूची मे उल्लिखित भाषाए—
1 असमिया, 2 उडिया, 3 उर्दू, 4 कन्नड, 5 कश्मीरी, 6 गुजराती, 7 तमिल, 8 तेलगू, 9 पजाबी, 10 बगला, 11 मराठी, 12 मलयालम, 13 सस्कृत, 14 हिंदी।

7 'भारत का सविधान', पृ० 200-205।

8 राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, रजत जयन्ती ग्रथ से साभार उद्धृत।

9 याद रहे कि राजभाषा आयोग के इसी प्रतिवेदन मे सलग्न डा० सुनीति कुमार चटर्जी का वह विमति टिप्पण (नोट आफ डिसेंट) भी था, जिसमे अग्रेजी के सम्मुख हिंदी की अयोग्यता सिद्ध करने का असफल प्रयास किया गया है तथा जो हिंदी विरोधियो के लिए तब स आज तक हिंदी के विरोध मे दिए गए तर्कों के लिए रामायण बना हुआ है। यह दूसरी बात है कि प्रो० देवेंद्रनाथ शर्मा की दृष्टि मे, जो वस्तुत तथ्य अन्वेषणीय हैं,' वह पूरा टिप्पण हेत्वाभासो और विरोधाभासो का पिटारा है।'
विशेष जानकारी के लिए दृष्टव्य 'राष्ट्रभाषा हिंदी समस्याए और समाधान', प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 163-166।
क्रमश
'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा रजत जयती ग्रथ' से साभार उद्धृत।

10 'भापा डा० राम मनाहर लोहिया, पृ० 23।

11 'आधुनिक कवि' (भाग-2) श्री सुमित्रानंदन पंत, पृ० 30।
12 'दिनमान', 14 मई सन् 1967, पृ० 26।
13 द्रष्टव्य : 'दिनमान', 10 दिसंबर, सन् 1667, पृ० 17।
14 'दिनमान', 10 दिसम्बर, सन 1967, पृ० 17।
15 'हिंदी सेना के सैनिक छात्रो के आदोलन को व्यापक जन आदोलन मे बदलने की पूरी कोशिश कर रहे हैं। अब तक जो सकेत मिले हैं उनके आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि भाषा सबधी केंद्रीय नीति के विरोध मे यह आदोलन अगले कुछ दिनो मे बिहार, मध्य-प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली तथा अन्य हिंदी भाषी क्षेत्रो मे फैल जायेगा। लखनऊ के छात्र संगठन ने दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्रो से अपील की है कि वे प्रधानमत्री इदिरा गाधी का घेराव करें और लोक सभा के सामने प्रदर्शन करें।' 'दिनमान' 10 दिसम्बर, सन 1967, पृ० 19।
16 'दिनमान' 10 दिसम्बर, सन 1967, पृ० 17।
17 'दिनमान' 10 दिसम्बर, सन 1967, पृ० 19।
18 'दिनमान' 31 दिसम्बर, सन 1967, पृ० 14।
19 द्रष्टव्य दिनमान, 31 दिसम्बर, सन 1972, पृ० 48।
20 'दिनमान', 3 मार्च, सन 1968, पृ० 41।
21 'दिनमान', 13 जनवरी, सन 1967, पृ० 22।
22 'दिनमान', 18 जून, सन 1967, पृ० 22।
23 'दिनमान', 9 जुलाई, सन 1967, पृ० 20।
24 द्रष्टव्य दिनमान', 3 सितबर, सन 1967, पृ० 21।
25 द्रष्टव्य 'दिनमान', 19 नवबर, सन 1967, पृ० 21।
26 दिनमान', 31 दिसम्बर, सन 1967, पृ० 20।
27 यह नया ध्वज सफेद रग का था और उस पर लालरग मे बडे-बडे अक्षरो मे तमिषकम् (तमिलनाडु) लिखा हुआ था।
28 'दिनमान', 3 मार्च, सन 1968, पृ० 20।
29 दिनमान', 3 मार्च, सन 1968, पृ० 42।
30 इसी बीच द्वितीय विश्व तमिल सम्मेलन के अवसर पर राजागोपालाचार्य ने द्विभाषा फार्मूले की व्याख्या भी कर डाली और कहा कि –
"तमिलनाडु मे इस फार्मूले का अर्थ तमिल और अग्रेजी है, मैसूर मे कन्नड और अग्रेजी, उत्तर प्रदेश मे हिंदी और अग्रेजी, द्विभाषा फार्मूले का अर्थ हिंदी और अग्रेजी कदापि नही है। मेरी योजनाओ मे हिंदी का कोई स्थान नही है।' इस पर टिप्पणी करते हुए दिनमान ने लिखा 'राजागोपालाचारी का यह बयान काफी एकतरफा और तानाशाही रवैये

स्वीकारी न जाती। उन्नीस सौ पचास म उन्नीस सौ पैंसठ की सीमा बाधना महान मूर्खता और महान क्षुद्रता थी। जो कोई उस समय के शक्तिशाली राजपुरुष थे, अच्छी तरह देख रहे थे कि समय के प्रवाह से अंग्रेजी का मामला सुधरेगा, और हिंदी का बिगडेगा। कसम और सकल्प की लडाई थी। कसम खाते थे हिंदी के लिए और सकल्प रहता था अंग्रेजी चलाते रहने के लिए। ऐसी हालत मे कसम खाली रस्मी और ऊपरी रह जाती है। सब काम कसम स उलटा होता रहता है। "समय सीमा बाधने की जरूरत हुई, एक, इसलिए कि हिंदी को समृद्ध बनाना है, दो, इसलिए कि इसे तटदेश की स्वीकृति, प्रचार इत्यादि के जरिए दिलाना है।

असमृद्धता सापेक्ष शब्द है—जर्मन, रूसी अथवा अंग्रेजी की तुलना मे असमृद्धता। जाहिर है कि किताबो और पारिभाषिक शब्दो की सख्या और व्यापकता से यदि समृद्धता तोली जाती है, तब तो जितने अर्से मे हिंदी कुछ बढेगी, उतने म अंग्रेजी और बढ चुकी होगी। तब इसका कोई अत न होगा। हिंदी के दुश्मन इस तर्क का अनतकाल तक इस्तेमाल करते रहेगे और हिंदी के दोस्त कोई उत्तर न दे सकेंगे।'

'भाषा' डा० राम मनोहर लोहिया, भूमिका, पृ० 9-10।

6 भारतीय सविधान की अष्टम अनुसूची म उल्लिखित भाषाए—
1 असमिया, 2 उडिया, 3 उर्दू, 4 कन्नड, 5 कश्मीरी, 6 गुजराती, 7 तमिल, 8 तेलगू, 9 पजाबी, 10 बगला, 11 मराठी, 12 मलयालम, 13 सस्कृत, 14 हिंदी।

7 'भारत का सविधान', पृ० 200-205।

8 राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा रजत जयन्ती ग्रथ से साभार उद्धृत।

9 याद रहे कि राजभाषा आयोग के इसी प्रतिवेदन म सलग्न डा० सुनीति कुमार चटर्जी का वह विमति टिप्पण (नोट आफ डिसेंट) भी था, जिसम अंग्रेजी के सम्मुख हिंदी की अयोग्यता सिद्ध करने का असफल प्रयास किया गया है तथा जो हिंदी विरोधियो के लिए तब से आज तक हिंदी के विरोध मे दिए गए तर्क के लिए रामायण बना हुआ है। यह दूसरी बात है कि प्रो० देवेंद्रनाथ शर्मा की दृष्टि मे, जो वस्तुत तथ्य अन्वेषणीय हैं 'वह पूरा टिप्पण हेत्वाभासो और विरोधाभासो का पिटारा है।'
विशेष जानकारी के लिए दृष्टव्य 'राष्ट्रभाषा हिंदी समस्याए और समाधान', प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 163-166।
क्रमश
'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा रजत जयती ग्रथ' मे साभार उद्धृत।

10 'भाषा' डा० राम मनोहर लोहिया, पृ० 23।

11 'आधुनिक कवि' (भाग-2) - श्री सुमित्रानंदन पंत, पृ० 30।
12 'दिनमान', 14 मई सन् 1967, पृ० 26।
13 द्रष्टव्य . 'दिनमान', 10 दिसम्बर, सन् 1667, पृ० 17।
14 'दिनमान', 10 दिसम्बर, सन 1967, पृ० 17।
15 'हिंदी सेना के सैनिक छात्रों के आंदोलन को व्यापक जन आंदोलन में बदलने की पूरी कोशिश कर रहे हैं। अब तक जो संकेत मिले हैं उनके आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि भाषा संबंधी केंद्रीय नीति के विरोध में यह आंदोलन अगले कुछ दिनों में बिहार, मध्य-प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली तथा अन्य हिंदी भाषी क्षेत्रों में फैल जायेगा। लखनऊ के छात्र संगठन ने दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्रों से अपील की है कि वे प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी का घेराव करें और लोक सभा के सामने प्रदर्शन करें।' 'दिनमान' 10 दिसम्बर, सन 1967, पृ० 19।
16 'दिनमान' 10 दिसम्बर, सन 1967, पृ० 17।
17 'दिनमान' 10 दिसम्बर, सन 1967, पृ० 19।
18 'दिनमान' 31 दिसम्बर, सन 1967, पृ० 14।
19 द्रष्टव्य दिनमान, 31 दिसम्बर, सन 1972, पृ० 48।
20 'दिनमान', 3 मार्च, सन 1968, पृ० 41।
21 'दिनमान', 13 जनवरी, सन 1967, पृ० 22।
22 'दिनमान', 18 जून, सन 1967, पृ० 22।
23 दिनमान', 9 जुलाई, सन 1967, पृ० 20।
24 द्रष्टव्य दिनमान', 3 सितंबर, सन 1967, पृ० 21।
25 द्रष्टव्य . 'दिनमान', 19 नवंबर, सन 1967, पृ० 21।
26 दिनमान', 31 दिसम्बर, सन 1967, पृ० 20।
27 यह नया ध्वज सफेद रंग का था और उस पर लालरंग में बड़े-बड़े अक्षरों में तमिषकम् (तमिलनाडु) लिखा हुआ था।
28 'दिनमान', 3 मार्च, सन 1968, पृ० 20।
29 दिनमान , 3 मार्च, सन 1968, पृ० 42।
30 इसी बीच द्वितीय विश्व तमिल सम्मेलन के अवसर पर राजागोपालाचार्य ने द्विभाषा फार्मूले की व्याख्या भी कर डाली और कहा कि—
'तमिलनाडु में इस फार्मूले का अर्थ तमिल और अंग्रेजी है, मैसूर में कन्नड और अंग्रेजी, उत्तर प्रदेश में हिंदी और अंग्रेजी, द्विभाषा फार्मूले का अर्थ हिंदी और अंग्रेजी कदापि नहीं है। मेरी योजनाओं में हिंदी का कोई स्थान नहीं है।' इस पर टिप्पणी करते हुए दिनमान ने लिखा 'राजागोपालाचारी का यह बयान काफी एकतरफा और तानाशाही तरीके

वाला है। मद्रास वालों के इस रवैये से केवल भारतवासी ही नहीं, बल्कि कुछ विदेशी भी काफी परेशान हैं।',
'दिनमान', 14 जनवरी, सन 1968, पृ० 20।

31 द्रष्टव्य
'दिनमान', 10 मार्च, सन 1968, पृ० 20।

32 'दिनमान', 7 जनवरी, सन 1968, पृ० 3।

33 'दिनमान', 7 मई, सन, 1967, पृ० 14-15।

संदर्भ-ग्रंथ सूची

हिंदी

1 अपभ्रंश काव्यपरंपरा और विद्यापति—डा० अंबादत्त पंत, प्रथम संस्करण, संवत 2026।

2 अपभ्रंश भाषा का अध्ययन—डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव, संस्करण सन् 1965

3 आत्मकथा—महात्मा गांधी, नवमी बार, सन् 1948

4 आधुनिक कवि (भाग 2)—श्री सुमित्रानन्दन पंत, ग्यारहवीं आवृत्ति, सन् 1964

5 आधुनिक हिंदी साहित्य—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रथम संस्करण, सन् 1954

6 आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका—डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, प्रथम संस्करण, सन् 1952

7 आर्य समाज का इतिहास—इन्द्र विद्यावाचस्पति, प्रथम संस्करण, सन् 1957

8 इतिहास तिमिर नाशक (भाग एक)—राजा शिवप्रसाद, संस्करण, सन् 1883

9 कचहरी की भाषा और लिपि—आचार्य चंद्रबली पांडेय, प्रथम संस्करण, संवत 2000

10 कामायनी—जयशंकर प्रसाद, त्रयोदश आवृत्ति, संवत 2024

11 केशव ग्रंथावली (खण्ड 1)—सं० प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, संस्करण

सन् 1954
12 खडी बोली का आदोलन—डा० शितिकठ मिश्र, प्रथम सस्करण, सन् 2013
13 खडी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास—ब्रजरत्न दास, द्वितीय सस्करण, सबत 2009।
14 गगा प्रसाद अभिनदन ग्रथ—प्रेमचद्र शर्मा, उत्तर प्रदेश, प्रथम सस्करण, सन् 1959
15 गाधी-वाणी—रामनाथ 'सुमन', चौथी बार, सन् 1952
16 गुजरात के हिंदी गौरव ग्रथ—डा० अबाशकर नागर, सस्करण सन् 1965।
17 गोविंद दास सेठ अभिनदन ग्रथ—गोविंददास जयती समारोह समिति, नई दिल्ली
18 दक्खिनी हिंदी—डा० बाबूराम सक्सेना, प्रथम सस्करण, सन् 1952
19 दक्षिण भारत के हिंदी प्रचार—आदोलन का समीक्षात्मक इतिहास—पी० के० केशवन नायर, प्रथम सस्करण सन् 1963
20 नाथ सप्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, द्वितीय सस्करण, सन् 1966
21. नारायण अभिनदन ग्रथ—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, सस्करण सन् 1945
22 फोर्ट विलियम कालेज—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, सकरण, सवत 2004
23 बगला पर हिंदी का प्रभाव—डा० ब्रह्मानद, प्रथम, सस्करण, सन् 1962
24 बिहार मे हिंदुस्तानी—आचार्य चद्रावली पाडेय, प्रथम सस्करण, सवत 1996
25 बुद्धकालीन भारतीय भूगोल—डा० भरत सिंह उपाध्याय, प्रथम सस्करण, स० 2018
26 भारत का भाषा सर्वेक्षण—जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, प्रथम सस्करण, सन् 1959
27. भारत का राष्ट्रीय आदोलन और सविधान—सत्यकेतु विद्यालकार, प्रथम सस्करण, सन् 1958
28 भारत का सविधान—भारत सरकार प्रेस
29 भारत की भाषाए और भाषा सबधी समस्याए—डा० सुनीति कुमार चटर्जी, द्वितीय सस्करण, सन् 1957

30 भारत की राष्ट्रीय सस्कृति—डा० आबिद हुसन, प्रथम आवृत्ति, सवत् 2015
31 भारत मे मुगल साम्राज्य—डा० एस० आर० शर्मा, प्रथम सस्करण
32 भारतीय आर्य भाषाओ का इतिहास—श्री जगदीश प्रसाद कौशिक, सस्करण सन् 1969
33 भारतीय आर्यभाषा और हिंदी—डा० सुनीति कुमार चर्जी, तृतीय सस्करण सन् 1963
34 भारतीय इतिहास का उन्मीलन—जयचद्र विद्यालकार, पाचवा सस्करण, सन् 1956।
35 भारतीय नेताओ की हिंदी सेवा—डा० ज्ञानवती दरबार, प्रथम सस्करण सन् 1961
36 भारतीय शिक्षा का इतिहास—पी० वी० जौहरी, पी० डी० पाठक, द्वितीय सस्करण सन् 1962
37 भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास—सत्यकेतु विद्यालकार, प्रथम सस्करण सन् 1953
38 भारतीय स्वाधीनता सग्राम का इतिहास—इद्रविद्या वाचस्पति, सस्करण सन् 1960
39 भारतेन्दु ग्रथावली (द्वितीय भाग)—स० व्रजरत्न दास, सस्करण सन् 1931
40 भारतेन्दु हरिश्चद्र—डा० राम विलास शर्मा, द्वितीय सस्करण, सन् 1966
41 भाषा—डा० राममनोहर लोहिया, प्रथम सस्करण, सन् 1965
42 भाषा और समाज—डा० रामविलास शर्मा, पहला सस्करण, सन् 1961
43 भाषा—रहस्य (प्र० भा०)—डा० श्यामसुन्दर दास, और श्री पद्म-नारायण आचार्य, तृतीय सस्करण, सवत 2013
44 भाषा विज्ञान—डा० भोलानाथ तिवारी प्रथम सस्करण, सन् 1965
45 भाषा विज्ञान—डा० श्यामसुन्दर दास, सप्तम सस्करण, सवत 2009
46 भाषा विज्ञान की भूमिका—प्रो० देवेद्रनाथ शर्मा, प्रथम सस्करण, सन् 1966
47. भाषा विज्ञान के सिद्धान्त—स० डा० रामेश्वरदयाल अग्रवाल, प्रथम सस्करण सन् 1969
48 भाषा विज्ञान पर भाषण—एफ० मैक्समूलर के० एम०, अनुवादक—डा० हेमचद्र जोशी, प्रथम सस्करण, सन् 1964

49 भाषा शास्त्र की रूपरेखा—डा० उदय नारायण तिवारी, प्रथम संस्करण, सं० 2020
50 भूगोल हस्तामलक—राजा शिवप्रसाद, संकरण, सन् 1859
51. मध्यदेश और उसकी संस्कृति—डा० धीरेन्द्र वर्मा, संस्करण, सन् 1954
52 मराठों का नवीन इतिहास (प्रथम खण्ड)—गोविंद सखाराम सर देसाई, द्वितीय संस्करण, सन् 1963
53 महावग्गपालि—सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, संस्करण, सन् 1956
54 मुगलकालीन भारत—डा० ए० एल० श्रीवास्तव, प्रथम संस्करण, सन् 1953
55 मुंशी अभिनंदन ग्रंथ—राजकमल—प्रकाशन दिल्ली, सन् 1957
56 मेरे समकालीन—महात्मा गांधी, प्रथम संस्करण सन् 1951
57 मैं इनका ऋणी हूं—इन्द्र विद्यावाचस्पति, प्रथम संस्करण, सन् 1957
58 रजत जयंती ग्रंथ—बम्बई हिंदी विद्यापीठ, प्रथम संस्करण, सन् 1963
59 रजत जयंती ग्रंथ—राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, प्रथम संस्करण, सन् 1962
60 राजर्षि (पुरुषोत्तमदास टंडन) अभिनंदन ग्रंथ, हिंदी साहित्य संमेलन, दिल्ली, सन् 1960
61 राजस्थानी भाषा—डा० सुनीति कुमार चटर्जी, संस्करण सन् 1949
62 राष्ट्रभारती (हिंदी का मिशन)—काका साहब कालेलकर, प्रथम संस्करण, 1967
63 राष्ट्रभाषा आंदोलन और गांधी जी—डा० रामधारी सिंह 'दिनकर' संस्करण सन् 1968
64 राष्ट्रभाषा का इतिहास—पं० किशोरीदास वाजपेयी, प्रथम संस्करण, सं० 2007
65 राष्ट्रभाषा का सवाल—पं० जवाहरलाल नेहरू, प्रथम संस्करण सन् 1949
66 राष्ट्रभाषा की समस्यायें—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, द्वितीय संस्करण, 1962
67 राष्ट्रभाषा की समस्या—डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, सन् 1965
68. राष्ट्रभाषा पर विचार—आचार्य चंद्रबली पांडेय, परिवर्द्धित संस्करण, सं० 2008

69 राष्ट्रभाषा—हिंदी—स० क्षेमेन्द्र सुमन,' प्रथम सस्करण, सन् 1948

70 राष्ट्रभाषा हिंदी समस्याए और समाधान—प्रो० देवेन्द्र नाथ शर्मा प्रथम सस्करण, सन् 1965

71 राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी—महात्मा गाधी, चौथी बार, सन् 1956

72 विनय पिटक—अनुवादक महापडित राहुल साकृत्यायन, प्रथम सस्करण, 1935

73 विनोबास्तवन—प० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', प्रथम सस्करण, सवत 2010

74 शिक्षा का माध्यम—महात्मा गाधी, प्रथम सस्करण, सन् 1954

75 शांति यात्रा—विनोबा भावे, द्वितीय सस्करण, सन् 1955

76 सक्षिप्त काग्रेस का इतिहास—डा० बी० पट्टाभिसीतारामय्या, प्रथम सस्करण सन् 1958

77 सत्यार्थ प्रकाश—स्वामी दयानद सरस्वती, उन्नीसवीं, बार, सवत 2003

78 सपूर्ण गाधी वाड्मय—महात्मा गाधी, प्रथम सस्करण, सन् 1958

79. सामान्य भाषा विज्ञान—डा० बाबू राम सक्सेना, प्रथम सस्करण, स० 2023

80 साहित्य, शिक्षा और सस्कृति—डा० राजेन्द्र प्रसाद, प्रथम सस्करण, सन् 1952

81 सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य—डा० शिव प्रसाद सिंह, द्वितीय सस्करण, सन् 1964

82 स्मृतिकण—सेठ गोविंद दास, सस्करण सन् 1959

83 स्वतत्रता पूर्व हिंदी के सघर्ष का इतिहास—राम गोपाल, प्रथम सस्करण

84 स्वयबोध उर्दू—राजा शिवप्रसाद, सस्करण, सन् 1861

85 हमारा सवैधानिक इतिहास तथा राष्ट्रीय आदोलन—पी० एन० आनद, एस० एम० वशिष्ठ, प्रथम सस्करण, सन् 1966

86 हिंदी आदोलन—डा० लक्ष्मीकांत वर्मा, प्रथम सस्करण, सन् 1964

87 हिंदी उद्भव, विकास और रूप—डा० हरदेव बाहरी, द्वितीय सस्करण, 1969

88 हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी—प० पद्मसिंह शर्मा, तृतीय सस्करण, 1951

89 हिंदी का गद्य साहित्य,—डा० रामचद्र तिवारी, द्वितीय सस्करण सन् 1968

90 हिंदी का व्यावहारिक रूप—डा० विनयमोहन शर्मा, संस्करण सन् 1968
91 हिंदी की गद्य शैली का विकास—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, परिवर्द्धित संस्करण संवत् 2012
92 हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग—डा० नामवर सिंह, चतुर्थ संस्करण, 1965
93 हिंदी को मराठी संतों की देन—डा० विनय मोहन शर्मा, प्रथम संस्करण, 1957
94 हिंदी गद्य के युग निर्माता—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा द्वितीय संस्करण, 1958
95 हिंदी पर फारसी का प्रभाव—प० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, द्वितीय संस्करण, संवत् 2006
96 हिंदी भाषा—डा० श्यामसुंदर दास, संस्करण, सन् 1957
97 हिंदी भाषा और लिपि—डा० धीरेन्द्र वर्मा, तेरहवां संस्करण सन 1966
98 हिंदी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन—डा० लक्ष्मी नारायण गुप्त, प्रथम संस्करण, संवत 2018
99 हिंदी भाषा का इतिहास—डा० धीरेन्द्र वर्मा, सप्तम् संस्करण, 1962
100 हिंदी भाषा का उद्गम और विकास—डा० उदय नारायण तिवारी प्रथम संस्करण, संवत् 2012
101 हिंदी भाषा की आधुनिक समस्याएं—डा० सरनाम सिंह शर्मा संस्करण, 1964
102 हिंदी भाषा की उत्पत्ति—आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, संस्करण, 1919
103 हिंदी व्याकरण—राजा शिवप्रसाद, संस्करण, सन् 1875
104 हिंदी-साहित्य (प्रथम खण्ड)—सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा, प्रथम संस्करण 1962
105 हिंदी साहित्य—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, संस्करण, सन् 1952
106 हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, प्रथम संस्करण, सन् 1938
107 हिंदी साहित्य का इतिहास—डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, छठा संस्करण, सन् 1964
108 हिंदी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, तेरहवां संस्करण, संवत् 2008

109 हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास (प्रथम भाग)—स० डा० राजबली पाण्डेय, प्रथम सस्करण, सवत् 2014
110 हिंदी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवदी, आठवी आवृत्ति, सन् 1969

वैदिक एव सस्कृत

1 अथर्ववेद
2 ऐतरेय ब्राह्मण
3 ऋग्वेद
4 छान्दोग्योपनिषद्
5 शतपथ ब्राह्मण
6 अष्टाध्यायी—महर्षि पाणिनि
7 काव्य मीमासा—राजशेखर
8 काव्यादर्श—आचार्य दण्डी
9 नाट्यशास्त्र—आचार्य भरत
10 मनुस्मृति—मनु
11 महाभाष्यम्—आचार्य पतजलि
12 वाक्यपदीयम्—आचार्य भर्तृहरि

अग्रेजी

1 Biographical Studies in Modern Indian Education—H V Hampton, 1947
2 Court Character and Primary Education—Pandit Madan Mohan Malviya, 1897
3 Geography of Eearly Buddhism—Dr Vimal Chandra Laha, 1932
4 Gujrat and its Literatuer—K M Munahi, 1954
5 History of Brajbuli Literature—Dr Sumar Sen, 1935
6 History of Indian Journalism—J Natrajan
7 Indian Nation Buliders—D N Banerjee
8 Linguistic Affairs of India—Ram Gopal, 1966
9 Memorandum Court Character—Saiva Prasad, 1868
10 On the Indo Aryan Vernaculars—G A Grierson

11 Origin and Development of Bengali Language—Dr S K Chatterji, 1926
12 What is Hindi—Dr A Hamid, 1956

पत्र-पत्रिकाएं एवं प्रतिवेदन

1 दिनमान
2 धर्मयुग
3 नागरी प्रचारिणी
4 भारत जीवन
5 राजभाषा
6 वीणा
7 सम्मेलन
8 सरस्वती
9 साहित्य
10 हिंदी नवजीवन
11 हिंदी प्रचारक
12 हिंदू
13 हरिश्चन्द्र मैगजीन और हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका
14 Journal of the Department of Letters of Calcutta University
15 Journal Royal Asiatic Society of Bengal
16 Constituent Assembly Debates, Vol VII
17 Report of the Official Language Commission, 1956